

संक्षिप्त शिक्षा

VOL. 21-1991 No. 6, Vol. 22 No. 1-5

G.K.V. Lib
Hardwar

179505

Stock Verification-2004

Stock Verification-2004

079505

Vol. 21

1991

No. 6

Vol. 22

No. 1-5

(24/C)

18

15/9/11



079505

अग्निशिखा

खिल भारतीय पत्रिका

जनवरी १९९१

विषय-सूची

सन्देश	माताजी	१
'सम्पादकीय' : प्राचीन और अर्वाचीन	अनुबेन	२
दैनन्दिनी		८
काम-वासना पर विजय		११
पृथ्वी पर अतिमानसिक सिद्धि की अभीप्सा		१९
करनेवालों के लिये तपस्या		२१
प्रेम—मानव और दिव्य		२८
सच्चे प्रेम को जानने का एक संकेत		३०
भागवत प्रेम हमेशा उपस्थित रहता है		३१
११ जनवरी, १९५१		३३
अच्छे-से-अच्छा कैसे किया जाये ?		३५
श्रीअरविंद के साथ बातचीत		३७
माताजी द्वारा संकलित रामकृष्ण के वचन		३८
सोसायटी समाचार		
मुखपृष्ठ — "शान्ति का अवतरण" — कलाकार कृष्णलाल		

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२

२४६



उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

सन्देश

The supramental force has the power to transform even the darkest hate in luminous peace.

With my blessings

The Mother

अतिमानसिक शक्ति में अधिक-से-अधिक अंधकारमय घृणा को भी आलोकमय शांति में रूपांतरित करने की शक्ति है।
मेरे आशीर्वाद के साथ

—माताजी

संपादकीय

प्राचीन और अर्वाचीन

[तमिल भाषा के प्राचीनतम साहित्यिक संगठन को, जिसमें तमिल साहित्यकारों की रचनाएं लिखी गयी थीं, 'संघम् साहित्य' कहा जाता है। संघम् समय की काव्यमाला 'पूर्णानुरूप' में पेरुन्चीतीरनार और पेरुनतालैचतनार कवियों ने उस समय के एक राजा, कुमानन की कहानी काव्य में लिखी है। तमिलनाडु के वर्तमान कोयम्बटूर जिले पर उसका राज्य था। उसे 'मुदिरमालै के प्रभु' की उपाधि दी गयी थी। मुदिरमालै अन्नामलय पर्वत-श्रेणी का एक शिखर है।]

एक दिन मुदिरमालै के राजा कुमानन और उनके भाई इलान कुमानन पड़ोसी राजा वेलिमान के आगमन की तैयारी कर रहे थे। वेलिमान के आने का दिन निकट आया और कुमानन ने अपने भाई से कहा, "महाराज वेलिमान किसी भी क्षण राजधानी में प्रवेश करेंगे। तुम जाकर उनको ससम्मान लिवा लाओ। मुझे एक जरूरी काम है।" हतप्रभ इलान कुमानन बोला, "भैया, उनका स्वागत तुम्हें करना चाहिये।" कुमानन मुस्कराये और बोले, "हमारे पुस्तकालय में एक विरल पांडुलिपि आयी है, मैं वह देखने जा रहा हूं। तुम वेलिमान को लेकर सीधे पुस्तकालय ही आ जाना।" यह कहकर कुमानन यह जा, वह जा। इलान कुमानन मन ही मन बौखलाकर बोला, "कवि, ताड़पत्र, पुराने सूखे-गले ग्रंथ—ये हैं मेरे भाई राजा का जगत्।"

पुस्तकालय में महाराज कुमानन नयी पांडुलिपि देख रहे थे। पढ़ते-पढ़ते बोले, "बहुत ही मजेदार है!" पुस्तकालय के अध्यक्ष ने कहा, "और साथ ही यह एकमात्र प्रति है। यह ग्रंथ और किसी के पास नहीं है, वेलिमान के पास भी नहीं। क्या आपको गर्व नहीं हो रहा।" राजा ने तुरंत उत्तर दिया, "नहीं, मुझे शर्म आ रही है। ऐसा अद्भुत ग्रंथ सभी कविता-प्रेमियों के पास होना चाहिये। इसकी नकल कराकर ऐसे सभी लोगों को भेज दो।" दरवाजे पर खड़े वेलिमान ने यह बातचीत सुनी थी। अंदर प्रवेश करके वे बोले, "शाबाश कुमानन!" चौककर

जनवरी १९९१

कुमानन खड़े हो गये और वेलिमान को नमस्कार किया। वेलिमान ने कहा, "मैंने तुम्हें चौंका दिया क्या?" कुमानन ने उत्तर दिया, "चौंकाया कम, आनन्दित अधिक किया। आओ मित्र, हम इस अलभ्य ग्रंथ को देखें।" और दोनों काव्य का रस लेने में मग्न हो गये। वहां खड़ा-खड़ा इलान कुमानन झुंझलाता रहा, "वेलिमान सोचेगा कि यह राज्य तो आलसी, विद्याविलासी लोगों से भरा हुआ है, मैं इनपर आक्रमण कर आसानी से इन्हें जीत लूंगा।" कुछ देर बाद कुमानन ने इलान कुमानन से कहा, "भाई, महाराज वेलिमान को हमारा शस्त्रागार भी दिखा दो।" बड़े उत्साह से वह वेलिमान को शस्त्रागार दिखाता हुआ बोला, "महाराज, हम केवल विद्वान् ही नहीं, वीर भी हैं, देखिये, शिकार में मारे हुए पशुओं के सिर।" वेलिमान बाघ, बबर शेर वगैरह का सिर देखते हुए बोले, "अद्भुत, लेकिन एक सिर बाकी रह गया।" थोड़ी देर रुककर बोले, "मानव मुंड।" वेलिमान की चालाकी इलान कुमानन को उत्तेजित कर गयी, वह बोला, "मेरी चलती तो उसे भी टांग देता, मेरे हाथ तो युद्ध में जाने के लिये खुजला रहे हैं। इलान कुमानन और उसकी सेना का कोई भी सामना नहीं कर सकता।" और इलान कुमानन ने तलवार के झटके से कुमानन की मूर्ति की नाक काट दी। उसी समय कुमानन ने प्रवेश किया, इलान कुमानन ने अपना सिर पीटते हुए कहा, "भैया, यह मैंने क्या किया?" कुमानन हंसकर बोले, "मूर्ति ही तो थी।" फिर आयी सरस्वती पूजा और कुमानन ने कवियों को बुलाकर उन्हें दान देना शुरू किया। उनकी उदारता से वेलिमान प्रभावित हुआ और इलान कुमानन जलने लगा। उसे यह सब बेकार का खर्च लगता था। महाकवि पेरुन्चीतीरनार दरबार में आये तो कुमानन ने उन्हें अपने यहां ही रख लिया। एक दिन राजा ने देखा कि कवि पक्षी के जोड़े को देख रहे हैं। पूछा, "क्या देख रहे हो?" कवि ने उत्तर दिया, "महाराज आप मुझे अच्छी तरह रख रहे हैं, मैं आराम से रह रहा हूं फिर भी दुःखी हूं क्योंकि पत्नी से दूर रहता हूं।" राजा ने उसी समय बहुत-सा धन देकर उनको घर भेजा। इस तरह कुमानन ने जब कवि को पालकी और बहुत-सा धन देकर विदा किया तो इलान कुमानन ने आपत्ति की, कुमानन ने समझाने का प्रयत्न किया, "देखो भाई, हम तुम समाप्त हो जायेंगे किन्तु कवि पेरुन्चीतीरनार की वाणी अमर रहेगी।" इलान कुमानन ने उत्तर दिया, "महाराज इस तरह आप

राजकोष खाली कर देंगे।" कुमानन ने उत्तर दिया, "नहीं भाई, इस तरह हम अपने राष्ट्र की संस्कृति को नहीं सींचेंगे तो वह सूखकर नष्ट हो जायेगी।" इलान कुमानन ने कहा, "मैं राज्य की रक्षा करना चाहता हूँ।" कुमानन बोले, "हम दोनों का लक्ष्य एक है।" इलान कुमानन सिर हिलाकर बोल पड़े, "लेकिन हमारे विचार भिन्न हैं। मैं इस तरह रहना पसंद नहीं करता। आप मुझे मेरे हिस्से का आधा राज्य दे दीजिये।" कुमानन दुःखी स्वर में बोले, "अगर तुम हठ करते हो तो मैं ऐसा ही करूंगा लेकिन मुझे उचित नहीं लगता।" इलान कुमानन ने दृढ़ स्वर में कहा, "इसी में मुझे सुख-शांति दीखती है।"

सारे राज्य में यह समाचार आग की तरह फैल गया। लोग दुकानों पर इसी की चर्चा करने लगे। ग्राम-पंचायत में भी लोग कहते, "कुमानन कितने उदार हैं। अपने भाई को आधा राज्य देने को तैयार हो गये।" खलिहानों में किसान कहते, "कौन-सा भाई कौन-सा हिस्सा लेगा।" दूसरा किसान उत्तर देता, "तू देखना, ज्यादा उपजाऊ प्रदेश इलान कुमानन ले लेगा।" कुमानन के पास आकर उनके मंत्री ने कहा, "महाराज, लोग राज्य के टुकड़े से बड़े परेशान हो रहे हैं।" कुमानन ने उत्तर दिया, "इलान कुमानन जिस हिस्से को मांगेगा मैं दे दूंगा। प्रजा परेशान क्यों हो रही है?"

अंत में राज्य के दो टुकड़े हो ही गये। जिस दिन कुमानन राजधानी छोड़कर अपने नये राज्य की ओर जाने लगे प्रजा उनके पीछे-पीछे जाने लगी। कुमानन ने मुड़कर कहा, "प्रजाजन! राजा आते रहते हैं और चले जाते हैं लेकिन यह तुम्हारी मातृभूमि है। इसे छोड़कर मत जाओ।" उदास होकर लोग घर लौट आये। अपनी नयी राजधानी में कुमानन ने कवियों का, संगीतकारों का सत्कार किया और दूसरी ओर इलान कुमानन ने सेना को कूच करने का हुकुम दिया। कई महीनों बाद मंत्री ने नये राजा से निवेदन किया, "महाराज, सेना का खर्च बढ़ता जा रहा है, कोष खाली हो जायेगा।" इलान कुमानन ने कहा, "प्रजा से कर लेने में सावधानी बरतो, किसी को छूट मत दो।" गरीबों पर मुसीबत आ पड़ी। कर न दे पाते तो उन्हें घर से निकाल दिया जाता, उनका सामान जब्त किया जाता। ऐसे कई गरीब, बेबस प्रजाजन कुमानन के राज्य की ओर बढ़े।

इलान कुमानन अपने मंत्री से चर्चा करने लगे, उन्होंने एक नयी बात सोची,

प्रशिखा

जनवरी १९९१

रह हम
' इलान
, "हम
न हमारे

इससे का
करते हो
न ने दृढ़

पर इसी
ने उदार
किसान

ता, "तू
आकर
हे हैं।"
। प्रजा

छोड़कर
मानन ने

केन यह
घर लौट
सत्कार

म दिया।
का खर्च

"प्रजा से
मीबत आ
बत किया

।

त सोची,

“जो राजा अपना आधा राज्य इतनी आसानी से दे सकता है वह अच्छा राजा नहीं हो सकता। मैं उस आधे हिस्से को भी ले लूंगा।” मंत्री ने बढ़ावा दिया, “हां महाराज, अगर ऐसा हुआ तो हम अन्य राज्य पर हमला कर उसे भी जीत सकते हैं।

एक दिन कुमानन के दरबार में इलान कुमानन का दूत आया युद्ध का संदेश लेकर। कुमानन ने कहा, “युद्ध की क्या जरूरत है? उससे कहो मुझसे आकर मिले।” दूत चला गया। प्रजाजन आये, बोले, “महाराज युद्ध कीजिये, हम आपके साथ हैं।” कुमानन का उत्तर था, “वह मेरा भाई है, राज्य मांगेगा तो दे दूंगा।” और कुछ दिनों में ही कुमानन ने अपना आधा राज्य इलान कुमानन को दे दिया, स्वयं जंगल में जाकर एक कुटिया में निवास करने लगे। अब वे गांव में जाकर भिक्षा मांगकर अपना पेट पालते।

गांव के चौपाल में लोग इलान कुमानन की निन्दा करते, “राजा को हमारा दुःख नहीं लगता, फिर से कर बढ़ा दिये।” और उसी साल अकाल पड़ा। लोग कहते, “हमारे देवी-देवता हमसे नाराज हो गये हैं।” किसी दूसरे ने कहा, “अच्छा राजा ही उन्हें प्रसन्न कर सकता है, चलो हम जाकर कुमानन को बुला लायें।” इस तरह प्रजा में विद्रोह बढ़ता गया। रात के अंधेरे में वे राजा के विरुद्ध पड़्यंत्र रचते। राजा किसी तरह उन्हें दबा देता। इलान कुमानन के एक मंत्री ने उससे कहा, “महाराज, सच्चा खतरा तो है कहीं और, और उसका नाम है कुमानन।”

तीसरे दिन राज्य में ढिंढोरा पिट गया, “सुनो, सब प्रजाजन सुनो, जो भी कुमानन का सिर लेकर आयेगा उसको एक हजार मोहरों का पुरस्कार मिलेगा।” कुछ लोग चिल्लाये, “इलान कुमानन के सिर पर एक हजार शाप हों।” लोग इतने विक्षुब्ध हो गये कि वे कुमानन के पास गये। उनको ढिंढोरे की बात भी सुनायी। कुमानन हंसकर बोले, “ओह! मेरे सिर के लिये एक हजार मोहरें! कुछ ज्यादा ही मंहगा बना दिया।” जब लोगों ने लौटने के लिये कहा तो वे बोले, “नहीं, मैं दी हुई चीज वापिस नहीं लेता। मैं नहीं लौटूंगा।” दुःखी मन से प्रजाजन लौट गये।

कई महीनों के बाद कुमानन की झोंपड़ी ढूँढते हुए कवि पेरुन्चीतीरनार अपनी

नयी रचना सुनाने आ पहुंचे। काव्य सुनने के बाद कुमानन ने उदास होकर कहा, “कवि तुम्हारी इतनी सुन्दर काव्य-रचना से प्रसन्नता तो हुई साथ-साथ दुःख भी हुआ। काश ! तुम कुछ महीने पहले आते, मैं तुम्हें उचित पुरस्कार दे पाता।” कवि ने कहा, “महाराज, आपके जैसे रसिक को सुनाकर मुझे जो संतोष होता है वही मेरा पुरस्कार है।” अचानक कुमानन के दिमाग में बिजली कौंधी। एक तलवार खींचकर कवि के हाथ में दी और बोले, “इससे मेरा सिर काट लो और इलान कुमानन को दे दो, वह तुम्हें एक हजार मोहरें देगा।” घबराकर कवि ने कहा, “महाराज, यह आप क्या कह रहे हैं ? मैं ऐसा जबन्य काम कैसे कर सकता हूँ।” कुमानन ने अपना सिर खाट पर रख दिया और बोले, “कोई चोर-लुटेरा मेरी हत्या करके पुरस्कार पाये उससे तो अच्छा है कि तुम ही पुरस्कार पाओ।” कवि ने रहस्यमय ढंग से मुस्कराकर कहा, “अच्छा महाराज, जैसी आपकी मर्जी।”

कुछ क्षण बाद कवि पेरुन्चीतीरनार एक पोटली संभाले झोंपड़ी में से निकले।

इधर इलान कुमानन मंत्रियों से चर्चा कर रहे थे। चारों ओर से आती हुई मुसीबतों से वे काफी हिल गये थे। उन्होंने कहा, “लोग मुझसे नाराज हैं, गालियां देते हैं, कोष खाली हो गया है। सत्यानाश मुंह बाये खड़ा है।” मंत्रियों में से कोई कुछ नहीं बोल पाया। कुछ सोचकर राजा बोले, “मैं और एक ढिंढोरा पिटवाऊंगा, कुमानन को जीवित रहना चाहिये।” इतने में द्वारपाल ने आकर बताया कि कवि पेरुन्चीतीरनार कोई समाचार लेकर आये हैं। महाराज ने उन्हें बुलवाया। कवि ने आते ही कहा, “महाराज, आपकी इच्छा पूर्ण हुई।” यह कहते हुए उन्होंने पोटली खोलकर कुमानन का सिर दिखाया। आश्चर्य और दुःख से महाराज चिल्ला उठे, “नहीं, यह नहीं हो सकता, यह कैसा अंधेरा सूरज है।” फिर क्रोध से उन्मत्त होकर चिल्लाये, “तुम कवि हो ! हत्यारे कहीं के !” कवि ने अनुनय से कहा, “महाराज, आपने ढिंढोरा . . . बीच में राजा दुःख से बोले, “वह तो क्रोध में कहा था, लेकिन तुम . . . तुम कल सवेरे चौक में फांसी पर लटकाये जाओगे।” स्थिर भाव से कवि ने उत्तर दिया, “महाराज, अगर आप सोचते हैं कि एक कवि होते हुए भी मैं किसी का जीवन-दीप बुझा सकता हूँ तो मैं उसे जला भी सकता हूँ।” इलान कुमानन स्तब्ध होकर उन्हें देखते रहे फिर बोले,

“क्या य
सच है
उनके सि
सकू।”
था, मूर्ख
दूसरे
सैनिकों
“महारा
इलान व
कर सक्
क्षमा क
इला
बिठाय
भाइयों
कई
कि हम
आधुनि
महाराज
करे भी
आंतरि
आजक
साम, द
क्या
उदात्तता
मानों ये
नागरिक
गुणों क
सकते

जनवरी १९९१

कहा,
ख भी
ता।"
गोता है
। एक
और
कवि ने
से कर
चोर-
रस्कार
जैसी

कले।
ती हुई
ज हैं,
मंत्रियों
ढेंढेरा
आकर
मे उन्हें
" यह
दुःख
है।"
कवि ने
बोले,
सी पर
आप
तो मैं
बोले,

“क्या यह संभव है ? मैं आपको दुगुना पुरस्कार दूंगा।” कवि मुस्कराये, “यह सच है कुमानन ने मुझे अपना सिर उतारने को कहा था किन्तु मैं कवि हूँ, मैंने उनके सिर की मूर्ति बनवायी ताकि उसे दिखाकर मैं आपकी आत्मा को जगा सकूँ।” इलान कुमानन ने कवि को गले लगाते हुए कहा, “उदात्त कवि, मैं अंधा था, मूर्ख था, आपने मेरी आंखें खोल दीं।”

दूसरे दिन कवि पेरुन्चीतीरनार के साथ इलान कुमानन जंगल की ओर कुछ सैनिकों को लेकर चल पड़े। कुमानन की झोंपड़ी में प्रवेश करते हुए कवि बोले, “महाराज, वचन के अनुसार मैं आपका सिर लेने आया हूँ।” उसी समय दौड़कर इलान कुमानन ने अपने भाई के पांव पकड़ लिये, “भैया, क्या आप मुझे क्षमा कर सकेंगे ? राज्य को आपकी आवश्यकता है, मुझे आपकी आवश्यकता है, क्षमा करिये और मेरे साथ वापिस आइये।”

इलान कुमानन रथ लेकर आये और महाराज कुमानन को सिंहासन पर बिठाया। दूसरे दिन पेरुन्चीतीरनार को मान-सम्मान और पुरस्कार सहित दोनों भाइयों ने घर भेजा।

कई सदियों पहले लिखा हुआ साहित्य और इतिहास पढ़कर ऐसा लगता है कि हमारे पूर्वज हमसे अपनी आत्मा का साक्षात्कार करने में अधिक सफल रहे। आधुनिक भारतीय तितिक्षा, त्याग, बलिदान में विश्वास ही नहीं करता। जिस तरह महाराज कुमानन ने अपने भाई को राज्य दे दिया उस तरह अगर कोई आजकल करे भी तो उसे मूर्ख, गंवार वगैरह शब्दों से संबोधित किया जायेगा। उनकी आंतरिक समृद्धि, विशालता और उदारता का हमारे जगत् में कोई मूल्य न रहा। आजकल बाप-बेटा संपत्ति के लिये लड़ते हैं। नेता एक-दूसरे की टांग खींचते हैं, साम, दाम, दंड, भेद सभी विधाओं से अपनी कुर्सी बनाये रखना चाहते हैं।

क्या हम आधुनिक रहते हुए अपने पूर्वजों के आत्म-विकास, चरित्र की उदात्तता और उदारता नहीं पा सकते ? इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है मानों ये किसी और राष्ट्र की हैं, किसी और प्रजा की हैं। आज के भारतीय नागरिक में उसके महान् पूर्वजों के गुणों का लेशमात्र भी नहीं दीखता। क्या उन गुणों की वापसी असंभव है ? क्या हम अपने पूर्वजों की ऐसी संतान नहीं बन सकते जिन पर वे गर्व कर सकें !

अनुबेन

दैनन्दिनी

जनवरी

१. आध्यात्मिक जीवन, धार्मिक जीवन और सामान्य मानव जीवन (नैतिकता जिसका अंग है) तीनों अलग-अलग चीजें हैं और तुम्हें स्पष्ट पता होना चाहिये कि तुम्हें क्या चाहिये। इन तीनों में घालमेल न करो।
२. सामान्य जीवन साधारण मानव चेतना का जीवन है जो अपनी सच्ची चेतना और भगवान् से अलग रहता है, मन, प्राण और शरीर की सामान्य आदतें इसे राह दिखाती हैं और ये अज्ञान की चीजें हैं।
३. धार्मिक जीवन उस अज्ञानमय मानव चेतना की गतिविधियां हैं जो पृथ्वी से मुड़कर भगवान् की ओर जाना चाहती हैं; लेकिन चूंकि इनमें ज्ञान नहीं होता अतः उनका नेतृत्व करते हैं अज्ञानमय सिद्धान्त, किसी सम्प्रदाय के नियम जो इस पृथ्वी को पार करके परे के आनन्दमय जीवन को पा लेने का दावा करते हैं।
४. धार्मिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जानेवाला पहला मार्ग हो सकता है पर बहुधा वह कर्मकाण्डों, रीति-रिवाजों और बंधे हुए सिद्धान्तों का अभ्यास ही रहता है।
५. आध्यात्मिक जीवन सीधा चेतना के परिवर्तन से, सामान्य चेतना से जो अज्ञानमय होती है, आत्मा और भगवान् से पृथक् होती है उससे चलकर महत्तर चेतना की ओर चलता है जिसमें आदमी अपनी सत्य आत्मा को पाता है, सीधा भगवान् के साथ संपर्क और फिर ऐक्य पाता है।
६. आध्यात्मिक साधक के लिये यह चेतना का परिवर्तन ही एकमात्र चीज है जिसे वह खोजता है। इसके सिवा और किसी चीज का मूल्य नहीं।
७. नैतिकता सामान्य जीवन का अंग है। यह बाहरी व्यवहार पर कुछ मानसिक नियमों द्वारा नियंत्रण करने का प्रयास है।
८. आध्यात्मिक जीवन मन के परे जाता है, वह आत्मा की चेतना में

जनवरी

१. राज
१०. अ
- भ
- के
११. व
- हो
१२. अ
- तु
- लि
१३. स
- वृ
१४. अ
- ज
१५. मे
- वि
- हु
१६. अ
- ह
- के
१७. अ
- क
- स
१८. अ
१९. म
- र
- क
२०. प

जनवरी १९९१

प्रवेश करता है और आत्मा के सत्य में से कार्य करता है।

९. राजनीति का आध्यात्मिक जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है।
१०. अगर आध्यात्मिक व्यक्ति अपने देश के लिये कुछ करता है तो वह भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिये, किसी मानव इच्छा या प्रयोजन के लिये नहीं।
११. वह अपने किसी भी कार्य में सामान्य मानसिक उद्देश्य से प्रेरित नहीं होता।
१२. अगर तुम्हारे अंदर आध्यात्मिक परिवर्तन के लिये सच्ची अभीप्सा है तो तुम्हें मार्ग और पथ-प्रदर्शक मिल जायेगा। आत्मा के द्वार खोलने के लिये केवल खोज और प्रश्न काफी नहीं हैं।
१३. स्पष्ट है कि भगवान् से कुछ चीजें पाने के लिये उन्हें खोजना उचित वृत्ति नहीं है।
१४. अगर चीजें पाने के लिये भगवान् को खोजने का निषेध कर दिया जाये तो जगत् के अधिकतर लोग कभी उनकी ओर न मुड़ेंगे।
१५. मेरा ख्याल है कि ऐसी मांगें करने की स्वीकृति इसलिये दी जाती है कि मनुष्य शुरू तो कर सके, अगर उसमें श्रद्धा होगी तो वह मांगी हुई चीज पा जायेगा।
१६. और फिर एक दिन अचानक उसे यह ख्याल आ जाये कि इस तरह हमेशा मांगते रहना ही जीवन नहीं है और इससे ज्यादा अच्छे कारणों के लिये भी भगवान् की ओर मुड़ा जा सकता है।
१७. अगर मनुष्य को मांगी हुई चीज न मिले और फिर भी वह भगवान् की ओर चले और उन पर श्रद्धा रखे तो इसका अर्थ है कि वह सचमुच तैयार हो रहा है।
१८. आध्यात्मिक जीवन का नियम है—दिये जाओ, मांगो मत।
१९. मनुष्य दिव्य शक्ति की इसलिये मांग कर सकता है कि वह उसे स्वस्थ रखे और उसके शरीर को आध्यात्मिक जीवन के योग्य और भागवत कार्य के यंत्र बनने के योग्य बना सके।
२०. परिवार, समाज और देश ज्यादा बड़े अहंकार हैं, वे भगवान् नहीं हैं।

२१. सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम अपने-आप कौन-सा उद्देश्य रखते हो। अगर तुम्हारे आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये अज्ञान के साधारण जीवन को त्यागना जरूरी है तो यह करना होगा।
२२. यहां जिस योग का अभ्यास किया जाता है उसके लिये उच्चतर चेतना में उठना जरूरी है, सामान्य प्रयोजनों के लिये नहीं बल्कि उच्चतर चेतना के लिये ही जीना इसका उद्देश्य है।
२३. अगर तुम्हारा आध्यात्मिक उद्देश्य है और प्राण उसे स्वीकार करता है तो तुम अंदर से शक्ति पाते हो और तब तामसिक होने की कोई संभावना नहीं रहती।
२४. अगर साधक अपने-आपको अंदर की गहराइयों से दे और पूरी तरह लगा रहे तभी वह सफल हो सकता है।
२५. साधक का उद्देश्य दिव्य चेतना में रहना और उसे जीवन में अभिव्यक्त करना होना चाहिये।
२६. योग का सच्चा लक्ष्य परोपकार नहीं, भगवान् को पाना है, भागवत चेतना में प्रवेश करना और अपनी सच्ची चेतना को भगवान् के अंदर पाना है।
२७. योग भगवान् की ओर अभिमुख है, मनुष्य की ओर नहीं। साधना का उद्देश्य दिव्य चेतना में रहना और उसे जीवन में अभिव्यक्त करना है।
२८. मानवजाति से प्रगति करवाने का सबसे अच्छा तरीका है अपने-आप आगे बढ़ना। यह अहंकारभरी या व्यष्टिगत बात नहीं, सत्य है।
२९. हर आदमी के अंदर ऐसे भाग होते हैं जो आगे नहीं बढ़ते, कौन है जो विभक्त नहीं है? सबसे अच्छी बात यह है कि आत्मा पर विश्वास रखो जो भगवान् की चिंगारी है, उसे तबतक बढ़ाते जाओ जबतक वह ज्वाला न बन जाये।
३०. कटु हुए बिना देखो कि जगत् क्या है, कटुता अपने ही अहंकार और निष्फल आशाओं से आती है।
३१. अगर तुम भगवान् की विजय चाहते हो तो पहले उसे अपने अंदर प्राप्त करो।



होकर उ
सत्य-चे
प्राणिक
सकता।
निम्नतर
भगवान्
अतिमान
के अव
यदि यह
सेक्स
एकदम
शारीरि
एकदम
भगवान्
उच्चतर
सेक
पाने के
ऊपर व
शक्ति
भयानक
किसी
जाये।
होगा

काम-वासना पर विजय



इस योग का पूर्ण सिद्धांत है अपने-आपको पूरी तरह केवल भगवान् के अर्पित करना, किसी और व्यक्ति या किसी और चीज के नहीं और साथ ही दिव्य मातृ-शक्ति के साथ एक होकर अपने अंदर समस्त परात्पर ज्योति, शक्ति, विस्तार, शांति, शुद्धि, सत्य-चेतना और अतिमानसिक भगवान् का आनंद लाना। अतः इस योग में प्राणिक संबंधों या औरों के साथ आदान-प्रदान के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। इस तरह का कोई भी संबंध या आदान-प्रदान अंतरात्मा को निम्नतर चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृति के साथ बांध देता है और भगवान् के साथ सच्चे और पूर्ण ऐक्य को रोकता और साथ ही अतिमानसिक सत्य-चेतना की ओर आरोहण और अतिमानसिक ईश्वरी शक्ति के अवरोहण दोनों के मार्ग में बाधा देता है। और भी ज्यादा खराब होगा यदि यह आदान-प्रदान, भले बाहरी क्रिया से बचा रहे, सेक्स के संबंध या सेक्स के भोग-विलास का रूप ले ले; अतः ये चीजें साधना-मार्ग में एकदम निषिद्ध हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि इस प्रकार की किसी शारीरिक क्रिया की अनुमति नहीं दी जाती, किसी सूक्ष्मतर रूप का भी एकदम निषेध है। अतिमानसिक भगवान् के साथ एक होने के बाद ही हम भगवान् के अंदर औरों के साथ अपना सच्चा संबंध जान सकते हैं। उस उच्चतर ऐक्य में यह भद्दी प्राणिक गति कभी साथ नहीं जा सकती।

सेक्स आवेग पर अधिकार करने के लिये—सेक्स केंद्र पर इतना प्रभुत्व पाने के लिये कि वीर्य बाहर की ओर फेंका और व्यर्थ न किया जाये बल्कि ऊपर की ओर उठे, तो उसे रेतस् में से ओजस में, ऐसी प्राथमिक भौतिक शक्ति में बदला जा सकता है जो अन्य सबको सहारा दे। लेकिन इससे भयानक भूल और कोई नहीं हो सकती कि सेक्स की कामना और उसकी किसी तरह की सूक्ष्म तुष्टि के घालमेल को साधना का अंग समझ लिया जाये। यह सीधे आध्यात्मिक पतन की ओर सबसे अधिक प्रभावकारी मार्ग होगा जो वातावरण में ऐसी शक्तियां फैलायेगा जो अतिमानसिक अवतरण

का मार्ग रोकेंगी और उसकी जगह विरोधी प्राणिक शक्तियों के अवतरण को लायेंगी जो गड़बड़ और मुसीबत फैलाये। अगर यह विचलन आने लगे—यदि सत्य को नीचे उतारना और भागवत कार्य करना है—तो उसे निश्चित रूप से निकाल फेंकना और चेतना से अलग कर देना चाहिये।

यह कल्पना करना भी भूल है कि यद्यपि सेक्स की भौतिक क्रिया को तो अस्वीकार करना चाहिये परंतु उसका भीतरी प्रतिरूप सेक्स-केंद्र के रूपांतर का एक भाग है। प्रकृति में पाशविक सेक्स-ऊर्जा की क्रिया अज्ञान में भौतिक सृजन की व्यवस्था के एक विशेष प्रयोजन के लिये एक साधन है। लेकिन उसके साथ जो प्राणिक उत्तेजना आती है वह उन प्राणिक शक्तियों और सत्ताओं की बाढ़ के लिये अत्यंत उपयोगी और अनुकूल वातावरण बना देती है जिनका सारा काम ही है अतिमानसिक ज्योति के अवतरण को रोकना। उसके साथ संलग्न सुख दिव्य आनंद का एक सच्चा रूप नहीं, उसकी अवनति है। भौतिक में सच्चे आनंद का गुण, उसकी गतिविधि और उसका पदार्थ बिल्कुल भिन्न है, अपने सार-तत्त्व में वह स्वयंभू होता है, उसकी अभिव्यक्ति केवल भगवान् के साथ आंतरिक ऐक्य पर होती है। तुमने दिव्य प्रेम के बारे में पूछा है; जब दिव्य प्रेम भौतिक का स्पर्श करता है तो वह स्थूल, निम्न प्राणिक प्रवृत्तियों को नहीं जगाता। उनमें रस लेना तो उसे पीछे हटा देगा और उसे उन शिखरों की ओर वापिस भेज देगा जहां से उसे जड़ भौतिक सृष्टि की स्थूलता में उतारना बहुत मुश्किल है और जिसे केवल वही रूपांतरित कर सकता है। दिव्य प्रेम को केवल उसी द्वार से खोजो जिसमें से होकर आना वह स्वीकार करेगा, वह है चैत्य सत्ता का द्वार और निम्नतर प्राणिक भ्रांति को उठा फेंको।

*



तुम जिस विरोधी मत की बात कर रहे हो वह इस विचार के कारण हो सकता है कि सेक्स भी मानव प्राणिक-भौतिक समग्र का एक भाग है और भूख और नींद की तरह जरूरी है और उसको पूरी तरह निरुद्ध करने से असंतुलन और गंभीर अव्यवस्था आ

सकती है
जाये ले
गड़बड़ ह
करता है,
तभी हो
कामकेलि
क्रिया ज
हो—मुझे
आध्यात्मि
के भी ब
आत्म-सं
कामकेलि
शरीर की
ब्रह्मचर्य
में परिव
ताकि वे
अब
नहीं हो
काम-वा
मानती है
नहीं कर
एक गति
होता, कु
तरह उस
देती। य
भी नहीं
चीज इ
जब सेव

जनवरी १९९१

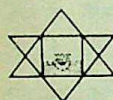
सकती है। यह तथ्य है कि अगर सेक्स की बाहरी क्रिया को तो दबाया जाये लेकिन और तरीकों से उसे भोगा जाये तो शरीर और मस्तिष्क में गड़बड़ हो सकती है। डाक्टरी सिद्धांत जो काम-वासना के संयम का विरोध करता है, उसकी जड़ में यही बात है। लेकिन मैंने देखा है कि यह गड़बड़ तभी होती है जब या तो गुप्त या विकृत रूप से भोग-विलास सामान्य कामकेलिल का स्थान ले लें या उसमें कल्पना के द्वारा सूक्ष्म प्राणिक भोग किया जाये या गुह्य प्रकार का अदृश्य प्राणिक आदान-प्रदान चलता हो—मुझे नहीं लगता कि जब संयम और आत्म-नियंत्रण के लिये सच्चा आध्यात्मिक प्रयास किया जाये तो कोई नुकसान हो सकता है। अब यूरोप के भी बहुत से डॉक्टर यह मानने लगे हैं कि अगर काम-वासना पर सच्चा आत्म-संयम हो तो वह लाभदायक ही होता है। क्योंकि तब रेतस् तत्व जो कामकेलिल में काम आता है अपने उस दूसरे तत्व में बदल जाता है जो शरीर की मानसिक, प्राणिक और शारीरिक ऊर्जाओं को पुष्ट करता है। इससे ब्रह्मचर्य के भारतीय विचार का औचित्य सिद्ध होता है, जो रेतस् के ओजस में परिवर्तन की और उसकी ऊर्जाओं को ऊपर उठाने की बात करता है, ताकि वे आध्यात्मिक शक्तियों में बदल जायें।

अब आयी बात संयम की विधि की, यह केवल भौतिक परहेज से ही नहीं हो सकता। वह सम्मिलित अनासक्ति और त्याग से आता है। चेतना काम-वासना से अलग खड़ी होती है, वह उसे अपनी नहीं, परायी चीज मानती है जिसे प्रकृति-शक्ति ने उसकी ओर फेंका है और जिसे वह स्वीकार नहीं करती या जिसके साथ वह तदात्म नहीं करती और हर बार त्याग की एक गति उसे दूर और अधिक दूर फेंक देती है। मन पर उसका प्रभाव नहीं होता, कुछ समय के बाद प्राणिक सत्ता भी, जो उसका मुख्य सहारा है, इसी तरह उससे खिंच जाती है और अंत में भौतिक चेतना भी उसे सहारा नहीं देती। यह प्रक्रिया चलती रहती है, यहांतक कि अवचेतना भी उसे स्वप्न में भी नहीं उठा सकती, यहांतक कि फिर बाहरी प्रकृति-शक्ति में से भी कोई चीज इस घटिया आग को सुलगाने के लिये नहीं आती। यह तब होता है जब सेक्स का झुकाव बड़े आग्रह के साथ होता है लेकिन कुछ ऐसे लोग

भी होते हैं जो इसे बड़ी तेजी से निश्चित रूप से प्रकृति में से निकाल बाहर कर सकते हैं, लेकिन ऐसे उदाहरण विरल ही होते हैं।

यह कहना होगा कि सेक्स-आवेग को पूरी तरह निकाल बाहर करना साधना की सबसे कठिन चीजों में से है और तुम्हें इस बात के लिये तैयार रहना चाहिये कि इसमें समय लगेगा। लेकिन इसके पूर्ण विलोपन और व्यावहारिक स्वाधीनता को साधा जा चुका है, जिसे केवल कभी-कदास अवचेतन से आनेवाली स्वप्न की क्रिया ही लांघ सकती है। यह काफी सामान्य अनुभव है।

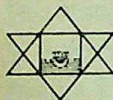
*



जबतक सत्ता पूरे आध्यात्मिक जीवन के लिये तैयार न हो तबतक सामान्य जीवन को त्यागना बहुत सहायक नहीं होता। ऐसा करने का मतलब होता है विभिन्न तत्त्वों के बीच संघर्ष छेड़ देना और उन्हें इस हदतक भड़काना जिसे सहने के लिये प्रकृति तैयार नहीं है। तुम्हें अपने अंदर के प्राणिक तत्त्वों का अनुशासन और जीवन के अनुभव के साथ सामना करना होगा और आध्यात्मिक लक्ष्य को आगे रखते हुए जीवन को कर्मयोग की भावना से उत्तरोत्तर नियंत्रित करने की कोशिश करनी होगी।

इस कारण हमने तुम्हारी शादी के लिये अनुमति दी है।

*



काम-वासना के बारे में—उसे पाप-भरी, भयंकर और साथ-ही-साथ मोहक वस्तु मत मानो बल्कि एक भूल और भ्रांति-भरी निम्नतर प्रकृति की गति समझो। उसे पूरी तरह त्याग दो, उसके साथ संघर्ष करके नहीं बल्कि उससे अपने-आपको दूर हटाकर और उसे अपनी स्वीकृति देने से इंकार करके। उसे अपनी निजी चीज न मानकर

जनवरी

बाहर से
स्वीकृति
करती है
ले। भा
तुम्हारी
यह कर
से जीत



अवसा
जाये।
ज्यादा
कठिनाई
चाहिये
कोई ब
गड़बड़
सत्ता के

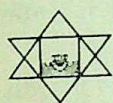


होना च

जनवरी १९९१

बाहर से प्रकृति की शक्ति द्वारा आरोपित चीज मानो। इस आरोपण को स्वीकृति देने से इंकार करो। अगर तुम्हारे प्राण में कोई चीज उसे स्वीकार करती है तो उस चीज से आग्रह करो कि वह अपनी स्वीकृति वापिस ले ले। भागवत शक्ति को बुलाओ कि वह इस अस्वीकृति और निवर्तन में तुम्हारी सहायता करे। अगर तुम शांति के साथ, निश्चय और धीरजपूर्वक यह कर सको तो अंत में तुम्हारा आंतरिक संकल्प बाहरी प्रकृति की आदत से जीत जायेगा।

*



और दूसरी बात के बारे में, सही वृत्ति यह है कि न तो सदा कामुक दुर्बलता के बारे में चिंता करते रहो और उसके महत्त्व से अभिभूत रहो, जिसके कारण सदा संघर्ष चलता रहे और अवसाद बना रहे, और न ही लापरवाह बनो जिससे कि वह बढ़ता चला जाये। और चीजों की अपेक्षा इससे पूरी तरह पिंड छुड़ाना शायद सबसे ज्यादा कठिन है। तुम्हें शांत-स्थिर भाव से उसके महत्त्व और उसकी कठिनाई को जानना और शांत-स्थिर भाव से ही उसपर नियंत्रण करते जाना चाहिये। अगर कुछ हल्की भी प्रतिक्रियाएं बनी रहें तो इससे चिंतित होने की कोई बात नहीं है लेकिन उसे इतना न बढ़ने दो कि वह तुम्हारी साधना में गड़बड़ करे या इतनी मजबूत हो जाये कि मानसिक और उच्चतर प्राणिक सत्ता के नियंत्रण से बाहर हो जाये।

*



संपर्क छोड़ देने से सेक्स घट कर दो रूपों में आ सकता है—स्वप्न और कल्पना। स्वप्न का कोई महत्त्व नहीं है जबतक कि वह जाग्रत मन पर प्रभाव न डालने पाये, जो बिल्कुल नहीं होना चाहिये; और उसे हतोत्साह किया जा सकता है। अगर उसे पोषण न

दिया जाये तो अंत में वह अपने-आप कुम्हला जाता है। कल्पना से केवल संकल्प की तपस्या द्वारा पिंड छुड़ाया जा सकता है, उन्हें अपना मार्ग पूरा न करने दिया जाये बल्कि शुरू में ही काट दिया जाये। सोकर उठने के बाद तमस् में बिस्तर पर पड़े रहते समय ये क्रियाएं ज्यादा आसानी से आती हैं। तुम्हें उन्हें या तो तमस् को झकझोर कर या मन को खाली करके फिर से सो जाने के द्वारा दूर करना होगा। अन्य समय में तुम मन को किसी और दिशा में मोड़कर इसे बंद कर सकते हो।

*



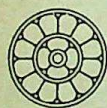
निष्क्रियता ऐसा वातावरण है जिसमें सेक्स आसानी से उभरता है।

*



सत्ता के पदार्थ में शुद्धि की शक्ति होती है, नैतिकता की शुद्धि नहीं बल्कि आत्मा की तात्त्विक शुद्धि। जब वह आ जाती है तब सेक्स की लहरें पास नहीं फटक सकतीं या तुम्हारे अंदर आवेग पैदा किये बिना, तुम्हें कहीं छुए बिना ही निकल जाती हैं।

*



उदाहरण के लिये, एक बहुत ही ठोस चीज जो इस समस्या को बाहर, स्पष्ट रूप से प्रकट करती है : मानवजाति में सेक्स का आवेश होता है जो पूरी तरह स्वाभाविक और सहज, यह भी कहा जा सकता है कि उचित होता है। यह आवेश स्वभावतः सहज रूप से मनुष्य की पाशविकता के साथ-साथ गायब हो जायेगा, (और कई चीजें भी गायब हो जायेंगी उदाहरण के लिये, खाने की आवश्यकता या जिस

तरह ह
मानवजा
बहुत ब
निश्चित
रहने क
आवश्य
संबंध
लेगी।
निषेध
लिये ह
नहीं है
संघर्ष
बंद क
संक्रमण
अस्थिर
एक उ
प्रयास
हो। ते
इस सं
य
कि वे
के
जब त
के वि
से इन्
य

जनवरी १९९१

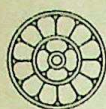
तरह हम अभी सोते हैं उस तरह सोने की आवश्यकता) लेकिन श्रेष्ठतर मानवजाति में जो सबसे अधिक सचेतन आवेग है और जो ... आनंद तो बहुत बड़ा शब्द है पर हर्ष, प्रसन्नता के स्रोत के रूप में जारी है, वह निश्चित रूप से सेक्स की क्रिया है, और इसका प्रकृति की क्रियाओं में बने रहने का एकदम से कोई कारण न होगा जब उस तरह से सृजन करने की आवश्यकता का अस्तित्व ही न रहेगा। अतः जीवन के आनंद के साथ संबंध में प्रवेश करने की क्षमता एकदम ऊंची उठ जायेगी या दिशा बदल लेगी। लेकिन सिद्धांततः प्राचीन आध्यात्मिक जिज्ञासु जिस काम-वासना के निषेध की चाह करते थे वह एक बेतुकी-सी चीज है क्योंकि यह उन्हींके लिये हो सकता है जो उस स्तर के परे जा चुके हैं, जिनमें पार्श्विकता बाकी नहीं है और उसे संघर्ष के बिना स्वाभाविक रूप से झड़ जाना चाहिये। उसे संघर्ष या द्वंद्व का केंद्र बनाना हास्यास्पद चीज है। जब चेतना मानव होना बंद कर देती है तभी वह स्वाभाविक रूप से झड़ जाती है। यहां भी एक संक्रमण होता है जो कठिन हो सकता है क्योंकि संक्रमण की सत्ताएं हमेशा अस्थिर संतुलन में रहती हैं; लेकिन भीतर एक प्रकार की ज्वाला होती है, एक आवश्यकता होती है जो उसे पीड़ाजनक नहीं बनाती—यह पीड़ाजनक प्रयास नहीं है, यह एक ऐसी चीज है जिसे तुम मुस्कान के साथ कर सकते हो। लेकिन इसे उन लोगों पर आरोपित करने की कोशिश करना जो अभी इस संक्रमण के लिये तैयार नहीं हैं, बेतुका है।

यह साधारण बुद्धि है। वे मनुष्य हैं, उन्हें यह दिखावा न करना चाहिये कि वे मनुष्य नहीं हैं।

केवल जब यह आवेश तुम्हारे लिये सहज रूप से असंभव हो जाये, जब तुम्हें लगे कि यह कोई कष्टदायक चीज है, तुम्हारी गहरी आवश्यकता के विपरीत है तब यह तुम्हारे लिये आसान हो जाता है; और तब तुम बाहर से इन बंधनों को काट दो और मामला खतम हो जाता है।

यह सबसे अधिक विश्वासोत्पादक उदाहरणों में से एक है।

*



एक और संकट है और इसका संबंध सेक्स के आवेशों से है। योग शुद्धीकरण की अपनी प्रक्रिया में तुम्हारे अंदर छिपी सभी कामनाओं और सभी आवेशों को खोलकर ऊपर उछालेगा और तुम्हें सीखना चाहिये कि उन्हें न तो छिपाओ और न एक ओर खिसका दो, तुम्हें उनका सामना करना, उन्हें जीतना और फिर गढ़ना होगा। योग का पहला असर होता है मानसिक नियंत्रण को हटा देना और परिणामस्वरूप भीतर सोयी हुई क्षुधाओं का अचानक स्वतंत्र हो जाना, वे ऊपर की ओर झपट कर सत्ता पर आक्रमण करती हैं। जबतक मानसिक शासन का स्थान दिव्य शासन न ले ले तबतक एक संक्रमण-काल चलता है जिसमें तुम्हारी सचाई और तुम्हारे समर्पण की परीक्षा होती है। सेक्स जैसे आवेशों की शक्ति इस बात में होती है कि लोग उन्हें बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे बहुत उग्र रूप से विरोध करते हैं और उन्हें दबाकर नियंत्रण में लाने की कोशिश करते हैं, अपने अंदर छिपाकर उनपर बैठ जाते हैं। लेकिन तुम किसी चीज के बारे में जितना अधिक सोचो और कहो, "मैं इसे नहीं चाहता, मैं इसे नहीं चाहता", तुम उतने ही अधिक उससे बंधते जाते हो। तुम्हें उस चीज को अपने से दूर रखना चाहिये, अपने-आपको उससे अलग कर लेना और यथा-संभव उसकी कम-से-कम परवाह करनी चाहिये और अगर तुम उसके बारे में सोचो भी तो भी उसके बारे में उदासीन और निश्चिंत रहो।

योग के दबाव से जो आवेश और कामनाएं ऊपर उभरें उनका सामना अनासक्ति और शांति के साथ करना चाहिये मानों वे तुम्हारे लिये परायी या किसी अन्य बाहरी जगत् की चीजें हों। उन्हें भगवान् के अर्पित कर देना चाहिये ताकि भगवान् उन्हें लेकर रूपांतरित कर दें।

अगर तुम एक बार अपने-आपको भगवान् की ओर खोल दो, अगर भगवान् की शक्ति एक बार तुम्हारे अंदर उतर आये और फिर भी तुम पुरानी शक्तियों को बनाये रखना चाहो तो तुम अपने लिये कठिनाइयां, तकलीफें और मुसीबतें तैयार करते हो। तुम्हें जागरूक होना चाहिये और इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि तुम अपनी कामनाओं की संतुष्टि

जनवरी

के लिये
नियुक्त
सीधे रा
अधिक
तुम उन
हैं। जह
सकते।
साथ ए
भोग-वि
पहुंचते
की तरफ
चलें, त

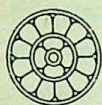


उसके
संतोष
अधिक
जो ऐस
और
आध्या
लिये र

जनवरी १९९१

के लिये भगवान् का उपयोग लबादे के रूप में न करो। बहुत-से आत्म-नियुक्त गुरु होते हैं जो इसके सिवाय और कुछ नहीं करते। और जब तुम सीधे रास्ते से हट जाओ और जब तुम्हारे अंदर जरा-सा ज्ञान हो और अधिक शक्ति न हो तो तुम्हें एक प्रकार के जीव या सत्ताएं पकड़ लेती हैं, तुम उनके हाथों में अंधे यंत्र बन जाते हो और अंत में वे तुम्हें हड़प जाती हैं। जहां कहीं ढोंग हो वहीं संकट होता है; तुम भगवान् को धोखा नहीं दे सकते। क्या तुम भगवान् के पास यह कहते हुए आते हो कि मैं आपके साथ ऐक्य चाहता हूं और तुम्हारा मतलब होता है कि मैं शक्तियां और भोग-विलास चाहता हूं। सावधान ! इस तरह तुम सीधे खाई के किनारे जा पहुंचते हो। और फिर भी सभी संकटों से बचना कितना आसान है। बालक की तरह बन जाओ। अपने-आपको मां के सुपुर्द कर दो, वे ही तुम्हें लेकर चलें, तब तुम्हारे लिये कोई संकट न रहेगा।

पृथ्वी पर अतिमानसिक सिद्धि की अभीप्सा करनेवालों के लिये तपस्या



... ये सभी अनुभूतियां (मनुष्यों के लिये निःस्वार्थ प्रेम आदि) उन सामान्य मनुष्यों के लिये बहुत अच्छी और उपयोगी हैं जो प्रकृति के सामान्य मार्ग से भावी ऐक्य की ओर उसके लड़खड़ाते हुए अभियान का अनुसरण करते हैं। लेकिन इससे उन्हें संतोष नहीं हो सकता जो गति को तेज करना चाहते हैं या यूं कहें जो अधिक प्रत्यक्ष और तेज गति की रेखा में जाने के लिये अभीप्सा करते हैं, जो ऐसी अपवादिक गति में जाना चाहते हैं जो उन्हें सामान्य मानवता से और उसके खतम न होनेवाले अभियान से मुक्त कर दे ताकि वे आध्यात्मिक अभियान में भाग ले सकें जो उन्हें नयी जाति के सृजन के लिये सबसे अधिक तेज मार्गों से ले जाये। यह ऐसी जाति होगी जो पृथ्वी

पर अतिमानसिक सत्य को प्रकट करेगी। इन विरल आत्माओं को मनुष्यों के बीच सभी प्रेम के रूपों को त्यागना होगा, क्योंकि वे चाहे जितने शुद्ध और सुंदर क्यों न हों वे एक तरह का लघु-पथन (शार्ट सर्कट) बना देते हैं जो भगवान् के साथ सीधे संबंध को काट देता है।

जिसने भगवान् के साथ प्रेम को जान लिया है उसके लिये प्रेम के और सभी रूप धुंधले तथा क्षुद्रता, अहंकार और अंधकार से बहुत अधिक मिश्रित होते हैं। वे सर्वश्रेष्ठता और प्रधानता के लिये सतत मोल-तोल और संघर्ष होते हैं, यहांतक कि सबसे अच्छों में भी वे गलतफहमी, चिड़चिड़ेपन, रगड़ और नासमझी से भरे होते हैं।

और फिर यह तो जानी हुई बात है कि तुम जिससे प्रेम करते हो उसीके सादृश्य में बढ़ते हो। इसलिये अगर तुम भगवान् के जैसा होना चाहते हो तो केवल उन्हींसे प्रेम करो। केवल वही जिसने भगवान् के साथ प्रेम के आनंद के विनिमय को जान लिया है, वही जान सकता है कि उसकी तुलना में अन्य कोई विनिमय कितना मंद, दुर्बल और नीरस होता है...।

हम पृथ्वी पर इसी अद्भुत स्थिति का अनुभव करना चाहते हैं। इसीके अंदर जगत् को रूपांतरित करने की और उसे भागवत उपस्थिति के योग्य आवास बनाने की शक्ति होगी। तभी शुद्ध और सत्य प्रेम ऐसे शरीर में अवतरित होगा जो उसके लिये छद्मवेश या पर्दा न रहेगा।

... मनुष्य पहले से ही जानता है, पहले धुंधले रूप में, लेकिन जैसे-जैसे वह पूर्णता के निकट पहुंचता है ज्यादा स्पष्ट रूप से जानता है कि केवल प्रेम ही जगत् के दुःखों का अंत ला सकता है; अपने सारतत्त्व में केवल प्रेम का अनिर्वचनीय आनंद ही विश्व में से पृथक्ता की जलती हुई पीड़ा को झाड़कर फेंक सकता है; क्योंकि केवल परम ऐक्य के आनंद में ही सृष्टि अपने प्रयोजन और अपनी परिपूर्णता को खोज सकेगी।

इसलिये कोई भी परिश्रम बहुत कठोर नहीं है, कोई भी तपस्या बहुत अधिक कड़ी नहीं है अगर वह भौतिक पदार्थ को आलोकित, शुद्ध और पूर्ण बनाकर रूपांतरित कर सके ताकि वह भगवान् को तब छिपा न सके जब वे जड़ पदार्थ में बाहरी रूप धारण करें। क्योंकि तब उनकी अद्भुत कोमलता

अपने-अपने कर सके है...

चूंकि भगवान् साथ अ सतत त पुरस्कार साथ च में न ब संक्षे के लिये त्याग, परिवार तादात्म्य के लिये



मानव केवल शाश्वत सकता एक है

जनवरी १९९१

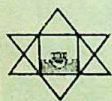
029505

अपने-आपको इस जगत् में मुक्त रूप से, उस दिव्य प्रेम के रूप में प्रकट कर सकेगी जिसमें जीवन को मधुर आनंद के स्वर्ग में बदलने की शक्ति है...

चूंकि हमने निश्चय कर लिया है कि अपने समस्त वैभव के साथ प्रेम को भगवान् के साथ अपने निजी संबंध के लिये आरक्षित रखेंगे अतः औरों के साथ अपने संबंध के लिये हम उसके स्थान पर संपूर्ण, अपरिवर्तनशील, सतत तथा अहंकारशून्य कृपा और सद्भावना भर देंगे जो किसी कृतज्ञता, पुरस्कार, यहांतक कि मान्यता तक की आशा न रखेगी। दूसरे भले तुम्हारे साथ चाहे जैसा व्यवहार करें, तुम अपने-आपको कभी रोष या मनोमालिन्य में न बहने दोगे।

संक्षेप में, भागवत सद्वस्तु के साथ ऐकांतिक आसक्ति पर केंद्रित होने के लिये भावों में तपस्या का अर्थ होता है सभी आवेशमय आसक्तियों का त्याग, फिर चाहे वे किसी तरह की क्यों न हों; चाहे किसी व्यक्ति के लिये, परिवार के लिये या किसी और चीज के लिये हों। यह एकाग्रता संपूर्ण तादात्म्य में अपने चरम बिंदु पर पहुंचेगी और पृथ्वी पर अतिमानसिक सिद्धि के लिये साधन होगी।

प्रेम—मानव और दिव्य



पहले साधना में मानव प्रेम के बारे में—भगवान् के लिये प्रेम द्वारा आत्मा की प्रवृत्ति ऐसे प्रेम के द्वारा होनी चाहिये जो तत्त्वतः दिव्य है; लेकिन चूंकि पहले अभिव्यक्ति का यंत्र है मानव प्रकृति इसलिये वह मानव प्रेम और भक्ति का रूप ले लेता है। केवल तभी जब चेतना बदलती, उदात्त और गंभीर होती है कि महत्तर शाश्वत प्रेम उसमें बढ़ सकता और खुलकर मानव को भगवान् में बदल सकता है। लेकिन स्वयं मानव प्रेम में विभिन्न प्रकार की प्रेरक शक्तियां हैं। एक है चैत्य मानव प्रेम जो भीतरी गहराइयों से उठता है और वही आंतरिक

सत्ता के साथ उस मिलन का परिणाम है जो उसे दिव्य आनंद और ऐक्य की ओर पुकारता है। वह एक बार अपने बारे में अभिज्ञ हो जाये तो चिरस्थायी, स्वयंभू हो जाता है, वह बाहरी संतोषों पर आश्रित नहीं रहता, उसका बाहरी कारणों से हास नहीं हो सकता, वह आत्म-लक्ष्मी नहीं होता, मांग या लेन-देन नहीं करता बल्कि अपने-आपको सरलता और सहज रूप से देने को प्रवृत्त होता है, वह गलतफहमियों, निराशाओं, संघर्ष या क्रोध से न तो विचलित होता है न टूटता है बल्कि हमेशा सीधा आंतरिक ऐक्य की ओर दबाव डालता है। यह चैत्य प्रेम ही भगवान् के सबसे अधिक निकट है और इसलिये प्रेम और भक्ति का उचित और सर्वोत्तम मार्ग है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि सत्ता के अन्य भागों का उपयोग—जिनमें प्राण और शरीर भी आ जाते हैं—अभिव्यक्ति के साधन के रूप में न किया जाये या उन्हें सारी क्रीड़ा में और प्रेम के पूरे अर्थ में, दिव्य प्रेम में भी भाग न मिले। इसके विपरीत वे साधन हैं और भागवत प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति का एक बड़ा भाग हो सकते हैं—यदि उनमें ठीक गतिविधि हो, गलत नहीं। स्वयं प्राण में दो प्रकार का प्रेम है—एक जो आनंद और विश्वास से भरा होता है, आत्म-समर्पण करनेवाला, उदार, मोल-भाव न करनेवाला, अपने समर्पण में हीले हवाले न करनेवाला होता है, यह चैत्य प्रेम के सदृश, उसका पूरक होने योग्य और भागवत प्रेम की अभिव्यक्ति का उपयुक्त साधन होता है। और चैत्य प्रेम या भागवत प्रेम अभिव्यक्ति के भौतिक साधनों से घृणा नहीं करता, यदि वह अभिव्यक्ति शुद्ध, समुचित और संभव हो; वह उसपर आश्रित नहीं रहता, वह ऐसे साधनों से वंचित रह जाये तो वह न तो कम होता, न विद्रोह करता और न ही बुझाई गयी मोमबत्ती की तरह गुल हो जाता है; लेकिन जब वह इन साधनों का उपयोग कर सकता है तो प्रसन्नता और कृतज्ञता के साथ करता है। इस प्रकार दिव्य प्रेम और पूजा की ओर बढ़ने के लिये भौतिक साधनों का उपयोग किया जा सकता और किया जाता है, उन्हें केवल मानव दुर्बलता के लिये एक सुविधा के रूप में नहीं स्वीकारा गया है और यह भी तथ्य नहीं है कि चैत्य मार्ग में ऐसी चीजों के लिये कोई स्थान नहीं है; इसके विपरीत ये भगवान् के निकट जाने

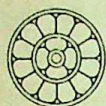
का, उनके उपाय हैं सच्चे प्रयत्न जब उनका है—क्योंकि कभी स्थूल डाल सकता है लेकिन अधिक प्राणिक उसकी मालालसा रहा जिस ईर्ष्याओं आहत भगवत् प्रस्थान क अविवशसन सकता . . . हतोत्साह प्रकृति में विश्वास, प्राणिक उसका ज ओर गति है।

जनवरी १९९१

का, उनके प्रकाश को पाने और चैत्य संबंध को मूर्त रूप देने का एक उपाय हैं और जबतक यह उचित भावना में किया जाये और उनका उपयोग सच्चे प्रयोजन के लिये किया जाये तबतक उनका स्थान है। केवल तभी जब उनका दुरुपयोग किया जाता है और उनकी ओर पहुंच ठीक नहीं होती है—क्योंकि वह उदासीनता या तमस्, विद्रोह या शत्रुता से रंगी होती या कभी स्थूल कामना होती है—तभी वे अस्थानीय होते हैं और विपरीत प्रभाव डाल सकते हैं।

लेकिन प्राणिक प्रेम का एक और तरीका है जो मानव स्वभाव का अधिक प्रचलित मार्ग है और यह है अहंकार और कामना का मार्ग। यह प्राणिक लालसा, कामना और मांग से भरा होता है; उसका जारी रहना उसकी मांगों की तुष्टि पर निर्भर है। अगर उसे वह न मिले जिसकी उसे लालसा है या अगर वह यह कल्पना करे कि उसे वैसा व्यवहार नहीं मिल रहा जिसका वह अधिकारी है—क्योंकि वह कल्पनाओं, गलतफहमियों, ईर्ष्याओं और भ्रांत व्याख्याओं से भरा होता है—तो वह एकदम दुःख, आहत भावना, क्रोध, सब प्रकार की अव्यवस्था और अंत में अवसान तथा प्रस्थान की ओर मुड़ जाता है। इस प्रकार का प्रेम स्वभावतः क्षणभंगुर और अविश्वसनीय होता है और उसे भागवत प्रेम का आधार नहीं बनाया जा सकता... इसी कारण हम मानव प्रेम के इस निम्न प्राणिक मार्ग को हतोत्साह करते हैं और चाहते हैं कि लोग जितनी जल्दी हो सके अपनी प्रकृति में से इन तत्त्वों को अस्वीकार करके त्याग दें। प्रेम को हर्ष, ऐक्य, विश्वास, आत्मोत्सर्ग और आनंद का पुष्पण होना चाहिये—लेकिन यह निम्न प्राणिक मार्ग केवल दुःख, कष्ट, निराशा, मोहभंग और अनैक्य का मूल है। उसका जरा-सा तत्त्व भी शांति की नींव को हिला देता है और आनंद की ओर गति के स्थान पर दुःख, असंतोष और निरानंद की ओर पतन ले आता है।

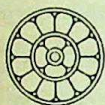
*



भागवत प्रेम, सच्चा प्रेम अपना आनंद और अपना संतोष अपने ही अंदर पा लेता है; उसके लिये जरूरी नहीं है कि उसका स्वागत हो, उसकी सराहना हो या उसमें हिस्सा लिया जाये—वह प्रेम करने के लिये प्रेम करता है उस फूल की तरह जो खिलता है।

इस प्रेम को अपने अंदर अनुभव करना अनिर्वचनीय सुख पाना है।

*

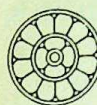


इस तरह व्याख्या में प्रेम के तत्त्व का हस्तक्षेप लाने की जरूरत नहीं है। लेकिन अगर तुम उस सामर्थ्य या शक्ति की प्रकृति को जानना या समझना चाहो जो इस रूपांतर को स्वीकृति देती या चरितार्थ करती है (विशेषकर अशुभ के मामले में, साथ ही कुछ हद तक कुरूपता के बारे में भी) तो तुम देखते हो कि स्पष्ट रूप से प्रेम सभी शक्तियों में सबसे प्रबल और सबसे अधिक संपूर्ण शक्ति है—संपूर्ण इस अर्थ में कि वह सब प्रकार की अवस्थाओं में लागू हो सकता है। यह शुद्धि की उस शक्ति से भी बढ़कर मजबूत है जो गलत इच्छा-शक्ति को विलीन कर देती है और किसी प्रकार से विरोधी शक्तियों की स्वामिनी है, परंतु उसमें सीधी रूपांतरित करने की शक्ति नहीं होती। शुद्धि की शक्ति बाद में रूपांतरित करने के लिये पहले विलीन करती है, वह अधिक अच्छा आकार बनाने के लिये पहले के आकार को नष्ट करती है, जब कि प्रेम को रूपांतरित करने के लिये नष्ट करने की जरूरत नहीं होती, उसमें रूपांतरित करने की प्रत्यक्ष शक्ति होती है। प्रेम ज्वाला की तरह है जो कठोर चीज को पतला कर देती और फिर शुद्ध वाष्प के रूप में बदल देती है। प्रेम नष्ट नहीं करता, रूपांतरित करता है।

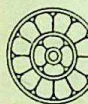
अपने मूल में प्रेम तत्त्वतः ज्वाला की न्याई, श्वेत ज्वाला की न्याई है जो सब तरह के प्रतिरोध को जीत लेती है। तुम अपने-आप इसका एक परीक्षण कर सकते हो : तुम्हारी सत्ता में चाहे जो कठिनाई हो, तुम्हारी संचि

जनवरी १

भूल-भ्रांति
प्रेम का
सर्वशक्ति
भूतकाल
स्पर्श करो



नहीं माप
देखोगे कि
देने के लिए

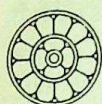


उसका प्र
लेकि
तैयार क
श्रीअरवि
क्यों नह
प्रेम अप
तरह हो
कि वह

जनवरी १९९१

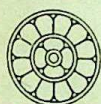
भूल-भ्रांतियों, अयोग्यताओं, अज्ञान और दुर्भावना का जो भी भार हो, इस प्रेम का एक क्षण, जो शुद्ध, सारभूत और परम प्रेम है, उसे मानों सर्वशक्तिमान् ज्वाला में विलीन कर देता है। एक क्षण भर और समस्त भूतकाल गायब हो सकता है; एक मुहूर्त भर के लिये तुम उसे सारतत्त्व में स्पर्श करो और सारा भार उठ जायेगा।

*



भगवान् के प्रेम के साथ रूपांतर की शक्ति होती है...। जिस क्षण तुम उसकी ओर खुलो, तुम उसके साथ ही रूपांतर की शक्ति भी पाते हो। लेकिन तुम उसे मात्रा की परिभाषा में नहीं माप सकते—जो चीज आवश्यक है वह है सच्चा संपर्क—क्योंकि तुम देखोगे कि उसके साथ सच्चा संपर्क तुम्हारी सारी सत्ता को एक साथ भर देने के लिये पर्याप्त है।

*



और जब परम प्रेम की अभिव्यक्ति का दिन आता है, परम प्रेम के स्फटिकीकृत, घनीकृत अवतरण का दिन आता है तो वही सचमुच रूपांतर का दिन होगा; क्योंकि कोई भी चीज उसका प्रतिरोध न कर सकेगी।

लेकिन चूंकि वह सर्वशक्तिमान् है इसलिये धरती पर ग्रहणशीलता भी तैयार करनी होगी ताकि उसके परिणाम तोड़-फोड़ करनेवाले न हों, जैसा कि श्रीअरविंद ने अपने एक पत्र में समझाया है। किसीने उनसे पूछा, “वह तुरंत क्यों नहीं आ जाता?” उन्होंने कुछ इस तरह का उत्तर दिया : अगर दिव्य प्रेम अपने सार-तत्त्व में पृथ्वी पर प्रकट हो जाये तो यह बम-विस्फोटक की तरह होगा क्योंकि पृथ्वी न तो इतनी लचीली है, न इतनी पर्याप्त ग्रहणशील कि वह अपने-आपको इस प्रेम के आयामों के बराबर विस्तृत कर सके।

इतना ही आवश्यक नहीं है कि वह अपने-आपको खोले, उसे अपने-आपके अधिक विस्तृत और अधिक लचीला बनाना होगा—जड़ पदार्थ अभी बहुत ज्यादा कठोर है, केवल अत्यंत जड़ भौतिक द्रव्य नहीं बल्कि भौतिक चेतना का द्रव्य भी बहुत अधिक कठोर है।

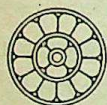
*



हे प्रभो, चूंकि मैं सिर्फ तुमसे ही प्रेम करती हूँ अतः मैं सबके और हर एक में केवल तुमसे ही प्रेम करती हूँ। उन सबके अंदर तुमसे प्रेम करने के निशान की तरह मैं अंत में उन्हें तुम्हारे बारे में जरा अधिक सचेतन बना सकूंगी।

उनके लिये असली चीज है यह जानना कि बिना किसी पसंद के, बिना किसी बाधा के तेरा प्रेम पा सकें। लेकिन इतना ही नहीं कि वे अपने ही तरीके को छोड़कर किसी और तरीके से प्रेम नहीं पाना चाहते बल्कि वे प्रेम की ओर तबतक खुलना भी नहीं चाहते जबतक कि वह उनकी पसंद के बिचौलियों के द्वारा न आये... और जो चीज कुछ घंटों, कुछ महीनों या कुछ वर्षों में हो सकती थी उसे सिद्ध करने में शताब्दियां लग जाती हैं।

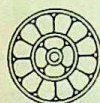
*



भागवत प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिये तुम्हें भागवत प्रेम को ग्रहण करने योग्य होना चाहिये। क्योंकि केवल वही लोग उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं जो स्वभाव से उसकी सहज गति की ओर खुले हों। उनके अंदर उद्घाटन जितना अधिक विस्तृत और स्पष्ट होगा वे उतनी ही अधिक मूल शुद्धि के साथ दिव्य प्रेम को प्रकट कर सकेंगे, वह जितना अधिक निम्नतर मानव भावों के साथ घुला-मिला होगा उतनी ही अधिक उसमें विकृतियां होंगी। जो प्रेम के प्रति उसके सार-तत्त्व और उसके सत्य में खुला न हो वह भगवान् के निकट नहीं आ सकता।

ज्ञान के द्रव्य
अगर वे
हुए पाते
ज्ञान भाग
प्रगति में
नहीं कर

मनु
हैं



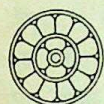
से चीजें
इसलिये
जाता है
रूप से य
की संकर
विस्तृत क
संकरि स
निकलकर
साथ मिल
उससे पह
तुम लेना
कमी को
क्योंकि ३

जनवरी १९९१

ज्ञान के द्वारा खोज करनेवाले भी एक ऐसे बिंदु पर जा पहुंचते हैं जिसके परे अगर वे जाना चाहें तो वे अपने-आपको एक ही साथ प्रेम में प्रवेश करते हुए पाते हैं और वे यह अनुभव करते हैं कि ज्ञान और प्रेम दोनों एक हैं, ज्ञान भागवत ऐक्य का प्रकाश है और प्रेम ज्ञान का हृदय है। आत्मा की प्रगति में एक स्थान है जहां ये दोनों मिलते हैं और तुम इन्हें अलग-अलग नहीं कर सकते।

*

मनुष्य जो कुछ देते हैं उसके बदले में हमेशा कुछ-न-कुछ क्यों चाहते हैं ?



क्योंकि वे अपने अंदर बंद रहते हैं।

वे अपनी सीमाबद्धता का अनुभव करते और सोचते हैं कि विकसित होने, बढ़ने बल्कि बचे रहने के लिये भी उन्हें बाहर से चीजें लेनी पड़ती हैं। वे अपने व्यक्तिगत परिसीमन की चेतना में जीते हैं इसलिये वे सोचते हैं कि वे जो कुछ देते हैं उससे उनके अंदर एक छेद बन जाता है और उसे भरने के लिये बाहर से कुछ लेना जरूरी है... ! निश्चित रूप से यह एक भूल है और सचाई तो यह है कि अपने छोटे-से व्यक्तित्व की संकरी सीमाओं में बंद रहने की जगह वे अपनी चेतना को इस तरह विस्तृत कर सकते हैं कि केवल इतना ही नहीं कि अपने-आपको औरों की संकरी सीमाओं के साथ तदात्म कर लें बल्कि इन सीमाओं के बाहर निकलकर उनके परे निकल जायें, हर जगह फैल जायें, एकमेव चेतना के साथ मिलकर सब कुछ बन जायें, तब जाकर संकरी सीमाएं लुप्त होंगी, उससे पहले नहीं। जबतक तुम तंग सीमाओं का अनुभव करते हो तबतक तुम लेना चाहते हो क्योंकि तुम्हें खोने का डर रहता है। तुम खर्च करते और कमी को पूरा कर लेना चाहते हो। यह इसी कारण होता है मेरे बच्चे, क्योंकि अगर तुम सभी चीजों में फैले होओ, अगर आने-जानेवाले सभी

स्पंदन अपनी सीमाओं में रहकर नहीं, उनसे बाहर निकलकर हर चीज में मिल जाने, अपने-आपको विस्तृत करने, बढ़ाने और अंत में हर चीज के साथ एक हो जाने की इच्छा करें तो फिर तुम्हारे पास खोने के लिये कुछ न रह जायेगा क्योंकि सब कुछ तुम्हारे पास होगा। हां, तुम इसे नहीं जानते और चूंकि तुम इसे नहीं जानते इसलिये इसे कर भी नहीं सकते। तुम लेना चाहते हो, इकट्ठा करना, और इकट्ठा करना, और अधिक इकट्ठा करना चाहते हो, लेकिन यह असंभव है, तुम इकट्ठा नहीं कर सकते। तुम्हें अपने-आपको तदात्म करना होगा। तुम जो कुछ थोड़ा-सा देते हो, उसे वापिस लेना चाहते हो। तुम एक अच्छा विचार देते हो, तुम उसके लिये मान्यता चाहते हो, तुम जरा-सा स्नेह देते हो और तुम औरों से उसीकी आशा करते हो... क्योंकि तुम्हारे अंदर यह क्षमता नहीं होती कि तुम सबमें सुंदर विचार बन सको, तुम्हारे अंदर यह क्षमता नहीं होती कि तुम सबमें स्नेह, मधुर प्रेम बन सको। तुम्हें ऐसा अनुभव होता है कि सब कुछ कटा-छंटा और सीमित है, तुम्हें सब कुछ खो देने का डर होता है, तुम्हारे पास जो कुछ है उसे खोने का भय होता है क्योंकि इससे तुम दरिद्र बन जाओगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने-आपको तदात्म कर सको तो तुम्हें खींचने की जरूरत न होगी। तुम जितना अधिक फैलोगे उतना ही अधिक पाओगे। तुम जितना तदात्म करोगे उतने ही अधिक बन जाओगे और तब तुम लेने की जगह दोगे और जितना अधिक दोगे उतना ही अधिक बढ़ोगे।

सच्चे प्रेम को जानने का एक संकेत



जब चैत्य प्रेम करता है तो वह भागवत प्रेम से प्रेम करता है। जब तुम प्रेम करते हो तो ऐसे भागवत प्रेम से प्रेम करते हो जो तुम्हारे अहंकार द्वारा घट जाता और विकृत हो जाता है, फिर भी अपने सारतत्त्व में भागवत प्रेम ही रहता है।

भाषा की सुविधा के लिये तुम इसका प्रेम और उसका प्रेम कहते हो,

लेकिन व
मैंने
खोज रह
चाहती ह

प्रेम
सबका
प्रेम" क
का अनु
व्याप्त ह

सच्चे
हो भी न
के सिव
होती है
सचमुच
देता है

...
है...

जनवरी १९९१

लेकिन वह एक ही प्रेम होता है जो विभिन्न प्रणालियों से प्रकट होता है।
मैंने तुम्हें उस प्रेम को पाने के लिये संकेत दे दिया है जिसे तुम वर्षों से
खोज रहे हो; लेकिन यह मानसिक संकेत नहीं है और मैं तुमसे क्या कहना
चाहती हूँ उसे तुम तभी जान सकते हो जब तुम्हारा मन चुप हो जाये।

*

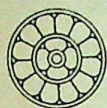
प्रेम एक ही है, भागवत प्रेम; और उस प्रेम के बिना सृष्टि न होगी।
सबका अस्तित्व केवल उसी प्रेम के कारण है और जब हम अपने “निजी
प्रेम” की खोज करना चाहते हैं जिसका कोई अस्तित्व नहीं है तो हम प्रेम
का अनुभव नहीं करते, एकमात्र प्रेम भागवत प्रेम है जो समस्त सत्ता में
व्याप्त होता है।

*

सच्चे प्रेम को आदान-प्रदान की जरूरत नहीं होती; इसमें आदान-प्रदान
हो भी नहीं सकता क्योंकि प्रेम एक ही है, ऐसा प्रेम जिसका लक्ष्य प्रेम करने
के सिवाय कुछ नहीं है। विभाजन के जगत् में आदान-प्रदान की जरूरत
होती है—क्योंकि आदमी प्रेम की बहुलता के भ्रम में जीता है; लेकिन
सचमुच केवल एक ही प्रेम है और यह एकमात्र प्रेम ही अपने-आपको उत्तर
देता है।

... प्रेम कोई व्यक्तिगत चीज नहीं है, वह एक वैश्व भागवत भाव
है...

भागवत प्रेम हमेशा उपस्थित रहता है



भागवत प्रेम एक प्रबल शक्ति है, वह हमेशा अपनी समस्त तीव्रता के साथ रहता है। लेकिन अधिकतर लोग, निम्नान्वे प्रतिशत, उसे जरा भी अनुभव नहीं करते! वे जो कुछ अनुभव करते हैं वह पूरी तरह उस अनुपात में होता है जितनी उनकी ग्रहण करने की क्षमता होती है। उदाहरण के लिये कल्पना करो कि तुम पूर्णतः भागवत प्रेम से स्पंदित वातावरण में स्नान कर रहे हो—तुम्हें उसकी जरा भी खबर नहीं है। कभी-कदास, यह है बहुत विरल, कुछ क्षणों के लिये “किसी चीज” की अनुभूति होती है। तब तुम कहते हो, “आहा, भागवत प्रेम मेरे पास आया था!” क्या मजाक है! बात इतनी है कि किसी-न-किसी कारण से तुम जरा-सा खुल गये थे और तुमने उसे अनुभव किया। लेकिन वह तो होता ही है, हमेशा दिव्य चेतना की तरह रहता है। वही बात है, वह सारे समय, अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ होता है पर तुम्हें उसका पता तक नहीं होता; या फिर इस तरह अचानक एक अच्छी स्थिति में तुम कुछ अनुभव करते हो और कहते हो, “आहा, भागवत चेतना और भागवत प्रेम मेरी ओर मुड़े हैं, मेरे आगे आये हैं।” बात ऐसी बिल्कुल नहीं है। तुम्हारे अंदर एक नन्हा-सा उद्घाटन होता है, बहुत ही जरा-सा, सूर्य की नोंक के समान और स्वभावतः उसमें से वह शक्ति घुस आती है; क्योंकि वह सक्रिय वातावरण की तरह होती है; जैसे ही ग्रहण करने की संभावना होती है, उसे ग्रहण कर लिया जाता है। लेकिन सभी भागवत चीजों के बारे में यही बात है। वे उपस्थित रहती हैं परंतु तुम उन्हें लेते नहीं क्योंकि तुम बंद होते हो, अवरुद्ध होते हो, तुम सारे समय और चीजों के साथ व्यस्त रहते हो। अधिक समय तुम अपने-आपसे भरे रहते हो। और जब तुम अपने-आपसे भरे रहते हो तो किसी और के लिये जगह नहीं रहती। तुम बड़ी सक्रियता के साथ (हंसी) और चीजों के साथ व्यस्त रहते हो। जब तुम चीजों से भरे हो तो भगवान् के लिये जगह नहीं रहती। लेकिन वे उपस्थित रहते हैं।

श्रीमाताजी
हुए कुछ

यह है अ
साधार
फिर वैसे
कहते हैं,
निकम्मा
तरह है,
कोई बात
घटाना च
कि हम
कुछ ऐसे
करने ल
अफसर
जीत लेने
वे संसार
जानती ह
बिता दि
व्यक्ति मे
यह जान
वह जा
आशा व
उठोगे।

११ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी अपने लेख “बच्चे को सर्वदा क्या याद रखना चाहिये” में गिनाये हुए कुछ गुणों पर अपनी टिप्पणी दे रही हैं।

(बुलेटिन, अगस्त १९५०)

“विनम्र होना”

यह है अपने यथार्थ मूल्य को समझना।

साधारणतया लोग अपने व्यक्तित्व का अतिरंजित मूल्यांकन करते हैं और फिर वैसे ही अतिरंजित निरुत्साह की ओर आगे बढ़ते हैं। एक दिन तो वे कहते हैं, “मैं अद्भुत व्यक्ति हूँ”, और दूसरे दिन, “ओह ! मैं बिल्कुल निकम्मा हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता।” यह बात ठीक घड़ी के लोलक की तरह है, है न ? हम क्या हैं इसे ठीक-ठीक जानने से अधिक कठिन और कोई बात नहीं है। हमें अपना मूल्य न तो अत्यधिक बढ़ाना चाहिये और न घटाना चाहिये, बल्कि अपनी सीमाओं को समझना और यह जानना चाहिये कि हम अपने सामने रखे हुए आदर्श की ओर कैसे प्रगति कर सकते हैं। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो बड़े-चढ़े रूप में देखते हैं और तुरंत कल्पना करने लगते हैं कि वे सब कुछ कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, छोटे-छोटे अफसर होते हैं जो यह कल्पना करते हैं कि वे संसार के सभी युद्धों को जीत लेने की क्षमता रखते हैं, ऐसे क्षुद्र लोग होते हैं जो यह समझते हैं कि वे संसार के प्रत्येक व्यक्ति से बड़े हैं। दूसरी ओर, मैं कुछ ऐसे लोगों को जानती हूँ जिनमें योग्यताएं थीं पर उन्होंने यह सोचने में अपना सारा समय बिता दिया कि “मैं बिल्कुल निकम्मा हूँ।” सामान्यतया ये दोनों छोर एक ही व्यक्ति में पाये जाते हैं। परंतु किसी ऐसे व्यक्ति को पाना बहुत दुर्लभ है जो यह जानता हो कि वह ठीक-ठीक कहां खड़ा है और ठीक-ठीक कहां तक वह जा सकता है। हमने यहां मिथ्याभिमान की चर्चा नहीं की है क्योंकि हम आशा करते हैं कि तुम एक सफलता पाते ही मिथ्याभिमान से नहीं भर उठोगे।

जरा सोचो तो, कुछ पौधे भी गर्वीले होते हैं। मैं उन पौधों की बात कर रही हूँ जिन्हें लोग अपने लिये लगाते हैं। यदि कोई उन्हें शब्दों में या भावों के द्वारा आदर प्रदान करता है, यदि कोई उनकी प्रशंसा करता है तो, बस, वे अपना सिर ऊंचा कर लेते हैं—अभिमान के साथ ! यही बात पशुओं की भी है। मैं तुम्हें एक बड़ी मजेदार कहानी सुनाने जा रही हूँ।

पेरिस में “पौधों का बगीचा” नामक एक बगीचा है जहाँ पौधों के साथ-साथ पशु भी रखे जाते हैं। अभी-अभी एक बड़ा शानदार सिंह बगीचेवालों को मिला था। निश्चय ही उसे एक पिंजड़े में रखा गया था। और वह क्रोध से भरा रहता था। उस पिंजड़े में एक दरवाजा था जिसके पीछे वह छिप सकता था और वह ठीक उस समय जब दर्शक उसे देखने के लिये आते थे वह वहाँ छिप जाता था ! मैंने इसे लक्ष्य किया और एक दिन पिंजड़े के पास चली गयी और उससे बोलने लगी (पशु बातचीत के प्रति बड़े संवेदनशील होते हैं, वे वास्तव में सुनते हैं)। मैंने शेर से बड़ी मीठी भाषा में बोलना शुरू किया, मैंने कहा, “ओह ! तुम कितने सुंदर हो, कितने दुःख की बात है कि तुम इस तरह अपने को छिपा रहे हो, हम लोग तुम्हें कितना देखना चाहते हैं . . .।” हां, तो उसने सुना। फिर, धीरे-धीरे उसने मेरी ओर कनखियों से ताका, फिर उसने मुझे अच्छी तरह देखने के लिये अपनी गर्दन बढ़ा दी; उसके बाद उसने अपना पंजा बाहर निकाला और अंत में उसने अपनी नाक की नोक छड़ से लगा दी मानों कह रहा हो, “आखिर एक व्यक्ति तो है जो मुझे समझता है !”

“उदार होना”

मैं यहाँ भौतिक उदारता की चर्चा नहीं करूंगी जिसका स्वाभाविक स्वरूप है अपने पास जो कुछ हों उसे दूसरों को देना। परंतु यह गुण भी बहुत अधिक लोगों में नहीं पाया जाता, क्योंकि जैसे ही कोई धनी हो जाता है, वह दान कर देने के बदले कहीं अधिक अपने धन को बचाये रखने की बात सोचने लगता है। मनुष्य जितना अधिक धनाढ्य होता है उतना ही कम वह उदार होता है।

मैं यह अपना को
निःस्वार्थ भ
हमें आनंद
तात्पर्य है
होना।

जब
है
हम
है
क

यह बहुत
दिन तुम
में होते हैं
अथवा ज
तरीका भ
करो तो
लोगे। ए
लेना; इस
होता है
बिना सब
तुम उता

जनवरी १९९१

मैं यहां नैतिक उदारता की चर्चा करना चाहती हूँ। उदाहरणार्थ, जब अपना कोई साथी सफल हो तो प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये। साहस के, निःस्वार्थ भाव के, उच्च त्याग के कार्यों में एक प्रकार का सौंदर्य होता है जो हमें आनंद प्रदान करता है। यह कहा जा सकता है कि नैतिक उदारता का तात्पर्य है दूसरों की यथार्थ मूल्य-मर्यादा और श्रेष्ठता को पहचानने में समर्थ होना।

—श्रीमातृवाणी खंड ४ से

अच्छे-से-अच्छा कैसे किया जाये ?

जब कोई काम करता है और भरसक अच्छे-से-अच्छा करना चाहता है तो उसे समय की आवश्यकता होती है। परंतु साधारण तौर पर हमारे पास बहुत अधिक समय नहीं होता, हमें बराबर उतावली रहती है। जब हम उतावली में हों तो हम भरसक अच्छे-से-अच्छा कैसे कर सकते हैं ?

यह बहुत ही रोचक विषय है और मैं इसके बारे में पूरे व्यौर के साथ एक दिन तुम लोगों से कहना चाहती थी। सामान्य तौर पर जब मनुष्य जल्दबाजी में होते हैं तो जो काम उन्हें करना होता है उसे वे पूरे रूप में नहीं करते अथवा जो कुछ वे करते हैं उसे बुरे रूप में करते हैं। परंतु एक तीसरा तरीका भी है, वह है अपनी एकाग्रता को प्रगाढ़ बना देना। यदि तुम ऐसा करो तो तुम आधा समय, यहांतक कि बहुत थोड़े समय में से भी, बचा लोगे। एक बहुत सामान्य उदाहरण ही ले लो : स्नान करके कपड़ा पहन लेना; इसमें जो समय लगता है वह हर मनुष्य के लिये अलग होता है, होता है न ? परंतु हम मान लें कि समय खोये बिना और जल्दबाजी किये बिना सब कुछ कर लेने के लिये आध घंटे की आवश्यकता है। अब, यदि तुम उतावली में हो तो दो बातों में से एक बात होती है : तुम उतनी अच्छी

तरह स्नान नहीं करते अथवा ठीक तरह से कपड़ा नहीं पहनते ! परंतु एक दूसरा तरीका है—अपने ध्यान को और अपनी शक्ति को एकाग्र कर लेना, जो कुछ कर रहे हो बस उसीकी बात सोचो, अन्य किसी चीज की नहीं, बहुत अधिक गति मत करो, अत्यंत समुचित ढंग से बिल्कुल ठीक गति करो, और (यह एक जीवन में उतारा हुआ अनुभव है, मैं निश्चिति के साथ इसकी चर्चा कर सकती हूँ) तुम महज एकाग्रता की घनता के द्वारा, जिसे पहले आध घंटे में करते थे, पंद्रह मिनट में कर लोगे, और उतनी ही अच्छी तरह, कभी-कभी उससे भी अधिक अच्छी तरह कर लोगे, न तो कोई चीज भूलोगे और न कोई चीज छोड़ोगे ही ।

और यह उन लोगों के लिये सबसे अच्छा उत्तर है जो कहते हैं “ओह ! यदि कोई अच्छी तरह कार्य करना चाहता है तो उसे समय अवश्य मिलना चाहिये ।” यह सच नहीं है । क्योंकि तुम चाहे जो कुछ करो—पढ़ना, खेलना, कार्य—बस, केवल एक ही समाधान है : एकाग्र होने की अपनी शक्ति को बढ़ाना । और जब तुम इस एकाग्रता को हासिल कर लेते हो तो वह अब थकानेवाली नहीं होती । स्वभावतः ही, प्रारंभ में, इसमें एक प्रकार का तनाव पैदा होता है, पर तुम जब इसके अभ्यस्त हो जाते हो तो तनाव कम हो जाता है, और एक समय ऐसा आता है जब तुम्हें इस प्रकार एकाग्र न होने के कारण, अपने-आपको छितरा देने के कारण, सभी प्रकार की चीजों का अपनेको शिकार बन जाने देने के कारण तथा जो कुछ करना है उसपर एकाग्र न होने के कारण थकावट आती है । मनुष्य एकाग्रता की शक्ति के द्वारा और अधिक अच्छी तरह तथा अधिक शीघ्रता से कार्य पूरा करने में सफल हो सकता है । इस प्रकार तुम कर्म का उपयोग विकास के साधन के रूप में कर सकते हो; अन्यथा तुम्हें यह अस्पष्ट धारणा बनी रहेगी कि कर्म “निष्काम भाव” से संपन्न करना चाहिये, परंतु इसमें एक महान खतरा है, क्योंकि मनुष्य बड़ी तेजी से उदासीनता को ही निष्काम भाव मानने की भूल कर बैठता है ।

—माताजी

शिष्य—

करने के लिए

श्रीअरवि

ऐसी स्थिति

जब उन्हें प

लगायेंगी ।

शक्तियों के

जगत् ऐसी

लोगों को

और फि

तुम्हारा धन

बुरा है ।

खर्च करने

फिर तु

हैं । इसके

तरह भगव

छोड़ा जा

पड़ता है ।

हमें धन

धनलोलुप

साथ सामं

जाना हो

करना है ।

शिष्य—

श्रीअरविंद के साथ बातचीत

(धन इत्यादि के बारे में)

शिष्य—आपने एक बार कहा था कि योग-शक्ति से धन पर शासन करने के लिये अनासक्ति जरूरी है।

श्रीअरविंद—अनासक्ति दो कारणों से जरूरी है। आसक्ति के कारण तुम ऐसी स्थिति में जा गिरते हो जहां शक्ति विरोधी शक्तियों के हाथ में है और जब उन्हें पता लगता है कि तुम उनसे आगे बढ़नेवाले हो तो वे तुमपर रोक लगायेंगी। दूसरे यह कि आसक्ति द्वारा तुम अपने-आपको ऐसी अशुभ शक्तियों के हाथों में सौंप दोगे जो धन पर शासन कर रही हैं। आजकल जगत् ऐसी शक्तियों के अधिकार में है, धन उन्हींके हाथों में है और वे ऐसे लोगों को ही देते हैं जो उनकी शर्तें स्वीकार करें।

और फिर तुम्हें धन का उचित उपयोग करना आना चाहिये अन्यथा तुम्हारा धन पाने का अधिकार नहीं रहता। धन का ऊलजलूल खर्च बहुत बुरा है। तुम्हारा खर्च व्यवस्थित होना चाहिये, तुम्हारे पास एक-एक पैसा खर्च करने के लिये कोई कारण होना चाहिये।

फिर तुम्हें उन शक्तियों से पाला पड़ता है जो धन पर अधिकार किये हुए हैं। इसके दो उपाय हैं ! कुछ लोग अपनी जरूरतें पूरी करने के लिये पूरी तरह भगवान् पर आश्रित रहते हैं। हमारे योग में मामला भगवान् पर नहीं छोड़ा जाता। हमें प्रकृति की शक्तियों से, एकदम जड़ पदार्थों से काम पड़ता है। हम उन विरोधी शक्तियों के आगे हथियार नहीं डाल सकते जो हमें धन पाने से रोकती हैं। एक ओर लक्ष्मी की शक्तियां हैं दूसरी ओर धनलोलुप विरोधी शक्तियां। हम जबतक लक्ष्मी की उच्चतर शक्तियों के साथ सामंजस्य न पैदा कर लें तबतक इन विरोधी शक्तियों के साथ लड़ते जाना होगा। हमें धन केवल उस काम के लिये चाहना चाहिये जो हमें करना है। हमें भागवत आवश्यकताएं पूरी करनी हैं।

शिष्य—उच्चतम शक्ति पाने से पहले, स्वयं अपनी इच्छा-शक्ति के बल

पर विरोधी शक्तियों का सामना करना ठीक होगा क्या ?

श्रीअरविंद—हां, ठीक प्रकार की इच्छा शक्ति के द्वारा जो आसक्ति और कामनाओं से मुक्त हो।

धन शक्ति की दोहरी गति होती है, इकट्ठा करने और लुटाने की। जो इस लय को ठीक रख सकें उनके पास प्रचुर धन होता है, उदाहरण के लिये बड़े-बड़े उद्योगपति। केवल जमा करते जाना बाधा है।

*

धन एक प्राणिक शक्ति है जो मनुष्यों को सफल होने की सामर्थ्य देती है। कुछ लोगों में यह विशेष मात्रा में होती है।

*

(श्रीअरविंद ने कहा कि अगर उन्होंने योग न अपनाया होता तो अबतक वे बड़ौदा कॉलेज के प्रिंसिपल हो गये होते और कुछ और कविताएं लिख लेते।)

शिष्य—तब फिर आपमें जो ऊर्जा है उसका क्या होता ?

श्रीअरविंद—यह ऊर्जा मेरे अंदर पहले तो न थी। मुझे अपनी वर्तमान ऊर्जा योग से ही मिली है। मैंने राजनीतिक कार्य में जो शक्ति लगायी थी वह भी योग से ही प्राप्त हुई थी।

शिष्य—लेकिन आपमें संभावनाएं तो थीं ही।

श्रीअरविंद—यूं तो बीज में पेड़ बनने की संभावनाएं होती हैं लेकिन क्या वह अनुकूल मिट्टी और वातावरण पाये बिना पेड़ बन सकता है ?

(यहां श्रीअरविंद ने बाहरी जीवन और भीतरी अंतरात्मा के विकास में फर्क बतलाया—जहांतक विकास का संबंध है प्रायः असफलता सफलता से ज्यादा अच्छी रहती है। सफलता ने बहुतों के विकास के अवसरों को बरबाद किया है।)

माताजी द्वारा संकलित रामकृष्ण के वचन

जिसने मानव प्राणियों की थोड़ी-सी भी भलाई की है वह, चाहे सबसे निकृष्ट पापी ही क्यों न हो, भगवान् द्वारा उनके प्रेमियों और सेवकों की श्रेणी में स्वीकृत होता है। वह शाश्वत प्रभु के मुखमंडल के दर्शन अवश्य पायेगा।

*

ऐ दुर्बलता में फंसे मूर्ख ! भय के पर्दे के द्वारा भगवान् का मुंह अपने-आपसे मत छिपा, अनुनयशील दुर्बलता के साथ उनके समीप न जा। देख ! तू उनके चेहरे पर शासक और विचारक की गंभीरता नहीं, बल्कि प्रेमी की मुस्कान देखेगा।

*

जैसे एक पहलवान अपने साथी के साथ कुश्ती लड़ता है वैसे ही जबतक तू भगवान् के साथ कुश्ती लड़ना नहीं सीख लेता तबतक तेरी अंतरात्मा की शक्ति तुझसे छिपी ही रहेगी।

*

शुभ ने पहले अपने हृदय और शरीर से काली के साथ प्यार किया, फिर उनसे क्रोधित होकर उनके साथ युद्ध किया, अंत में उसने उन्हें पराजित किया, उनके केश पकड़कर उन्हें अपने चारों ओर आकाश में तीन बार घुमाया; और अगले ही क्षण वह काली द्वारा मारा गया। ये ही अमरत्व की ओर ले जानेवाले दैत्य के चार पग हैं और उनमें से अंतिम पग सबसे अधिक लंबा और सबसे अधिक शक्तिशाली होता है।

सोसायटी समाचार

सब सोसायटी सदस्यों और पाठकों को नूतन वर्षाभिनंदन !

३ जनवरी नवजात जी का जन्म दिन है। इस वर्ष पांडिचेरी विश्व विद्यालय में २१ और २२ जनवरी को डा० नीरद वरण के नवजात पर भाषण होंगे।

१४ से २४ जनवरी तक सोसायटी बीच ऑफिस में डा० महेश्वरी के तत्त्वावधान में श्रीअरविंद की पुस्तक “माता” का अध्ययन होगा।

२१ फरवरी को माताजी के जन्म दिन के उपलक्ष्य में उनके कमरे का दर्शन होगा।

बड़ौदा में २९ सितंबर से २ अक्टूबर तक गुजरात की सोसायटी के शाखाओं और केंद्रों का सम्मेलन हुआ। श्री नलिनी भाई भट्ट ने श्रीअरविंद आरोग्य भवन का उद्घाटन किया। इस अवसर पर श्रीअरविंद के गुजरात और भारत में आगमन की शताब्दी के कार्य-क्रम के बारे में बातचीत हुई।

६ नवंबर को देहरादून के डा० शिवदास का श्रीअरविंद के बारे में आकाशवाणी पर भाषण हुआ।

कलकत्ते में श्रीअरविंद जहां-जहां रहे थे उन सब स्थानों पर और उन स्थानों पर भी जहां उन्होंने काम किया था स्मारक लगा दिये गये हैं।

इस अवसर पर श्रीअरविंद के चित्रों और उनके साथ संबंध रखनेवाले महत्वपूर्ण कागजों की प्रदर्शनी हुई।

कैलेंडर और दैनन्दिनी (अंग्रेजी)

श्रीअरविंद के उद्धरणोंवाली दैनन्दिनी, दाम १८, छोटे आकार की रु. ५। माताजी या श्रीअरविंद के चित्र के साथ कैलेंडर ४ रुपये, २५ प्रतियां लेने पर ३.७५। १०० या उससे अधिक प्रतियां लेने पर ३.५०। पैकिंग और डाकखर्च अतिरिक्त।

संपर्क : शब्द, श्रीअरविंद आश्रम, पांडिचेरी—६०५००२

जनवरी १९९१

मानसिक तनाव व शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति के लिये
सारे परिवार की सुरक्षा का प्राकृतिक साधन

“योगी रसायन” (रजि०)

निर्माता

योगी फार्मेसी प्रा० लि०

लक्खर रोड, हरिद्वार—२४९४०४

(आयुर्वेदिक अनुसंधान एवं निर्माण में अग्रणीय)

O Lord, awaken in me an ardent desire to know Thee.
aspire that my life may be consecrated to Thy service.

The Mother

Space donated by

***Kooverji Devshi & Co.,
Pvt. Ltd.***

FIREX LEADS TO SAFETY
SAFETY LEADS TO PROSPERITY

तुमसे सबसे अधिक मांग की जाती है प्रकाश की ओर मुड़ने में
अध्यवसाय की। प्रकाश हम जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक
हमारे निकट है और कितनी भी क्षण उसका मुहूर्त आ सकता है।

— श्रीअरविन्द



सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

दूसरों के हितों के लिये स्वयं अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण
रखना चाहते हैं।

— श्रीमान्



With Best Wishes from:

MRS. KOYAL DEORAH CHARITABLE TRUST

28, VARSHA, 69/B, NEPEANSEA ROAD

BOMBAY - 4000 006

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

फरवरी १९९१

51809/

विषय-सूची

सन्देश	माताजी	१
‘सम्पादकीय’ : डूबता जाता है संसार...	अनुबेन	२
दैतन्दिनी		६
प्रेम, काम-वासना—प्रकृति की गतिविधियां		९
भागवत प्रेम को कैसे पाया जाये		१६
सीख के कुछ शब्द		२५
श्रीअरविंद के साथ वातचीत		२७
मानसिक नीरवता	माताजी	३०
सीखना और समझना	श्रीमातृवाणी से	३४
सोसायटी समाचार		३७
अग्निशिखा वार्षिक १०.००	आजीवन २२५.००	

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२



उद्बुध्यस्वामे प्रति जागृहि

संदेश

एक अद्वितीय अवसर

हम पृथ्वी के इतिहास में संक्रमण-काल से गुजर रहे हैं। शाश्वत काल में यह केवल एक क्षण है किंतु मनुष्य के जीवन की तुलना में बहुत लंबा है। नये आविर्भाव के लिये जड़-तत्त्व अपने-आपको बदल रहा है लेकिन मानव शरीर काफी नमनीय नहीं है, वह प्रतिरोध कर रहा है। इसी कारण कई गड़बड़ें और यहांतक कि नये रोग बढ़ते जा रहे हैं और चिकित्सा-विज्ञान के लिये समस्या उत्पन्न कर रहे हैं।

दिव्य शक्तियां जो कार्य कर रही हैं उनके साथ तादात्म्य और विश्वास तथा शांति से भरी ग्रहणशीलता ऐसा उपाय है जो इस कठिन कार्य को सरल बना देता है।

—माताजी

संपादकीय

डूबता जाता है संसार . . .

कोई भी समझदार, देशप्रेमी भारतीय राष्ट्र के जलते प्रश्नों से अपरिचित होगा। ऐसे भी भारतीय होंगे जो शायद किंकर्तव्यविमूढ़ होकर यही सोचें होंगे, “इस दावानल में एक मनुष्य या एक दल क्या कर सकता है। सचमुच हम बेबस हैं। बस नियति के सामने झुकने के सिवा हमारे पास कोई चारा नहीं।” दुर्भावना, रोष, द्वेष और बदला लेने की भावना भारतवासी पागल हो गये हैं। यह सब देखकर कवि दिनकर की कविता “हिमालय का संदेश” को याद किये बिना नहीं रहा जाता। उस कविता कवि अपने मन का संघर्ष और शंका प्रकट करते हैं। वे मानों भगवान् पथ-प्रदर्शन मांग रहे हैं और उनके आगे अपना दिल खोल रहे हैं :

तर्क से तर्कों का रण छिड़ा, विचारों से लड़ रहे विचार,
ज्ञान के कोलाहल के बीच डूबता जाता है संसार।

और सबका उलटा परिणाम, बुद्धि का जितना बढ़ता जोर
आदमी के भीतर की शिरा हुई जाती कुछ और कठोर।

ज्ञान के मरु में चलता हुआ आदमी खोता जाता है,
हृदय के सर का शीतल वारि और कम होता जाता है।

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान,
चेतता तब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान्।

इस प्रश्न के उत्तर में कहीं दूर से मानों मानव अभीप्सा का स्वर गूँग है :

दाह भू का हरो, पन्थ शीतल करो,
विश्व का सर भरो वारि की धार से;

फरवरी १९९१

ओस का जाल दो, चांदनी डाल दो,
आदमी का हृदय सींच दो प्यार से।
शांति के हंस को, धर्म-अवतंस को,
अंक में लो, इसे प्रेम दो, मान दो;
हो जहां भी जहर, क्षीर की दो लहर,
बाण की नोक पर फूल को तान दो।

इस अभीप्सा को प्रत्युत्तर मिलता है एक विद्रूप हंसी से और शायद
समानता का प्रेमी मानव-मस्तिष्क चिल्ला उठता है :

शांति !!

कहीं दूध के बिना तरसती मानव की संतान,
कहीं क्षीर के मटके खाली करते जाते श्वान।
कहीं वसन रेशम के सस्ते, मंहगी कहीं लंगोटी,
कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी।
इस समाज की एक दवा है आग और उत्क्रांति

शांति !!

इस तरह अपने हृदय, मस्तिष्क और चेतना के सभी स्तरों से भिन्न-भिन्न
आवाजें सुनकर कवि की चेतना अस्त-व्यस्त हो जाती है और वह पुकार
उठता है :

विचारों की आंधी विकराल।

उठा रही मानस-समुद्र में चटुल ऊर्मि उताल।

हिला रही लाकर झकोर में विश्व-विटप की डाल।

टकरा रहे सपक्ष क्रुद्ध आदर्शों से आदर्श,

चढ़ता ज्यों-ज्यों समय, और बढ़ता जाता संघर्ष।

उड़ती हैं प्रत्येक दिशा में चिनगारियां कराल।

विचारों की आंधी विकराल।

कवि चारों ओर देखकर वैसे ही विचारों की आंधी में उड़ा जा रहा कि सारे संसार की स्थिति उसे युद्ध की संभावना दिखा देती है और देवता प्रकट होकर कहते हैं :

है बड़ा जोर आदर्शों का, हलचल है खूब विचारों की,
चल रही रोज ही खोज शांति के नये-नये आधारों की।
पर देखें, शांति महीतल पर किस ओर क्षितिज से आती है,
मेरी कराल दंष्ट्राओं से पृथ्वी कैसे बच पाती है ?
मेरी फुंकारों की ज्वाला, देखें, करता है कौन शमन !

मैं संग्रामों का देव मही को मरघट करने आया हूँ,
नर के मन को विद्वेष, घृणा, तृष्णा से भरने आया हूँ।
कहता हूँ, संचय करो, लूट भी, चोरी भी अर्जन ही है,
जैसे भी पाओ विभव, आत्मसुख का समस्त सर्जन ही है।
अपने विकास के लिये किये जाओ समस्त भू का शोषण।

मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नहीं होने दूंगा,
मैं विश्वदेवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूंगा।
रेखाएं खींच महीतल के सौ खंड युक्ति से काटे हैं,
देशों में अलग-अलग झंडे मैंने न व्यर्थ ही बांटे हैं।
इन झंडों के नीचे पृथ्वी भोगती रहे अंगच्छेदन।

है कहां विश्व-मानव ? जो हैं केवल स्वदेश के प्राणी हैं,
मानवता नहीं, मातृभू की महिमा के सब अभिमानी हैं।
जब तक ये झंडे फहर रहे, अभिमान नहीं यह सोता है,
देखें तो, तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहां से होता है ?
मैं राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा संमोहन ?

यह अवस्था उसका ध्यान अपने देश की ओर खींचती है और चिल्ला उठता है :

भूमिशिखर
फरवरी १९९१

यह प्रदाह ! यह रोर भयानक ! यह वेदना अशेष !
तू भी होगा सखा युद्ध का मेरे प्यारे देश ?

तृष्णा की पंकिल तरंग में तू भी खो जायेगा ?
या तेरा शुभ कलश कमल-सा ऊपर लहरायेगा ?

पड़कर इस भीषण झकोर में धीरज पाल सकेगा ?
वसुधा को विष के विवर्त से वीर ! निकाल सकेगा ?

भारत की आज जो अवस्था है वह हूबहु दिनकर के समय के भारत के जैसी ही है। इस समय लोग यही कहते रहते हैं कि एक व्यक्ति सामूहिक अव्यवस्था के सामने क्या कर सकता है ? इसका उत्तर यही है कि समय-समय पर प्रत्येक राष्ट्र के लिये ऐसी विभूतियां उतरती हैं जो केवल अपने बल-बूते पर समस्त राष्ट्र को उठा सकती हैं। अगर हम भूतकाल की ओर देखें और विदेश की ओर नजर उठाएं तो प्रज्वलित लौ की तरह जॉन ऑफ आर्क का उदाहरण सामने आता है जिसने अकेले फ्रांस को बचाया था। अगर हम भारत के निकट भूतकाल को देखें तो पर्दे के पीछे जाकर बंगाल-विभाजन को रोका था श्रीअरविंद ने और भारत के लिये दूसरे सहायक आये महात्मा गांधी। उस एक आदमी के पीछे एकदम अव्यावहारिक आदर्श अहिंसा को लेकर पूरा देश चल पड़ा और स्वाधीन होकर रहा। क्या अब कोई माई का लाल भारत की सहायता करने के लिये उठ खड़ा नहीं होगा ? हमें विश्वास है रत्नगर्भा वसुंधरा से कोई-न-कोई रत्न जरूर प्रकट होगा। वह दिन दूर नहीं जब हम संसार को हिमालय का यह संदेश दे सकेंगे :

धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।

शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है,
नहीं धर्म से बढ़कर कोई मित्र सभ्यता का है।

निरी बुद्धि के लिये भावना का मत दलन करो रे !
जो अदृश्य प्रहरी है, उससे भी तो कभी उरो रे !

शांति चाहते हो तो पहले सुमति शून्य से मांगो,
नवयुग के प्राणियो ! ऊर्ध्वमुख जागो, जागो, जागो ।
धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो ।

यहां धर्म का अर्थ संकुचित नहीं है । धर्म वह स्वधर्म है जिसके बारे में श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन को समझाते हैं । श्रीअरविंद ने उसे सनातन धर्म कहा है और उसका अर्थ उन्होंने किया है अपनी ऊंची से ऊंची संभावनाओं को चरितार्थ करने के लिये आदर्श जीवन जीने का प्रयास करना । तो हम उस धर्म को न त्यागें ।

अनुके

दैनन्दिनी

फरवरी

१. योग में यह नियम है कि अवसाद तुम्हें उदास न कर पाये । उससे हटकर खड़े रहो, उसके कारण को जानो और उसे दूर करो ।
२. कारण हमेशा तुम्हारे अंदर ही होता है, शायद कहीं पर कोई प्राणिक त्रुटि, किसी गलत गति में रस लेना, कोई छोटी-सी कामना का संतुष्ट होकर और कभी असंतुष्ट होकर तुम्हें उदास कर देती है ।
३. योग में बहुधा संतुष्ट कामना या मिथ्या गति, जिसे सिर उठाने का अवसर दिया जाता है, निराश कामना से अधिक धक्का देती है ।
४. तुम्हारे लिये जरूरी यह है कि बाहरी प्राणिक या मानसिक भागों रहने की जगह ज्यादा गहराई में रहो । अंदर रहनेवाला चैत्य बाहरी चीजों के दबाव में नहीं आता । वह भगवान् के नजदीक रहता है और इन सतही चीजों को विजातीय मानता है ।
५. यह संभव नहीं है कि आत्म-शुद्धि और परिवर्तन के काम में ठोकें

भग्नशिखर
फरवरी १९९१

लगे, स्वलन या असफलता न आयें। लेकिन उनके कारण घबरा उठना या दुःखी होना सहायता पाने की जगह हानिकर होता है।

६. अचंचलता को हमेशा बनाये रखो, उसके साथ सब कुछ समय पर, बिना किसी कठिनाई के किया जा सकता है।

७. तामसिक उदासीनता एक चीज है दुःख का अभाव दूसरी चीज। तुम्हें देखना चाहिये कि गलती कहाँ है और उसे ठीक करने के लिये पूरी कोशिश करो।

८. दुःख में गलती को ठीक करने की शक्ति नहीं होती, दृढ़, शान्त, स्थिर इच्छा में वह शक्ति होती है।

९. प्र०—अपने-आपको भूल जाने की सबसे अच्छी तरकीब क्या है ?
उ०—हमेशा ठीक चीज ठीक तरह से ठीक समय पर करो।

१०. प्रतिदिन, प्रतिक्षण हम ठीक चीज ठीक तरह करने के लिये अभीप्सा करें।

११. जब हम विक्षुब्ध न हों तभी ठीक चीज, ठीक तरह कर सकते हैं।

१२. ठीक भाव से की गयी चीज हमेशा ठीक होती है।

१३. तुम्हें हर क्षण चुनाव करना होता है, हर क्षण तुम्हें चुनाव के आगे खड़ा किया जाता है। चुनाव होगा ऊपर उठने या नीचे जाने में, आगे बढ़ने या पीछे हटने में।

१४. जब लोग कहते हैं, “मैं बुरा हूँ, मैं पापी हूँ”, तो वे हमेशा अपने-आपको ज्यादा कमजोर बना लेते हैं।

१५. तुम्हें शांति के साथ कहना चाहिये, “हां, मेरे अंदर दोष हैं, जैसे सब लोगों में होते हैं, लेकिन वे चले जायेंगे क्योंकि मैं सच्चाई से भगवान् के लिये प्रार्थना करता हूँ।”

१६. अपनी त्रुटियों के बारे में अभिज्ञ होना बहुत बड़ी प्रगति है; इससे साधना में सफलता की ओर द्वार खुलता है। खुश रहो और विश्वास रखो—सब कुछ ठीक है।

१७. काम में कठिनाइयाँ बाहरी परिस्थितियों या छोटी-मोटी घटनाओं से नहीं आती। वे भीतरी वृत्ति से, विशेषकर प्राणिक वृत्ति से आती हैं।

१८. अपने अंदर असामंजस्य को ठीक करने के लिये, उसके कारण के औरों के अंदर खोजने की जगह अपने अंदर खोजो।
१९. अहंकार ही औरों के अंदर अहंकार देखकर क्षुब्ध होता है।
२०. असफलता अक्षमता का चिह्न नहीं है, बार-बार असफलता उन्हींके मिलती है जिन्हें कोई विशेष कार्य करना होता है।
२१. जो साधारण और सामान्य प्राप्ति से संतुष्ट हो जाते हैं, वही अपने प्रयास में आसानी से सफल होते हैं। विशेष मूल्यवाले स्वभावों के बहुत-सी अग्नि-परीक्षाओं में से निकलना पड़ता है।
२२. ईर्ष्या अपने निंदा और मिथ्यापवाद के मार्ग-रक्षकों के साथ दुर्बल और तुच्छ अहं से उत्पन्न होती है।
२३. ईर्ष्या हमारे क्रोध की नहीं दया की पात्र है। हमें उसके प्रति बिल्कुल उदासीन रहना चाहिये।
२४. हमें बड़ी सावधानी के साथ ऐसी सब चीजों से दूर रहना चाहिये जिनके हमारे अंदर दिखावे का भाव पैदा करें।
२५. तुम्हें भय न करना चाहिये। भय बुरा परामर्शदाता है, वह चुम्बक की तरह काम करता है और हम जिससे डरते हैं, उसीको अपनी ओर खींचता है।
२६. हमें एक शांत निश्चिंता रखनी चाहिये कि जल्दी हो या देर में सब कुछ अच्छा होगा।
चीजें भले वैसी न हों जैसी होनी चाहियें, चिंता उन्हें सुधारने में सहायता नहीं करती। शांत विश्वास बल का मूल होता है।
२७. तुम्हें मेरी सलाह है, कष्ट में रस न लो और कष्ट तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे।
कष्ट प्रगति के लिये बिल्कुल जरूरी नहीं है। बड़ी से बड़ी प्रगति स्थिर, प्रसन्न समता से आती है।
२८. तुम अपने-आपको विश्वास दिलाने की कोशिश न करो, तुम अपने आपको प्रकाश के आगे खोलो मानों तुम अपने-आपको धूप में लीप रहे हो और प्रकाश को अपना काम करने दे रहे हो।

प्रेम, काम-वासना — प्रकृति की गतिविधियां

महान् जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर प्रेम को एक भ्रम मानता है। उसके अनुसार जब कोई युवक और युवती यह सोच एक-दूसरे को प्रेम के अतिरेक से बाहों में भरते हैं कि वे अपने ही सुख की खोज में हैं तो सचमुच बात ऐसी नहीं होती। वे केवल जाति की निर्वैयक्तिक इच्छा के कारण इस भ्रम में होते हैं कि वे एक व्यक्तिगत लक्ष्य को खोज रहे हैं ताकि और भी अधिक महान् निर्वैयक्तिक लक्ष्य को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हो सकें और वह होगा जाति की रचना। इस तरह शोपेनहावर के लिये प्रेम एक निश्चेतन बलि है जो प्रेमी लोग प्रकृति के लक्ष्यों के लिये देते हैं। यह दृष्टि कहां तक ठीक है ?



यह बिलकुल सच है, शोपेनहावर का जिस प्रेम से अर्थ है केवल उसके लिये नहीं बल्कि प्रकृति की सभी क्रियाओं और गतिविधियों के लिये भी सच है। सभी गतिविधियां प्रकृति की वैश्व शक्तियों में व्यापक गतियां होती हैं। वे वैश्व प्रकृति की गतिविधियां हैं। व्यक्ति उनमें से कोई लहर या कोई सार्वजनिक दबाव पाता है और उसके द्वारा परिचालित होता है। वह सोचता है कि यह उसकी अपनी चीज है जो उसके अंदर अलग से बनी है। लेकिन बात ऐसी नहीं है; वह एक व्यापक गतिविधि का भाग है जो उसमें दूसरों की तरह काम करती है। उदाहरण के लिये काम-वासना व्यापक प्रकृति की ऐसी गति है जो अपनी क्रीड़ा की खोज करती है और इसका या उसका उपयोग करती है। जिस पुरुष के बारे में कहा जाता है कि वह किसी नारी के साथ प्राणिक या भौतिक प्रेम में है, वह केवल सेक्स की वैश्व गति को दोहरा रहा और संतुष्ट कर रहा होता है। अगर यह नारी न होती तो कोई और होती। वह केवल प्रकृति की मशीन का एक पुर्जा है, यह कोई स्वतंत्र गति नहीं है। क्रोध तथा अन्य प्राकृतिक हेतुओं के बारे में भी यही बात है। एक सचेतन कार्यकारी शक्ति हमें आकार देती और हमारे स्वभाव द्वारा, हमारे वातावरण और इस भांति निर्मित

मानसिकता द्वारा, वैश्व ऊर्जाओं के हमारे व्यष्टिभावापन्न निरूपण द्वारा, हमारे कर्म और उनके परिणामों को आदेश देती है। सचमुच हम सोचते नहीं हैं, हम न इच्छा करते और न क्रिया करते हैं लेकिन विचार हमारे मन में आता है, इच्छा हमारे अंदर आती है, आवेश और क्रिया हमारे अंदर आते हैं; हमारा अहं-भाव इस सारी प्राकृतिक क्रियावलियों के प्रवाह को अपने चारों ओर इकट्ठा करता है और अपने सुपुर्द करता है। सार्वभौम शक्ति, प्रकृति ही विचारों का निर्माण करती इच्छा को आरोपित करती और आवेश प्रदान करती है। हमारा शरीर, मन और अहंकार क्रिया में लगे हुए शक्ति के सागर की लहर हैं। वे उस पर शासन नहीं करते बल्कि उससे शासित और संचालित होते हैं।

वैश्व प्रकृति व्यक्ति में वैश्व सेक्स-ऊर्जा की क्रियाओं द्वारा कौन-सा कार्य संपादित करती है ?

पार्थिव सेक्स गतिविधि प्रकृति द्वारा मूल भौतिक ऊर्जा का प्रजनन के उद्देश्य हेतु उपयोग है और सेक्स-ऊर्जा अपने सच्चे स्वभाव के अनुसार जीवन का मूलभूत ऊर्जा है। भौतिक सृजन की व्यवस्था में इस तरह अज्ञान में पाशविक सेक्स-ऊर्जा की क्रिया एक उद्देश्य विशेष के लिये साधन है। यह एक महान शक्ति है जिसके भौतिक आधार में दो घटक हैं, एक प्रजनन और उसके लिये आवश्यक प्रक्रिया के लिये है और दूसरा शरीर, मन, प्राण की सामान्य ऊर्जाओं को और साथ ही शरीर की आध्यात्मिक ऊर्जाओं को पुष्ट करने के लिये है। इस भांति सेक्स-ऊर्जा शरीर में सभी आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक और भौतिक शक्तियों का सम्बल है; अतः उसका दुरुपयोग जीवन की ऊर्जाओं और शक्तियों को अव्यवस्था और विघटन में बदल देता है।

काम-वासना की मानव प्रकृति पर इतनी जोरदार पकड़ क्यों है ? जब उसमें रस लेना घृणा की प्रतिक्रिया लाता है फिर भी उसकी पकड़ से मुक्त होना इतना कठिन क्यों है ?

क्योंकि काम-वासना प्राणमय स्तर पर सबसे बड़ी शक्ति है। उसके साथ

फरवरी १९९१

जो रोमांच आता है वह दिव्य आनंद का बहुत स्थूल विकार और पतन होता है। उसके साथ जो सुख लगा रहता है वह ऐसा प्रलोभन है जिसके द्वारा प्रकृति प्राण को इस अन्यथा अप्रिय कार्य के लिये राजी कर लेती है। काफी संख्या में लोग होते हैं जिन्हें काम-केलिके बाद घृणा और इससे अपने साथी से जुगुप्सा होती है लेकिन वे घृणा के घिस जाने पर प्रलोभन के लिये फिर से उसी ओर लौटते हैं।

यह एक सामान्य मान्यता है कि नारियों की अपेक्षा पुरुषों में काम-वासना अधिक प्रबल होती है। इस मान्यता में सच क्या है ?

ऐसा कोई व्यापक नियम नहीं है। स्त्रियां भी पुरुषों की जितनी या उनसे भी बढ़कर कामुक हो सकती हैं। ऐसी बहुत-सी स्त्रियां हैं जिन्हें सेक्स की क्रिया नापसंद है पर ऐसे पुरुष कम ही होते हैं। लाखों करोड़ों में कहीं कोई एक शुक्देव होता है परंतु डिआना और पालास ऐथिनी कम ही होती हैं। वास्तव में कौमार्य एक नारीगत कल्पना है, पुरुष शाश्वत कौमार्य के भाव से बिदकते हैं। यदि पुरुष नारी पर सेक्स-भावना न ठूसें तो शायद बहुत-सी नारियों में यह भावना कभी न जागे, लेकिन यह बात बहुत-से या शायद किसी पुरुष के बारे में नहीं कही जा सकती। लेकिन चित्र का एक और पहलू भी है—सब मिलाकर शायद स्त्रियां पुरुषों से भौतिक रूप में कम कामुक होती हैं लेकिन उनकी प्राणिक कामुकता के बारे में क्या ? जिसमें अधिकार करने और अधिकृत होने का भाव, इत्यादि, इत्यादि होता है ?

भौतिक प्रेम और प्राणिक प्रेम में क्या फर्क है ?

ये दोनों एक ही नहीं हैं, प्राण के लिये यह संभव है कि वह प्रेम के बिना ही विभिन्न प्राणिक कारणों से किसी नारी को चाहे—अधिकार करने या वश में करने की वृत्ति के लिये, अपने प्राण को पोषित करने के लिये नारी की प्राणिक शक्तियों को खींचने के लिये, प्राणिक शक्तियों के आदान-प्रदान

के लिये, गर्व को संतुष्ट करने के लिये, शिकारी की तरह पीछा करने के लिये आदि आदि (यह पुरुष के दृष्टिकोण से है पर स्त्री के अपने प्राणिक प्रयोजन होते हैं) इसे प्रायः प्रेम कहा जाता है परंतु यह केवल प्राणिक इच्छा, एक तरह की कामुक लालसा। लेकिन अगर हृदय के भाव जाग जायें तो वह प्राणिक प्रेम बन जाता है—एक ऐसा मिश्रित मामला जिसमें ये सब या इनमें से कोई प्राणिक हेतु मिला होता है—प्रबल फिर भी प्राणिक प्रेम।

लेकिन भौतिक प्रेम इससे भिन्न होता है, वह सौंदर्य का आकर्षण होता है, भौतिक सेक्स-आकर्षण हो सकता है या इस तरह की कोई और चीज हो सकती है जो हृदय के भावों को जगाती है। अगर यह न हो तो भौतिक आवश्यकता ही सब कुछ होती है और यह निरी कामुकता है, और कुछ भी नहीं। लेकिन कामुकता के बिना भी प्राणिक प्रेम संभव है।

प्रेम सचमुच हृदय की क्रिया है; तब फिर मानसिक प्रेम जैसी चीज कैसे हो सकती है ?

क्यों नहीं ? मन विचार और दर्शन का स्थान है, हृदय प्रेम का और प्राण कामना का आसन है—लेकिन यह चीज मानसिक प्रेम के अस्तित्व को भला कैसे रोक सकती है ? जैसे मन पर भावात्मक या प्राण के भावों का आक्रमण हो सकता है, उसी तरह हृदय पर भी मन का आधिपत्य हो सकता है और वह मानसिक शक्तियों से परिचालित हो सकता है। इस तरह ऐसा मानसिक प्रेम हो सकता है जो अपने आदर्श को दूसरे के अंदर पाने के प्रयास से उठता है या किसी सराहना या आश्चर्य के प्रबल मानसिक आवेग से या मन द्वारा साथी की खोज से जो उसका सहधर्मी, पथ-प्रदर्शक, सहायक, नेता या स्वामी हो—ऐसे ही सैकड़ों मानसिक हेतु हो सकते हैं। अपने-आपमें यह प्रेम नहीं, यद्यपि कई बार यह इतना तीव्र होता कि इसे मुश्किल से ही प्रेम से अलग किया जा सकता है, यहांतक कि यह जीवन का बलिदान करने, पूरी तरह से आत्मोत्सर्ग करने की ओर भी प्रवृत्त हो सकता है। लेकिन जब वह हृदय के भावों को जगाता है तो बहुत प्रबल

फरवरी १९९१

प्रेम की ओर ले जा सकता है जो अपने मूल और विशेष स्वभाव के अनुसार मानसिक ही होता है। सामान्यतः मन और प्राण इसमें मिलकर रहते हैं।

अधिकतर आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि पुरुष और स्त्री के बीच सेक्स-कामना के बिना प्रेम हो ही नहीं सकता। कुछ का तो यहांतक कहना है कि प्रेम सेक्स के सिवा कुछ है ही नहीं। क्या सेक्स के हस्तक्षेप के बिना प्रेम का तीव्र संबंध नहीं हो सकता?

यह अज्ञान-भरा मनोविज्ञान ही हर चीज में सेक्स-हेतु और सेक्स-आवेश को ले आता है। यद्यपि सेक्स-कामना पुरुष और स्त्री के प्रगाढ़ प्रेम के संबंधों में घुस आती है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह अनिवार्य है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसी अनेक नारियां हैं जो मन, चैत्य और प्राण (हृदय) द्वारा प्रेम कर सकती हैं लेकिन वे शारीरिक स्पर्श से कतराती हैं और जब यह जुगुप्सा भी चली जाती है तब भी शारीरिक क्रिया उनके लिये घिनौनी रहती है। वे दबाव के आगे झुक सकती हैं लेकिन फिर भी इस क्रिया के साथ समाधान नहीं कर सकतीं। वह उनके लिये पाशविक और गिरानेवाली बनी रहती है। प्रबल मानसिक या प्राणिक प्रेम भौतिक क्रिया और उसकी संगत की चीजों के साथ अनिच्छा या स्पष्ट नफरत के साथ रह सकता है। निस्संदेह अगर पुरुष जोर डाले तो स्त्री सम्भवतः झुक भी जायेगी परंतु यह होगा उसके हृदय के विरुद्ध, उसकी भावनाओं और गहरी आंतरिक वृत्तियों के विरुद्ध। स्त्रियां इस बात को जानती हैं लेकिन ऐसा लगता है कि पुरुषों को इस पर विश्वास करना बहुत कठिन लगता है; पर है यह पूरी तरह सच।

*

फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार बालज़ाक की राय थी कि काम-केलि उच्च

स्तर के मानसिक क्रिया-कलाप में बहुत बाधक होती है। उसके अनुसार प्रतिभावान् व्यक्ति मन्द-काम होता है। जब वह दोनों प्रकार का जीवन बिताने की कोशिश करता है—बौद्धिक जीवन और काम-प्रधान जीवन—तो प्रतिभावान् व्यक्ति मर जाता है जैसे राफैल और लार्ड बाइरन मर गये। इस भांति हैवलैक एलिस, जो दुनिया भर में सेक्स के बारे में सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है, वह भी कहता है कि कलात्मक और मानसिक क्षमताएं और शक्तियां बढ़ाने के लिये काम-क्रीड़ा को संयत करना पड़ता है, उसका कहना है कि “मस्तिष्क और सेक्स के अंग बड़े प्रतिस्पर्धी हैं जो शारीरिक ऊर्जा का उपयोग करते हैं और अत्यधिक मानसिक ओज और अत्यधिक सेक्स-ऊर्जा में विरोध है, यद्यपि वे दोनों एक ही व्यक्ति में अलग-अलग समय प्रकट होते हैं।” हम इस चीज को मोज़ार और बीठोवन जैसे महान् कलाकारों के जीवन में पाते हैं जिनके जीवन में काम केलि का स्थान साधारण मनुष्य के जीवन की अपेक्षा बहुत कम था। इससे ऐसा मालूम होता है कि काम-ऊर्जा को उच्चतर बौद्धिक और सौन्दर्यबोधात्मक शक्ति-संचार और तीव्रीकरण के लिये संरक्षित रखना ज्यादा जरूरी है। यह दृष्टि कहांतक न्यायसंगत है ?



यह ठीक है—काम-ऊर्जा को नियंत्रित और काम के प्रयोजन से हटाकर सौन्दर्यबोधात्मक, कलात्मक या अन्य प्रकार के सर्जन और उत्पादन के लिये या बौद्धिक या अन्य ऊर्जाओं के ऊंचा उठाने के लिये किया जा सकता है। पूरी तरह से नियंत्रित हो तो इस आध्यात्मिक ऊर्जा की शक्ति में भी बदला जा सकता है। प्राचीन भारत में यह बात भली-भांति ज्ञात थी और इसे ब्रह्मचर्य द्वारा रेतस् का ओजस् परिवर्तन कहा जाता था। रेतस् या सेक्स-द्रव में दो तत्त्व होते हैं, एक काम के हेतु, दूसरा सामान्य व्यापक ऊर्जा का आधार। अगर काम-क्रीड़ा में रेतस् न लिया जाये और रेतस् को खर्च होने से बचाया जाये तो वह ओजस् में बदल जाता है। योगियों ने ब्रह्मचर्य का सारा सिद्धांत इसी आधार पर प्रतिष्ठित किया है। यूरोप के वैज्ञानिकों ने साधारणतः इसका मजाक उड़ा

फरवरी १९९१

लेकिन अब वे भी अपने-आप इस सिद्धांत का आविष्कार करने लग गये हैं।

बहुत-से प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक, डॉक्टर और विचारक यह सोचते हैं कि सेक्स से पूरी तरह दूर रहना खतरनाक है और उसके कारण गंभीर स्नायविक कष्ट, यहांतक कि मानसिक विक्षिप्तता तक आ सकती है। उनका कहना है कि सेक्स की ऊर्जा के उदात्तीकरण से ऊर्जा के जो नये रूप पैदा होते हैं वे हानिकार हो सकते हैं और दूषण तथा विकारों को पैदा कर सकते हैं। उदाहरण के लिये रेने गीयों कहता है, "जब काम-वासना को दबाया जाता है, उसके आवेश को कुचला जाता है तो वह कोई और मार्ग खोजने के लिये बाधित हो जाती है... परंतु यह जरूरी नहीं है कि यह बदला उपयोगी, उत्कृष्ट या प्रशंसनीय हो। वह हानिकार और नाशक भी हो सकता है।" यह कहांतक ठीक है ?

यह एक तथ्य है कि यदि सेक्स को बाहरी क्रिया में तो दबाया जाये परंतु अन्य रूपों में उसका मजा लिया जाये तो शरीर और मस्तिष्क में अव्यवस्था पैदा हो सकती है। चिकित्सा-शास्त्र के उस सिद्धांत की यही जड़ है जो ब्रह्मचर्य को हतोत्साह करता है। लेकिन ये चीजें केवल तभी होती हैं जब विकृत गुप्त अति-भोग सामान्य सेक्स-क्रिया का स्थान ले ले या कल्पना द्वारा, अदृश्य गूढ़ प्रकार के आदान-प्रदान में सूक्ष्म प्राणिक अति-भोग हो। जब सेक्स से दूर रहने का या उस पर वश पाने का सच्चा प्रयास हो तो कभी कोई हानि नहीं हो सकती। अब बहुत-से यूरोपीय डॉक्टरों ने भी यह मान लिया है कि यदि काम-वासना का सच्चा संयम हो तो वह लाभदायक होता है।

मानस-विश्लेषण की फ्रायड की पद्धति ने बहुत-से शारीरिक और मानसिक विकारों का कारण दबी हुई काम-वासना को बतलाया है। इस पद्धति की बातें कहांतक ठीक हैं ?

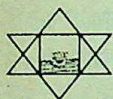
फ्रायड का मानस-विश्लेषण प्रकृति के एक अंग को ले लेता है जो सबसे अधिक अंधेरा, सबसे अधिक खतरनाक और सबसे अधिक अस्वास्थ्यकर होता है... आधुनिक मनोविज्ञान एक बचकाना विज्ञान है एकदम असंयत, लड़खड़ाता हुआ और अनगढ़। सभी बचकाने विज्ञानों की तरह इसकी भी आदत है एक आंशिक या एकांगी स्थानीय सत्य को लेकर उसे अनुचित रूप से व्यापक बनाना, प्रकृति के सारे क्षेत्र की व्याख्या अपने संकुचित शब्दों में करना—इससे तहलका मच जाता है। और फिर दबाय हुई काम-वासना की जटिलताओं के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ा कर कहना एक खतरनाक मिथ्यात्व है और उसका बहुत बुरा प्रभाव हो सकता है और व मन और प्राण को पहले से कम नहीं, अधिक आधारभूत रूप में अशुद्ध बना सकता है।

भागवत प्रेम को कैसे पाया जाये



तुम अपनी प्रकृति में दिव्य बनकर ही दिव्य प्रेम कर सकते हो; और कोई मार्ग नहीं है।

*



जो प्रेम भगवान् की ओर अभिमुख होता है उसे वह सामान्य प्राणिक भाव न होना चाहिये जिसे लोग यह नाम देते हैं क्योंकि वह प्रेम नहीं केवल प्राणिक कामना है, एक हड़पने की वृत्ति है, हथिया लेने और एकाधिकार करने का आवेश है। केवल यही नहीं कि यह भागवत प्रेम नहीं है बल्कि इसे जरा-सी मात्रा में भी योग के साथ न मिलने देना चाहिये। भगवान् के लिये सच्चा प्रेम है मांग से मुक्त, उत्साह और समर्पण से भरा हुआ आत्मोत्सर्ग। वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त नहीं लगाता, लेन-देन नहीं करता, ईर्ष्या, गर्व या क्रोध की उग्रता में रस नहीं

लेता—क्योंकि ये चीजें उसके संघटन में नहीं हैं। बदले में दिव्य जननी भी अपने-आपको आन्तरिक दान के रूप में देती हैं। वे तुम्हारे मन में, तुम्हारे प्राण में, तुम्हारी भौतिक चेतना में अपनी उपस्थिति पूरी तरह से भर देती हैं, उनकी शक्ति दिव्य प्रकृति में तुम्हारा पुनर्निर्माण करती है, तुम्हारी सत्ता की समस्त गतिविधियों को लेकर उन्हें पूर्णता और परिपूर्णता की दिशा में ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें घेर लेता है और अपनी भुजाओं में उठाकर भगवान् की ओर ले जाता है। तुम्हें इस चीज को अपने सभी अंगों में, अत्यंत जड़ भौतिक तक में अनुभव करने के लिये अभीप्सा करनी चाहिये और यहां समय या पूर्णता की कोई सीमा नहीं है। अगर तुम सचाई के साथ इसके लिये अभीप्सा करो और इसे पा लो तो फिर किसी मांग या विफल मनोरथ के लिये स्थान नहीं रह सकता और अगर तुम सचाई के साथ अभीप्सा करो तो जैसे-जैसे शुद्धि बढ़ती जायेगी और प्रकृति में आवश्यक परिवर्तन आता जायेगा, तुम उसे निश्चित रूप से पा लोगे।

अपने प्रेम को समस्त स्वार्थपूर्ण दावों और कामना से शुद्ध रखो तो तुम देखोगे कि उत्तर में तुम उतना पूरा प्रेम पा रहे हो जितना तुम सह सकते हो और आत्मसात् कर सकते हो।

*



तुम जिससे प्रेम करते हो उसके सादृश्य में बढ़ते जाते हो।

*

वह किस तरह का प्रेम है जो कहता है, “अगर तुम मुझसे प्यार करो तो मैं तुमसे प्यार करूंगा !”



“तुम मुझसे प्यार करो तो मैं तुमसे प्यार करूंगा ?” आदमी ठीक इसी तरीके से कहते हैं, “अगर तुम मुझसे प्यार करो तो मैं तुमसे प्यार करूंगा, अगर तुम मुझसे प्यार न करो तो मैं तुमसे प्यार न करूंगा।” यह बिलकुल सामान्य मानव प्रेम की अभिव्यक्ति

है। यह और भी आगे जाता है, वे इसी सूत्र को भगवान् पर भी लगा रहे हैं। वे भगवान् से कहते हैं, “मैं जो चाहता हूँ वह कर दो तो मैं कहूँगा कि तुम मुझसे प्यार करते हो और मैं भी तुमसे प्यार करूँगा। लेकिन अगर तुम वह न करो जो मैं चाहता हूँ तो मैं यह न सोचूँगा कि तुम मुझसे प्यार करते हो और तब निश्चय ही मैं भी तुमसे प्यार न करूँगा।”

तो बात ऐसी है, दूसरे शब्दों में कहें तो यह व्यापार हो जाता है।

लेकिन “अगर तुम मुझसे प्यार न करो तो भी मैं तुमसे प्यार करूँगा ?”

यह ज्यादा अच्छा होना शुरू होता है।

और भी अधिक अच्छा यह है कि यह पूछो ही नहीं कि तुमसे प्यार किया जाता है या नहीं, तुम्हारे लिये इसका कोई मूल्य नहीं। और सच्चा प्रेम इसी तरह शुरू होता है : तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो इसलिये नहीं कि तुम अपने प्रेम का उत्तर पाते हो, या वह दूसरा पक्ष तुमसे प्यार करता है। ये सब शर्तें प्रेम नहीं हैं। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार किये बिना रह नहीं सकते। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो। तुम इसकी परवाह नहीं करते कि क्या होगा, तुम प्रेम करने के भाव पूरी तरह संतुष्ट होते हो। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो।

बाकी सब प्रेम नहीं व्यापार है।

और फिर एक चीज निश्चित है : जिस क्षण तुम सच्चे प्रेम में प्रवेश करते हो तुम प्रश्न करना बंद कर देते हो। प्रश्न करना तुम्हें बचकाना, बेतुक नगण्य लगता है। सच्चे प्रेम में प्रवेश करते ही तुम आनंद और उपलब्धि की पूरी परिपूर्णता में पहुँच जाते हो, तुम्हें किसी उत्तर की जरूरत नहीं रहती तुम स्वयं प्रेम होते हो, और बस। तुम्हें प्रेम में संतोष की पूर्णता प्राप्त हो गई है। उसमें किसी पारस्परिकता की जरूरत ही नहीं रहती।

मैं तुमसे कहती हूँ जबतक तुम्हारे मन में, तुम्हारी भावनाओं में या तुम्हारे संवेदनों में हिसाब-किताब रहता है, तुम मानो या न मानो, जबतक हिसाब-किताब रहता है, तबतक वह प्रेम नहीं सौदा होता है।

तुम नहीं समझ पाते ? ... मैं आशा करती हूँ कि एक दिन समझ जाओगे।

बाकी सब वह है जो मनुष्य ने प्रेम को बना रखा है और तब वह बहुत सुन्दर नहीं रहता और वह तुम्हें सब प्रकार की चीजों की ओर ले जाता है जो और भी कम सुन्दर होती हैं, उदाहरण के लिये, ईर्ष्या, द्वेष और उग्र स्वभाववालों में यह चीज घृणा तक जा पहुँचती है। छोटा-सा आरंभ यून होता है : जब मैं प्यार करता हूँ तो जिस चीज से या जिस सत्ता से प्यार करता हूँ उसे पता होना चाहिये कि उससे प्यार किया जा रहा है ... भगवान् के साथ संबंध में भी : तुम भगवान् से प्यार करते हो लेकिन तुम्हें आग्रह होता है कि भगवान् को यह पता हो कि तुम उनसे प्यार करते हो। यह नीचे लुढ़कने का आरंभ है, तुम सच्ची चीज के बारे में सोचते तक नहीं। वह मन को छूती भी नहीं।

तुम सोचते नहीं, तुम प्यार करते हो और बस। तुम प्रेम करते हो और तुम प्रेम की प्रचुरता में रहते हो, प्रेम के तीव्र आनंद में रहते हो और बस।

मनुष्य जिसे प्रेम कहता है उससे सच्चा प्रेम बहुत दूर है, बहुत दूर।

मैं तुम्हें उन धिनौने रूपों की बात नहीं बता रही जो यह प्रेम, साधारण मानव चेतना में लेता है। मैं सर्वोत्तम परिस्थितियों की बात कह रही हूँ, जब प्रेम अपनी अच्छी-से-अच्छी स्थिति में होता है, यहांतक कि अपने सबसे अधिक निःस्वार्थ रूप में होता है। अगर तुम मनुष्यों से पूछो तो मैं नहीं जानती कि कितने प्रतिशत ऐसे निकलेंगे जो प्रेम में बदले की परवाह नहीं करते। मैं उनकी बात नहीं कह रही जो कहते हैं, “अगर तुम मुझसे प्यार करो तो मैं तुमसे प्यार करूँगा।” ये सोपान में बहुत नीचे होते हैं, लगभग गढ़े के अंदर ... लेकिन इनसे नीचे भी हैं वे जो कहते हैं, “मुझसे प्यार करो, मैं देखूँगा कि क्या मैं तुमसे प्यार करता हूँ।” इस स्तर पर तुम ऐसे लोगों को पाते हो जो बिलकुल घृणित हैं। मैं बदला-बदली की आवश्यकता की बात कर रही हूँ : उतरती हुई सीढ़ी पर यह पहला डण्डा है।

यह कहा गया है “भागवत प्रेम के बारे में सचेतन होने के लिये अन्य

सभी प्रकार के प्रेम को त्यागना जरूरी है।" अन्य प्रेम को त्यागने का तरीका कौन-सा है, वह इतना आग्रही होता है कि हमें आसानी से कभी छोड़ता ही नहीं।

चले चलो।

चले चलो, देखो कि पीछे क्या है। आभासों पर न रुक जाओ, बाहरी रूप से संतुष्ट न होओ, इस प्रेम के पीछे जो सारतत्त्व है उसे देखो; जबतक इस भाव के मूल को न पकड़ लो तबतक न रुको। तब बाहरी रूप अपने-आप झड़ जायेगा और तुम उस दिव्य प्रेम के संपर्क में होगे जो हर चीज के पीछे है।

यह सबसे अच्छा उपाय है।

एक को पाने के लिये दूसरे का त्याग करना बहुत कठिन है। यह लगभग असंभव है। कारण, मानव प्रकृति इतनी सीमित है, परस्पर विरोधों से इतनी भरी और ऐकात्मिक है कि अगर तुम प्रेम के निचले रूपों को त्यागना चाहो यानी उस मानव प्रेम को जिसे मनुष्य अनुभव करते हैं, अगर तुम उसे त्यागने के लिये आंतरिक प्रयास करो तो तुम साधारणतः प्रेम अनुभव करने की क्षमता को ही पूरी तरह खो बैठते हो और एक पत्थर की न्याई बन जाते हो। और तब कभी-कभी फिर से अपने अंदर प्रेम को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की शक्ति को जगाने के लिये तुम्हें बरसों और कभी-कभी शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

अतः, सबसे अच्छा तरीका यह है कि जब प्रेम किसी भी रूप में आये तो उसके बाहरी रंग-रूप में छेद करके उसके पीछे स्थित भागवत तत्त्व को खोजा जाये जिसके कारण उसका अस्तित्व है। यह फंदों और कठिनाइयों से भरा है पर है सबसे अधिक प्रभावशाली। मतलब यह कि गलत तरीके से प्रेम करने के कारण प्रेम ही को बंद कर देने की जगह गलत तरीके से प्रेम करना बंद करके ठीक तरह प्रेम करने की तरकीब खोजी जाये।

उदाहरण के लिये अपने सभी रूपों में मनुष्यों का प्रेम, बच्चों के लिये मां-बाप का प्रेम, मां-बाप के लिये बच्चों का प्रेम, भाई-बहनों का, मित्रों

और प्रेमि
सामान्य
जगह, उ
हृदय को
ज्यादा उ
स्वार्थ-त्य
विकृतिय
अधिकार
जो इन
अपनी ह
चाह न
उत्तर के
अपने ही
करके उ
चाहिये।
अगर
वृत्ति द्वा
एक दिन
भागवत
हो रहा
तो
केवल
भी। अ
साथ स्
बिना अ
अपने उ
एकदम
योग

फरवरी १९११

और प्रेमियों का प्रेम, हर जगह अज्ञान और स्वार्थ से, मनुष्यों के अन्य सभी सामान्य दोषों से दूषित होता है। अतः, प्रेम करना पूरी तरह बंद कर देने की जगह, और यह करना है भी बहुत कठिन, जो श्रीअरविंद के अनुसार केवल हृदय को सुखा देता है और कोई उपयोगी प्रयोजन सिद्ध नहीं करता, तुम्हें ज्यादा अच्छी तरह प्रेम करना सीखना चाहिये; तुम्हें भक्ति, आत्मोत्सर्ग, स्वार्थ-त्याग के साथ प्रेम करना चाहिये, स्वयं प्रेम के विरुद्ध नहीं, उसकी विकृतियों के विरुद्ध लड़ना चाहिये, सब तरह के हड़पने, आसक्ति, अधिकार जमाने, ईर्ष्या तथा ऐसी उन सब चीजों के विरुद्ध लड़ना चाहिये जो इन मुख्य चीजों के साथ आती हैं। अधिकार जमाने, शासन करने, अपनी ही इच्छा आरोपित करने, अपनी सनक और कामना पूरी करने की चाह न होनी चाहिये, लेने और ग्रहण करने की जगह देना चाहिये, दूसरे के उत्तर के लिये आग्रह न करके स्वयं अपने ही प्रेम से संतुष्ट रहना चाहिये, अपने ही हित और निजी प्रसन्नता और निजी कामनाओं की पूर्ति की चाह न करके अपना प्रेम और स्नेह देकर, उत्तर की मांग किये बिना संतुष्ट रहना चाहिये। केवल प्रेम करके सुखी रहना चाहिये, इससे अधिक कुछ नहीं।

अगर तुम ऐसा कर लो तो तुम एक बड़ा कदम उठा लोगे और इस वृत्ति द्वारा, थोड़ा-थोड़ा करके, स्वयं इस भाव में प्रगति करते जाओगे और एक दिन यह खोज पाओगे कि प्रेम कोई व्यक्तिगत चीज नहीं है, यह वैश्व भागवत भाव है जो तुम्हारे द्वारा कमोबेश भली-भांति प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है, परंतु सारतः वह दिव्य वस्तु ही है।

तो पहला कदम है स्वार्थी न रहना। हर एक के लिये यही बात है, केवल उनके लिये नहीं जो योग करना चाहते हैं बल्कि सामान्य जीवन में भी। अगर तुम सच्ची तरह प्रेम करना चाहते हो तो तुम्हें विशेषतः स्वार्थ के साथ स्वयं अपने साथ प्रेम न करना चाहिये। तुम्हें बदले में कुछ भी चाहे बिना अपने-आपको अपने प्रेम-पात्र के अर्पित कर देना चाहिये। यह स्वयं अपने ऊपर विजय पाने के लिये, एक ऐसा जीवन बिताने के लिये जो एकदम स्थूल नहीं है, एक प्रारंभिक अनुशासन है।

योग के लिये कोई और चीज भी जोड़ी जा सकती है। यह है जैसा कि

मैंने शुरू में कहा था, इस सीमित मानव प्रेम को छेदकर, उस भागवत प्रेम के तत्त्व को खोज निकालने की इच्छा जो पीछे उपस्थित रहता है। तब परिणाम तक पहुंचना निश्चित है। वह हृदय को सुखा देने से ज्यादा अच्छा है। यह शायद कुछ अधिक कठिन है, लेकिन यह हर हालत में ज्यादा अच्छा है, क्योंकि इस तरह अहंकार के साथ औरों को कष्ट देने की जगह, तुम उन्हें अपनी गति और अपने प्रयास में चुपचाप छोड़ सकते हो और उन पर अपनी इच्छा नहीं लादते। साधारण जीवन में भी यह किसी अधिक ऊंची चीज की ओर, जरा अधिक सामंजस्यपूर्ण चीज की ओर एक कदम आगे बढ़ना होगा।

हम भागवत प्रेम के बारे में सचेतन कैसे हो सकते हैं और उसकी अभिव्यक्ति के यंत्र कैसे बन सकते हैं ?



सबसे पहले, किसी भी चीज के बारे में सचेतन होने के लिये जो चीज जरूरी है वह है, उसके लिये इच्छा। जब मैं “इच्छा करने” की बात कहती हूँ तो उसका मतलब यह नहीं है कि एक दिन तो तुम कहो, “मैं ऐसा चाहूंगा” और दो दिन बाद सब कुछ भूल जाओ।

इच्छा अर्थात् संकल्प है सतत, अविच्छिन्न, एकाग्र अभीप्सा, चेतना की एक लगभग ऐकान्तिक तल्लीनता। यह पहला कदम है। और भी कई कदम हैं, बहुत सावधानी के साथ अवलोकन, अविच्छिन्न विश्लेषण, किसी गति में क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध इसमें सावधानी-भरा विवेक। अगर तुम्हारे अंदर कल्पना की क्षमता है तो पहले तुम कल्पना कर सकते हो और फिर देख सकते हो कि क्या तुम्हारी कल्पना वास्तविकता के साथ मेल खाती है।

ऐसे लोग हैं जो सोचते हैं कि इतना काफी है कि एक दिन किसी विशेष मनोदशा में जागकर कहा जाये, “आह, मैं भागवत प्रेम के बारे में सचेतन होना चाहूंगा, मैं चाहूंगा कि भागवत प्रेम को प्रकट कर सकूँ।” ... पता

नहीं आ
का अनु
अधिका
भागवत
है !” य
भी पहल
की शु
करना उ
तैयार ह
अपने-उ
पाओगे
तुम्हारे
करता है
बढ़े बि
अलग
अध्यव
पाते हो
हो तो
चट्टान
शिखर
भी नहीं
दूर हो
मनुष्य
मिल स
निर्वैय
संवेदन

कय

नहीं आदमी अपने अंदर लाखों, करोड़ों कितनी बार मानव वृत्ति के उद्भावन का अनुभव करता है और कल्पना करता है कि अगर भागवत प्रेम उसके अधिकार में होता तो वह बड़ी-बड़ी चीजें कर पाता और वह कहता है, "मैं भागवत प्रेम को खोजने की कोशिश करूंगा, फिर देखें क्या परिणाम आता है !" यह सबसे बुरा तरीका है, क्योंकि तुम उपलब्धि के प्रारंभ को छूने से भी पहले परिणाम को बिगाड़ देते हो। तुम्हें अपनी खोज के लिये अभीप्सा की शुद्धि और समर्पण-भाव से चलना चाहिये और इन दोनों को प्राप्त करना अपने-आपमें बहुत कठिन है। उस प्रेम की अभीप्सा करने के लिये तैयार होने से पहले तुम्हें बहुत अधिक कार्य करना होता है। अगर तुम अपने-आपको बहुत सचाई, निष्कपटता से एकदम सीधा देखो तो तुम पाओगे कि जैसे ही तुम प्रेम के बारे में सोचना शुरू करते हो कि हमेशा तुम्हारे अंदर का भंवर ऊपर उठ आता है। जो कुछ तुम्हारे अंदर अभीप्सा करता है वह कुछ स्पंदनों की कामना करता है। योग-मार्ग पर बहुत आगे बढ़े बिना, तुम्हारी प्रेम की धारणा से प्राणिक सारतत्त्व, प्राणिक स्पंदन को अलग करना लगभग असंभव है। मैं जो कह रही हूँ वह मनुष्यों के साथ अध्यवसायी अनुभव पर आधारित है। हां, तुम अपने-आपको जिस दशा में पाते हो, अभी तुम जैसे हो, अगर शुद्ध भागवत प्रेम के साथ तुम्हारा संपर्क हो तो वह तुम्हें बरफ से ज्यादा ठंडा लगेगा, या इतनी दूर, इतनी खड़ी चट्टान की तरह लगेगा कि तुम सांस भी न ले सकोगे; वह एक पर्वत-शिखर की तरह होगा जहां तुम्हें लगेगा कि तुम जमे जा रहे हो और सांस भी नहीं ले पा रहे हो; तुम सामान्यतः जो अनुभव करते हो उससे यह इतनी दूर होगा। अगर भागवत प्रेम चैत्य या प्राणिक स्पंदनों से आवृत न हो तो मनुष्य को मुश्किल से ही दिखायी देगा। तुम्हें भागवत कृपा का संवेदन मिल सकता है, ऐसी कृपा का जो बहुत दूर, बहुत ऊंची, इतनी शुद्ध, इतनी निर्वैयक्तिक है कि... हां तुम्हें उसका संवेदन मिल सकता है परंतु प्रेम का संवेदन बहुत कठिनाई से प्राप्त होता है।

क्या यह कहा जा सकता है कि चैत्य स्पंदन भागवत प्रेम का स्पंदन है ?

तुममें से हर एक को अपने चैत्य के साथ संपर्क स्थापित कर सकना चाहिये, वह पहुंच के बाहर नहीं है। तुम्हारे अंदर चैत्य ठीक इसीलिये है ताकि तुम्हारा भागवत शक्तियों के साथ नाता जुड़ सके। और अगर तुम्हारा अपनी चैत्य सत्ता के साथ संपर्क है तो तुम अनुभव करने लगते हो, तुम्हारे अंदर एक प्रकार की धारणा होती है कि भागवत प्रेम क्या हो सकता है। जैसा कि मैंने अभी कहा, यह काफी नहीं है कि तुम एक सुहावने सबेरे उठकर कहो, “मैं भागवत प्रेम के साथ नाता जोड़ना चाहता हूं।” इस तरह से नहीं। अगर लगातार प्रयास, तीव्र एकाग्रता और महान् आत्म-विस्मृति द्वारा तुम अपनी चैत्य सत्ता के साथ संपर्क स्थापित करने में सफल हो जाओ तब तुम्हें यह न सोचना होगा, “ओह, मैं भागवत प्रेम के साथ संबंध जोड़ना चाहता हूं”—तब तुम ऐसी स्थिति में होते हो कि तुम्हें लगता है कि सब कुछ भागवत प्रेम है, और कुछ है ही नहीं। लेकिन फिर भी यह एक लबादा है, भले ज्यादा बढ़िया प्रकार का क्यों न हो।

तो हमें दिव्य प्रेम की खोज चैत्य सत्ता से अलग होकर नहीं करनी चाहिये ?

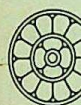
नहीं अपनी चैत्य सत्ता को पा लो और तुम समझ जाओगे कि भागवत प्रेम क्या है... सीधा भागवत प्रेम के साथ नाता जोड़ने की कोशिश न करो क्योंकि यह फिर भी एक प्राणिक कामना ही होगी जो तुम्हें आगे धकेलेगी। शायद तुम इसके बारे में सचेतन न हो फिर भी वह प्राणिक कामना ही होगी।

तुम्हें अपनी चैत्य सत्ता के साथ संपर्क जोड़ने के लिये कोशिश करनी होगी ताकि तुम अपनी चैत्य सत्ता की चेतना में सचेतन और मुक्त रह सको और तब बिलकुल स्वाभाविक और सहज रूप से तुम जान जाओगे कि भागवत प्रेम क्या है।

*



परिपूर्णता
ऐक्य के
खोये बि
का जीव
अपने-अ
करना है



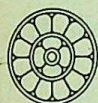
क्या
केव
आकर
क्या
केव
है। औ
तो औ
संकेत,

फरवरी १९९९



प्रेम दिव्य आत्मानन्द की शक्ति और उसका आवेश है। प्रेम के बिना हम उसकी अनंतता की तल्लीन शांति, आनंद की तल्लीन नीरवता पा सकते हैं पर उसकी समृद्धता और परिपूर्णता की निरपेक्ष गहराई नहीं। प्रेम हमें विभाजन के दुःख से संपूर्ण ऐक्य के आनंद में ले जाता है लेकिन ऐक्य की क्रिया के उस आनंद को खोये बिना जो अंतरात्मा की सबसे बड़ी शोध है और जिसके लिये संसार का जीवन एक बड़ी तैयारी है। अतः प्रेम द्वारा भगवान् की ओर जाना अपने-आपको बड़ी-से-बड़ी संभव आध्यात्मिक परिपूर्णता के लिये तैयार करना है।

सीख के कुछ शब्द



भगवान् के लिये सच्चा प्रेम है आत्मदान जो मांग से मुक्त और समर्पण तथा उत्सर्ग से भरा होता है।

*

क्या तुम जानते हो कि सच्चा प्रेम क्या है ?

केवल एक ही सच्चा प्रेम है, भगवान् से आनेवाला प्रेम, जो मनुष्यों में आकर भगवान् के लिये प्रेम में बदल जाता है।

क्या हम कह सकते हैं कि भगवान् का स्वभाव ही है प्रेम ?

केवल परम यथार्थता के साथ पूर्ण ऐक्य में ही पूर्ण स्वाधीनता रह सकती है। और इस ऐक्य को अगर सहज आत्मदान, प्रेम के उपहार द्वारा नहीं तो और कैसे पाया जा सकता है ? जैसा कि मैंने कहा, प्रेम का पहला संकेत, उसकी पहली अभिव्यक्ति है सेवा।

*

वास्तव में समस्त जीवन प्रेम है, यदि हम जीना जानते हों।

*

तुम बाहरी रूप से अकेले तब होते हो जब भागवत प्रेम की ओर से बंद होते हो।

प्रेम के लिये एक ऐसी प्यास है जिसे कोई मानव संबंध शांत नहीं कर सकता, केवल भागवत प्रेम ही उस प्यास को संतुष्ट कर सकता है।

*

दो मनुष्यों के बीच के प्रेम में चाहे जितनी निष्कपटता, सरलता और शुद्धि क्यों न हो, वह न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्ष भागवत शक्ति और सहायता की ओर से बंद कर देती है और उनके बल, प्रकाश और शक्ति को उनकी सम्भाव्यताओं के कुल योग तक सीमित कर देती है।

*

जब तुम भागवत प्रेम के संपर्क तक जा पहुंचते हो तो तुम देखते हो कि यह प्रेम सब कुछ और सारी परिस्थितियां है।

*

जब तुम भागवत प्रेम को पा लेते हो तो सभी सत्ताओं में केवल भगवान् से ही प्रेम करते हो। तब कोई विभाजन नहीं रहता।

*

फरवरी
...
कैसे बद
बढ़ जात
एक
जहां प्रत्ये
कमीने म
जगह हम
जीवन य
को अभि
आओ
चारों तर
सच्चे
की वृत्ति
लेता है
में रहता
६-८-१
शिष्य
श्रीउ
शिष्य
प्राण न
श्रीउ
हैं। अ

फरवरी १९१९

... अगर हम एक बार इस बाहरी चेतना को पा लें तो हमारा दृष्टिबिंदु कैसे बदल जाता है ! समझ कैसे विस्तृत हो जाती है और अनुकम्पा कैसे बढ़ जाती है !

एक सन्त ने कहा है : मैं चाहूंगा कि हम सब उस स्थिति पर पहुंच जायें जहां प्रत्येक उस आंतरिक देव को देख सके जो सबसे अधिक भ्रष्ट और कमीने मनुष्य के अंदर भी निवास करता है। तब उसे बुरा-भला कहने की जगह हम कहेंगे, "उठो, हे समुज्ज्वल सत्ता, तुम जो सदा शुद्ध हो, तुम जो जीवन या मृत्यु को नहीं जानते, उठो, हे सर्वशक्तिमान् और अपनी प्रकृति को अभिव्यक्त करो।"

आओ, हम इस उक्ति को क्रियान्वित करें और हम देखेंगे कि हमारे चारों तरफ की प्रत्येक वस्तु मानों जादू से रूपांतरित हो गयी है।

सच्चे, सचेतन और विवेकशील प्रेम की यही वृत्ति रहती है, यह उस प्रेम की वृत्ति है जो आभासों के पीछे देखना जानता है, शब्दों के बावजूद समझ लेता है और जो सभी अड़चनों के होते हुए गहराइयों के साथ सतत संपर्क में रहता है।

श्रीअरविंद के साथ बातचीत

(भौतिक मन, प्राण इत्यादि के बारे में)

६-८-१९२६

शिष्य—भौतिक क्या है ?

श्रीअरविंद—तुम भौतिक से क्या समझते हो ?

शिष्य—भौतिक से हमारा मतलब होता है जड़-पदार्थ, जिनमें मन और प्राण नहीं होता।

श्रीअरविंद—मानव शरीर भौतिक है लेकिन उसमें मन और प्राण छिपे हैं। अगर तुम ठीक तरह देख सको तो शरीर के कोषाणुओं में एक प्रकार

का प्राण और मन पाओगे, हां, उस तरह का व्यवस्थित प्राण नहीं होता जैसा कि हम देखते हैं और मन भी वैसा मन नहीं होता जैसा हम देखते हैं। भौतिक स्तर पर समस्त कर्म यांत्रिक होता है। अगर प्राण और मन उसे छोड़ भी जायें तो वह अपने अभ्यास का कार्य करता रहता है।

हम भौतिक मन की बात करते हैं। यह वह मन है जो वस्तुओं का केवल भौतिक पक्ष देखता है। वह उसके परे मन और प्राण को नहीं देखता।

शिष्य—सामान्य मन क्या है ?

श्रीअरविंद—अधिकतर मन इससे बढ़कर कुछ नहीं होता।

जो अपने-आपको ऊपर उठाना चाहें उन्हें पहले सत्य को जानना होगा, अपनी सत्ता के सच्चे स्वभाव को जानना होगा। परंतु मन ऐसा नहीं कर सकता। वह अवचेतन को सचेतन नहीं बना सकता। वह लीला में लगी विभिन्न शक्तियों में भेद नहीं कर सकता। अतः ऊपर से प्रकाश लाने की जरूरत होती है और उसकी सहायता से हमारी सत्ता की सभी प्रक्रियाओं को देखना और अपने-अपने उचित स्थान पर बैठाना होता है। तब प्राणिक भावों का विश्लेषण करने से हमें पता चलेगा कि उनका अर्थ क्या है, उनके पीछे कौन-सा सत्य है, एक-एक के पीछे क्या सत्य है और तब उनके सत्य के अनुसार हम उनपर क्रिया कर सकते हैं।

शिष्य—क्या सत्य का प्रकाश ही हमारी सत्ता का रूपांतर करता है ?

श्रीअरविंद—हां, लेकिन सत्य के प्रकाश के साथ अतिमानस में शक्ति भी रहती है जब कि मन में, प्रकाश के साथ हमेशा शक्ति नहीं रहती। केवल मन द्वारा जान लेना हमारी सत्ता को रूपांतरित करने में सहायता नहीं करता। इसीलिये परिवर्तन लाने के लिये मौन इच्छा लगाना जरूरी है।

शिष्य—यह कैसी बात है कि मन में ज्ञान तो होता है परंतु आवश्यक परिवर्तन नहीं किया जा सकता ?

श्रीअरविंद—क्योंकि मन में इतनी शक्ति नहीं होती जो प्राण पर काम कर सके। इच्छा अधिकतर प्राणिक होती है और अगर प्राण मन की कही बात में रस न ले तो कुछ भी नहीं हो सकता। साधना के बहुत से अभ्यासों में

प्राण को
चलाने दे
उथल-पुथ
प्राण मन

शिष्य

तबतक ह

श्रीअर

प्राणिक वि

उदाहरण

उच्चतर क्ष

जहां वे ब

स्वाभाविक

साथ ही

हो।

शिष्य

श्रीअर

तो उचित

शिष्य

श्रीअर

यहां आन

शिष्य

चीजों को

श्रीअर

लिये तुम्हें

से जुड़ी

देने से प

उच्चत

इसके लि

प्राण को सुला दिया जाता है या अमुक विषय में प्राण मन को अपनी चलाने देता है। लेकिन किसी भी क्षण, प्राण झपटकर सारी चीज को उथल-पुथल कर सकता है। यह भी हो सकता है कि आदमी के जाने बिना प्राण मन का पथ-प्रदर्शन करे।

शिष्य—तो जबतक हम अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन न ला सकें तबतक हमें अपने प्राण को मन के वश में रखना चाहिये।

श्रीअरविंद—मुझे इस तरह के नियंत्रण पर विश्वास नहीं है। यह केवल प्राणिक क्रियाओं को विकृत कर देता है। जो लोग प्राणिक आवेशों को, उदाहरण के लिये सेक्स को दबाकर रखते हैं, वे या तो उस आवेश की उच्चतर क्षमताओं को नष्ट कर देते हैं या उसे एक तंग नाली में छोड़ देते हैं जहां वे बड़ी आजादी से उसका उपयोग करते हैं और यह मानते हैं कि यही स्वाभाविक और नैतिक है। इसलिये मैं नैतिक पर विश्वास नहीं करता लेकिन साथ ही मैं उस चीज का प्रचार भी नहीं करता जिसे तुम अनैतिकता कहते हो।

शिष्य—तो फिर इन आवेशों के लिये क्या किया जाये ?

श्रीअरविंद—इनके लिये और चाहे कोई तरीका हो पर निग्रह और दमन तो उचित मार्ग नहीं है।

शिष्य—आप तो भयंकर सिद्धांत सिखा रहे हैं।

श्रीअरविंद—हां, अगर तुम्हें भयंकर चीजों का डर लगता है तो तुम्हें यहां आना ही न चाहिये था—यह स्थान ऐसी चीजों से भरा है।

शिष्य—हमें कभी-कभी मानसिक नियंत्रण छोड़ देना चाहिये वरना हम चीजों को उनकी असली रंगत में कैसे देखेंगे।

श्रीअरविंद—हां, किसी चीज पर नियंत्रण और उससे छुटकारा पाने के लिये तुम्हें उसका पूरा ज्ञान होना चाहिये। काम-वासना और बहुत-सी चीजों से जुड़ी है, फिर उसकी सच्ची क्रिया क्या है ? उसे जीवन में उचित स्थान देने से पहले यह सब जानना होगा।

उच्चतर जीवनतक पहुंचनेके लिये हमें सत्यकी खोज करनी चाहिये। इसके लिये जरूरी है कि हमारे अंदर आलोचनात्मक तर्क हो, जो कभी

चीजों के आभास से संतुष्ट न हो, जो सब मिथ्यात्वों को अस्वीकार करे और दूसरी ओर एक ग्रहणशील वृत्ति हो जो ऊपर से आनेवाले सच्चे प्रकाश को ले सके।

प्रकृति में विकास-क्रम चल रहा है, भौतिक से प्राण और प्राण से मन की ओर, लेकिन योग का विकास-क्रम और ही तरह का होता है। यह एक सक्रिय प्रक्रिया है। अतिमानस के उच्चतर प्रकाश और शक्ति की सहायता से समस्त चेतना का रूपांतर करना होता है। प्रकृति में हर जगह अतिमानस छिपा हुआ है।

शिष्य—छिपे हुए अतिमानस से क्या मतलब है ?

श्रीअरविंद—वह मन, प्राण और भौतिक सबके पीछे रहता है। उसीमें से निकलकर नानाविध सत्य मन में आते हैं। मन अपने ही ढंग से इनमें घपला कर देता है और कोई नयी ही चीज बना डालता है। प्राण भी इस तरह सब प्रकार की अशुद्धियों से भग्न है। अतिमानस से प्राण में सच्चा आवेग आते हैं परंतु प्राण में उनके साथ नाना प्रकार की अशुद्धियां घुलमिल जाती हैं।

(श्रीअरविंद सोसायटी एनुअल १९८१ के आधार पर)

मानसिक नीरवता

साधारणतः मन में खलबली मची रहती है। वह उत्सुकता के साथ क्रियाशील रहता है। सबसे पहले वह अपनी समस्याओं में व्यस्त रहता और उनका समाधान चाहता है। वह केवल सोचना, पक्ष-विपक्ष देखना, तोलना, तर्क करना और निष्कर्ष पर पहुंचना जानता है। वह किसी ऐसी निष्कर्ष पर जा पहुंचता है जो यों ही असफलता या सफलता ले आता है। इस सचेतन या ऐच्छिक क्रियाकलाप के अतिरिक्त मन में अनैच्छिक क्रियाकलाप का एक पूरा क्षेत्र है। यानी, हर तरफ से सैंकड़ों विचार, भाव और धारणाएं बाहर से उसपर आक्रमण करते हैं और तुम्हारी बुद्धि के क्षेत्र

को भर देते हैं। इनपर तुम्हारा कोई नियंत्रण नहीं होता। उनमें से हर एक धक्का-मुक्की करके, अपने लिये स्थान सुरक्षित करने की और तृप्ति तथा पूर्ति पाने की कोशिश करता है। उनमें गलतफहमियां होती रहती हैं और मन को शांति नहीं मिलती।

अपने ऊपर प्रबल दबाव डालकर इस अस्तव्यस्त गतिविधि को जबरदस्ती बाहर धकेल देना और मन को रिक्त कर देना संभव तो है लेकिन मन पर मानसिक संकल्प का प्रभाव न तो पूर्ण होता है, न विरस्थायी, इसके अतिरिक्त, पूर्ण रिक्ति हमारा उद्देश्य नहीं है। मन के क्रियाकलाप को शांत करने के लिये कोई और उपाय ढूंढना होगा।

उपाय है उस शांति को बुलाना जो पहले से ही कहीं, परे विद्यमान है। चेतना में यदि सच्ची मांग और अभीप्सा हो, सत्ता में कोई तत्परता हो तो यह हो सकता है। और जब वह होता है (उपनिषद् के *विवृणुते तनुं स्वाम्* के जैसा कुछ) तब तुम्हें लगता है कि एक पूर्ण रिक्ति, एक काला शून्य तुम्हारे अंदर पैठ गया है और उसने तुम्हें कैदी बना लिया है, बवण्डर से क्रियाकलाप के बीचोंबीच पूर्ण विराम आ जाता है। अब वहां कुछ नहीं रहता—कोई भाव नहीं, कोई विचार नहीं, कोई धारणा नहीं, कोई क्रिया नहीं—एक अनंत शून्य ने सब कुछ हड़प लिया है। स्थिर रहो और प्रतीक्षा करो। उस नीरवता में कोई चीज उठती है, ऊपर, और ऊपर और फिर, परे चली जाती है, चेतना की एक प्रशांत किरण। तब फिर कोई चीज उतरती है, बहुत दूर से आती है वह—एक शांति, एक ज्योतिर्मयता जो अपनी वास्तविकता में बिलकुल प्रामाणिक और निरपेक्ष है। वह उतरती है, तुम्हारे अंदर प्रवेश करती है और तुम्हारे दिमाग तथा शरीर को अपने कब्जे में कर लेती है। तुम देखते हो कि उसने तुम्हारी सारी समस्याएं हल कर दी हैं। तुम्हारे अंदर जितने भी विरोध और द्वंद्व हैं उनमें सामंजस्य ला दिया है, क्योंकि वह 'सत्य मां' के आवास से आती है। अब तुम संघर्ष नहीं करते, तुम जानते हो, तुम टटोलते नहीं, क्योंकि तुम्हें रास्ता दिखाया जा रहा है। तुम प्रतीक्षा करते हो और हर क्षण तुम्हें इसका निर्देशन मिलता है कि क्या किया जाना चाहिये। तुम्हारा कोई विचार या काम नहीं होता, प्रेरित गति यंत्रवत् और अचूक रूप से होती रहती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस आकस्मिक नीरवता या आंतरिक निश्चलता के कारण एक घबराहट पैदा हो जाती है और तुम्हें एक डर पकड़ लेता है कि तुम्हारे सारे संबंध छूटते जा रहे हैं, तुम निपट मूर्ख या उससे भी बदतर कुछ बनते जा रहे हो। कइयों ने इसी घबराहट में आयी हुई कृपा को छोड़ दिया है। ऐसी हालत में तुम्हें सुदृढ़ और स्थिर होना चाहिये और आपो बढ़ते जाना चाहिये।

मैंने कहा है कि साधारणतः हर प्रकार के विचार तुम्हारे ऊपर आक्रमण करते हैं। वे हर क्षेत्र से तुम्हारे दिमाग में आते हैं और तृप्ति तथा सुनवायी का मांग करते हैं, विचारों का दिमाग में आना जरूरी इसलिये है क्योंकि क्रियाएँ उन्हींके द्वारा संभव होती हैं, वे तुम्हारी क्रिया का आकार और ढांचा बनाते हैं। लेकिन मुश्किल यह है कि विचार केवल विभिन्न प्रकार के ही नहीं परस्पर विरोधी भी होते हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य कितनी ही बार परस्पर-विरोधी दिशाओं में बढ़ता है और कदम-कदम पर अपना विरोध आप करता है। अगर मन के द्वार खुले छोड़ दिये जाएं तो यह होना अनिवार्य है। कभी-कभी या कुछ व्यक्तियों में एक प्रधान विचार मन को अपने कब्जे में कर लेता है और बाकी के सभी विचारों को भगा देता है। इस हालत में जब एक ही विचार का राज्य हो तो तुम अपने-आपको संकरा बना लेते हो और सत्ता को मानों एक बंद खांचे में घूमने के लिये जबरदस्ती घुसा देते हो। सत्ता को अपने पूर्णता में आत्म-अभिव्यक्ति और आत्मतृप्ति नहीं मिलती। इस तरह तुम्हारी धारणा हो सकती है, दृढ़ धारणा, कि संसार अटल रूप से दुःख भरा है और उसे सुधारना असंभव है। इसलिये स्वभावतः तुम अपने समस्त जीवन की योजना उसी उद्देश्य के साथ बनाओगे, सारे समय तुम्हारे मन में यही विचार रहेगा कि इस संसार से किस तरह बचा जाये। तुम आंतरिक और बाह्य एकांत की खोज करोगे, जीवन से छुटकारा पाने की कोशिश करोगे और परात्पर या शून्य में विलीन हो जाओगे। इसके विपरीत, अगर तुम्हारी यह धारणा हो कि सभी विरोधी बाह्य रंग-रूपों के बावजूद जगत् को सुधारा जा सकता है, तब फिर, तुम्हारे जीवन का ताना-बाना बदल जायेगा। तुम उपाय की खोज करोगे और यह देखोगे कि संभावना तुम्हें कहां तक ले जाती है।

किसी
साधारणतः
तुम्हारी
प्रभाव प
को अव्य
चाहियें
तुमने चु
क्रिया जा
शुरू में
और अप
रिक्ति
वह साम
को—भ
हो तो उ
करते हो
क्रिया क
हो, लेवि
जब एक
दिया जा
अधिक

काल
हैं। वे
हत्या क

किसी विचार का मूल्य केवल स्वयं विचार से निर्धारित नहीं हो सकता। साधारणतः, तुम किसी बाहरी कारण से चुनाव करते हो : इस चुनाव पर तुम्हारी शिक्षा, वातावरण, मिजाज, पसंद और नापसंदगियों का काफी हदतक प्रभाव पड़ता है। इसलिये पहली चीज जो तुम्हें करनी चाहिये वह है विचारों को अव्यवस्थित ढंग से मन-मुताबिक आने से रोकना। विचार तभी आने चाहियें जब तुम चाहो और वह भी उन्हीं विचारों को आना चाहिये जिन्हें तुमने चुना हो। एक सचेतन चुनाव होना चाहिये। यह काम किस तरह किया जाये ? चूंकि तुम्हारे विचार खुद चुनाव नहीं कर सकते, इसलिये शुरू-शुरू में तुम्हें यह करना चाहिये : एक उच्चतर पथ-प्रदर्शन का आवाहन करो और अपने-आपको उसके हाथों में बिलकुल निष्पक्ष और निष्क्रिय छोड़ दो।

रिक्ति की जरूरत है, कहीं पीछे एक सफेद सूनापन जरूरी है—भले ही वह सामने न आये। निजी चुनाव छोड़ दो और अपने साथ उच्चतर निर्देशन को—भगवान् को—जो वह चाहे करने दो। अपेक्षित नीरवता और निर्भरता हो तो अनिवार्य रूप से निर्णय आता है और तुम यंत्रवत् हर क्षण ठीक वही करते हो जो किया जाना चाहिये। हो सकता है कि पहले-पहल तुम्हें अपनी क्रिया की तनिक भी जानकारी न हो, तुम एक यंत्र की तरह तो काम करते हो, लेकिन अंदर एक ज्योतिर्मयी नीरवता और प्रशांत अभीप्सा लिये हुए। जब एक बार तुम इस पूर्ण विनय के आदी हो जाओ तो तुम्हें क्रमशः ज्ञान दिया जायेगा। शुरू-शुरू में कुछ ही कदम आगे का ज्ञान लेकिन बाद में अधिक पूरे परिदृश्य के साथ।

—माताजी

— — — —

काली भयावनी शक्ति और क्रुद्ध प्रेम के रूप में अभिव्यक्त श्रीकृष्ण ही हैं। वे अपने प्रचंड प्रहारों के द्वारा शरीर, प्राण और मन में स्थित स्व की हत्या करती हैं ताकि वह शाश्वत चिदात्मा के रूप में मुक्त हो जाये।

सीखना और समझना

सीखना एक बात है और समझना दूसरी। सीखने में तुम उस चीज का सतही मन से ग्रहण करते हो जो विजातीय तत्त्व की तरह बाहर से आती है। उसे तुम्हारे अंदर डाला जाता है, लगभग जबरदस्ती घुसाया जाता है। तुम उसे आत्मसात् करके पूरी तरह अपना नहीं लेते। अगर तुम सतर्क न हो, कुछ समय के लिये उसे अलग रख दो तो वह पूरी तरह तुम्हारी स्मृति से चली जाती है। इसके विपरीत किसी चीज को समझने का अर्थ यह है कि तुम उसे आत्मसात् कर लेते हो, उसे अपनी सत्ता के द्रव्य में डाल देते हो, अपनी आंतरिक चेतना में जीते हो। चाहे कितने ही साल क्यों न बीत जायें, वह चीज वैसी ही स्पष्ट और सजीव रहती है जैसी पहले दिन थी। ऐसा क्यों होता है कि किताबों से या पाठशाला में अध्यापक से तुम जो कुछ इतनी मेहनत और मुश्किल से सीखते हो उसे इतनी आसानी से भूल जाते हो? यह इसलिये होता है कि तुम केवल सीखते हो, समझते नहीं। अपने दिमाग में तुम शब्दों को, बाहरी सूत्रों और रूपों को बनाये रखते हो, लेकिन उनका अर्थ, उनका महत्त्व, आंतरिक विधान और जीता-जागता सत्य यह सब तुमसे पूरी तरह बच निकलते हैं। तुम 'आइन्स्टाइन' पढ़ते हो, बार-बार उनके सूत्र और समीकरण पढ़ते हो, यहांतक कि उन्हें याद कर लेते हो—रट लेते हो; लेकिन कुछ समय बाद, अगर उनके साथ संपर्क न रहे तो वे तुम्हारे दिमाग से अदृश्य हो जाते हैं या बहुत धुंधले और हल्के पड़ जाते हैं और तुम्हें नये सिरे से शुरू करना पड़ता है। यह इसलिये होता है कि तुमने आइन्स्टाइन को केवल एक पाठ के रूप में पढ़ा था, जब कि अगर तुमने उन धारणाओं में प्रवेश किया होता जिनका ठोस रूप ये सूत्र हैं, उन आंतरिक सिद्धांतों में जो उसका निर्धारण करते हैं, अगर आइन्स्टाइन की चेतना किसी तरह तुम्हारी चेतना बनी होती, तो चीज तुम्हारी समझ में आ जाती और तुम उसे कभी न भूल पाते। वह एक पाठ नहीं, बल्कि एक अनुभूति होती। इसलिये उस आंतरिक जागरण की जरूरत है जिसके द्वारा तुम अमुक चीज को जीते हो, उसके साथ एक हो जाते हो, उसके साथ

फरवरी १

ऐक्य प्राप्त करते; जब चाहे जितने में नहीं घुस वह तुम्हारे वास्तव अदीक्षित भाषा, संलेकिन इ भाषा में आता। समझ में यानी, तुम अंदर हो, हो, स्वरु रहना चाा उसके स मतलब बाहर औ अंधकार हो भी ज लेता है। मानव आयामों आयाम हैं। वास आसानी बहुत ही

फरवरी १९९१

ऐक्य प्राप्त करते हो, केवल उससे मिलकर मामूली-सा परिचय प्राप्त नहीं करते; जबतक चेतना में यह जागरण या ग्रहणशीलता न हो तबतक पाठ को चाहे जितनी जबरदस्ती के साथ तुम्हारे अंदर घुसाया जाये, वह पर्याप्त गहराई में नहीं घुसेगा। तोते की तरह तुम सीख सकते हो लेकिन तुम समझोगे नहीं। वह तुम्हारे ऊपर से होकर चला जायेगा और तुम उसे भूल भी जाओगे।

वास्तव में, पुराने साधुओं और गुह्यवादियों को यह डर था कि सामान्य अदीक्षित लोग विद्या का दुरुपयोग करेंगे। उन्होंने अपने ज्ञान को रहस्यमय भाषा, संकेत-पद्धति, प्रतीक और बीजांक में छिपाने की कोशिश की। लेकिन इसकी कोई जरूरत नहीं थी। अगर उन्होंने अपने ज्ञान को साधारण भाषा में अभिव्यक्त किया होता तो भी, वह साधारण लोगों की समझ में न आता। वह ठीक ऐसा होता जैसे मैं तुमसे चीनी भाषा में बोलूं। तुम्हारी समझ में कुछ नहीं आयेगा। तुम वही समझ सकते हो जो तुम्हारे पास है। यानी, तुम जो कुछ जानना और समझना चाहते हो उसका कुछ अंश तुम्हारे अंदर होना चाहिये, कोई ऐसी चीज होनी चाहिये जो उससे मिलती-जुलती हो, स्वरूप और स्पंदन में उस जैसी हो। जब मैं कहती हूं कि तुम्हें खुला रहना चाहिये, तुम्हारे मन और तुम्हारी चेतना को उस वस्तु की ओर मुड़कर उसके साथ समस्वर होना चाहिये जिसे वे ग्रहण करना चाहते हैं, तो मेरा मतलब यही होता है। उसके अंदर थोड़ा-सा प्रकाश होना चाहिये ताकि वह बाहर और परे के प्रकाश को ग्रहण कर सके। अगर केवल अंधकार ही अंधकार हो तो वहां प्रकाश नहीं हो सकता। अगर प्रकाश आने में सफल हो भी जाये तो, वह या तो जल्दी ही चला जाता है या अंधकार उसे लील लेता है।

मानव मन चीजों को केवल तीन आयामों में ही देख सकता है। तीन आयामों का ज्ञान उसकी सामान्य संपत्ति है। लेकिन चौथे और पांचवें आयाम भी हैं जिनके बारे में यूरोप के कुछ बुद्धिजीवी अन्दाज़ लगाने लगे हैं। वास्तव में, वर्तमान सृष्टि से संबंधित करीब बारह आयाम हैं। हम आसानी से चार आयामों की चीज की कल्पना नहीं कर सकते, पांच का तो बहुत ही अजीब लगता है और उससे परे का तो मानव चेतना के लिये सब

कुछ कोरा है। अगर मैं तुम्हें इन अनेक आयामवाली अनुभूतियों के बारे में बताऊं तो तुम क्या समझोगे।

उदाहरण के लिये तुम भगवान् के बारे में निरंतर बहुत कुछ पढ़ते या सुनते रहते हो। वास्तव में, वे तुम्हारे लिये क्या हैं? कोई धुंधली, कुहासे-सी, शाब्दिक चीज। तुम्हारे लिये वह बोध ठोस नहीं है। तुम अपनी मर्मा के मुताबिक उस पर संदेह कर सकते हो, उससे इंकार कर सकते हो, और उसे अस्वीकार कर सकते हो। लेकिन अगर एक बार तुम उसे अनुभव कर लो, उसे अपनी आंतरिक चेतना और सत्ता में बनाये रखो, चाहे वह कितनी ही कम परिमाण में क्यों न हो, कितना भी कम क्यों न हो, अगर किस प्रकार तुम सीधे संपर्क में आ सको तो चीज भुलाये न भूलेगी, वह हमेशा हमेशा के लिये बनी रहेगी। अगर सारा जगत् भी उससे इंकार करे, उसका हंसी उड़ाये, फिर भी, तुम अटल रहोगे, जगत् के आगे मुस्कुराओगे, क्योंकि तुम जानते हो कि तुम क्या जानते हो।

तब फिर उस अनुभूति का, चेतना के इस तरह खुलने का कौन-सा मांग है? दिव्य उपस्थिति है, प्रकाश है, भागवत कृपा हमेशा तुम्हारी ओर झुक रही है, तुम्हें घेरे रखती है। तुम्हें अपनी तरफ से अनुरूप संकेत करना होगा। तुम्हें उस चीज के लिये सचाई के साथ प्रार्थना करनी होगी, थके बिना अभीप्सा करनी होगी, विश्वास या निष्ठा खोये बिना तुम्हें उसके लिये बार-बार मांग करनी होगी। समय का ख्याल रखे बिना तुम्हें अध्यवसाय के साथ आगे बढ़ते रहना होगा।

वहां लोहे का एक दरवाजा है, जिसपर कीलें ठुकी हैं और जो टस-से मस नहीं होता। उसे तोड़कर खोलना होगा। यह वह दरवाजा है जो तुम्हें अपनी संकरी अंहपूर्ण चेतना में बंद रखता है। तुम्हें उस बाड़े को तोड़कर अपने-आपको विशाल बनाना है। तुम्हें उसके लिये संकल्प करना होगा, दृढ़ स्थिरता के साथ मेहनत करनी होगी। दूसरी ओर भी दबाव है—भागवत कृपा का दबाव। तुम्हारा अभीप्सापूर्ण संकल्प जब भागवत कृपा से मिलेगा तो निःसंदेह उस मोटी दीवार में आवश्यक उन्मीलन हो जायेगा।

श्रीमातृवाणी से

१७ नवम्बर
माताजी के
प्रभो, मेरे
के लिये उ
५ दिस
का कार्ड व
साथ एक
२४ न
गया : "पृ
प्रगति कर
अपना
तुम भगवा
१ दिस
ने "श्रीअ
दिसम्बर व
किया गया
अपनी कि
एक हो ग
पहली
तू ही हमा
शुद्ध प्रेम,
सत्ता की
इस व
९ नव
नाडकरणी
द्वितीय पु

सोसायटी समाचार

१७ नवम्बर माताजी के देह-त्याग की बरसी होती है। इस वर्ष उस दिन माताजी के एक संदेश का कार्ड बांटा गया जिसमें यह प्रार्थना थी : “हे प्रभो, मेरे अंदर तुझे जानने की तीव्र कामना जगा, मैं अपना जीवन तेरी सेवा के लिये अर्पित करने की अभीप्सा करता हूँ।”

५ दिसम्बर श्रीअरविंद के शरीर-त्याग का दिन है। उस दिन इस प्रार्थना का कार्ड बांटा गया : “वर दे कि हम अपने-आपको तेरी शाश्वत चेतना के साथ एक कर सकें ताकि हम जान सकें कि शाश्वत आत्मा क्या है।”

२४ नवम्बर सिद्धि का दिन है। उस दिन माताजी का यह संदेश बांटा गया : “पृथ्वी पर जीवन तत्त्वतः प्रगति के लिये होता है। लेकिन हमें जो प्रगति करनी है उसके लिये जीवन कितना संक्षिप्त है !

अपना समय नष्ट करना निरी मूर्खता है। सच्चा सुख तभी संभव है जब तुम भगवान् को पा लो।”

१ दिसम्बर को आश्रम विद्यालय का ४७वां जन्मदिन था। नाटक-विभाग ने “श्रीअरविंद के काव्य की यात्रा” नामक कार्यक्रम प्रस्तुत किया और २ दिसम्बर को “जड़ प्रकृति का जागरण” विषय लेकर शारीरिक कार्यक्रम किया गया था जिसमें एक मुख्य पंक्ति थी “आत्मा ने सचेतन शरीर को अपनी किरण के द्वारा आलोकित किया था, आत्मा और यह जड़ मिलकर एक हो गये।”

पहली जनवरी को जो कार्ड दिया गया, उस पर यह प्रार्थना थी : “प्रभो, तू ही हमारा रक्षक, हमारा एकमात्र सुख, हमारा जाज्वल्यमान् प्रकाश, हमारा शुद्ध प्रेम, हमारी आशा और हमारा बल है। तू ही हमारा जीवन और हमारी सत्ता की वास्तविकता है।”

इस वर्ष हम अपनी सम्पूर्ण सत्ता में इस सत्य को अनुभव कर सकें।

९ नवम्बर से १५ नवम्बर तक सावित्री अध्ययन-केन्द्र हुआ जिसमें डा० नाडकरणी के साथ पहली पुस्तक का अध्ययन किया गया। अगले वर्ष द्वितीय पुस्तक के अध्ययन की बारी होगी।

२१, २२, २३ नवम्बर को नारी-परिषद् का अधिवेशन हुआ जिसमें लगभग ४४ सदस्यों ने भाग लिया, इसमें देश-विदेश की नारियां थीं। सत्र आसन-प्राणायाम का प्रशिक्षण होता था वार्तालाप के अधिवेशन में “दुःख—उसके कारण और उपचार” विषय पर ऊहापोह हुआ। अंग्रेजी का मासिक “नारी जागरण” पत्रिका का अच्छा स्वागत हो रहा है। इस वार्षिक चंदा भारत में १५ रुपये है।

उत्तर प्रदेश की सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन ऋषिकेश में ९, १०, ११ नवम्बर को हुआ। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री सत्यनारायण रेड्डी उसका उद्घाटन किया। श्री तिवारी ने सोसायटी के कार्य-कलाप का व्यौ दिया।

श्री विजय पोद्दार ने देहरादून, सहारनपुर आदि का चक्कर लगाया और उपस्थित लोगों के प्रश्नों के उत्तर दिये।

श्री प्रदीप नारंग ने सोसायटी का संदेश फैलाने के लिये सिंगापुर का यात्रा की।

घोषणाएं

२१ फरवरी माताजी का जन्मदिन है। उस दिन माताजी के कमरे का दर्शन होता है। इस अवसर पर सोसायटी की ओर से माताजी के बारे में भाषणों और वीडियो की व्यवस्था होगी।

१४ से २४ फरवरी तक “द मदर” माता पुस्तक का स्वाध्याय सप्ताह मनाया जायेगा।

अपनी पत्रिकाओं का चंदा नियामित रूप से समय पर भेजने की कृपा करें।

माताजी और श्रीअरविंद की सब भाषाओं की पुस्तकें “शब्द, श्रीअरवि आश्रम, पांडिचेरी” से मिल सकती हैं, विशेष जानकारी के लिये सीधा उन्हें पत्र लिखें।

मानसिक तनाव व शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति के लिये
सारे परिवार की सुरक्षा का प्राकृतिक साधन

“योगी रसायन” (रजि०)

निर्माता

योगी फार्मेसी प्रा० लि०

लक्खर रोड, हरिद्वार—२४९४०४

(आयुर्वेदिक अनुसंधान एवं निर्माण में अग्रणीय)

*Selfishness kills the soul; destroy it. But
take care that your altruism does not kill
the souls of others.*

Sri Aurobindo

Assam Tea Warehousing Corporation

*Registered and approved Warehouse
at Gauhati (Assam)*

H.O.: 8, Camac Street, Room No. 7
Shantiniketan Building
CALCUTTA - 700 017

तुमसे सबसे अधिक मांग की जाती है प्रकाश की ओर मुड़ने में
अध्यवसाय की। प्रकाश हम जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक
हमारे निकट है और किसी भी क्षण उसका सुहृत् आ सकता है।

— श्रीअरविन्द



सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

दूसरों पर नियंत्रण रखने के लिये स्वयं अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण
पाना अनिवार्य शर्त है।

— श्रीमां



With Best Wishes from:

MRS. KOYAL DEORAH CHARITABLE TRUST

28, VARSHA, 69/B, NEPEANSEA ROAD

BOMBAY - 4000 006

मार्च १९९१

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

15/11

विषय-सूची

सन्देश

श्रीअरविंद

'सम्पादकीय' : भविष्य के लिये प्रार्थना

अनुबेन

दैनन्दिनी

अहंकार (माताजी के वचन):

व्यक्ति किस चीज से बनता है

चेतना का ऐक्य

अहंकार है क्या

भांति-भांति के अहंकार

नास्तिकता और जड़वाद का आधार

मानव जाति की सेवा

जीवन और अहंकार

उचित वृत्ति

अहंकार का लोप : पहला कदम

दो सशक्त उत्तोलक

सोसायटी समाचार

मुखपृष्ठ का चित्र — 'नमनीयता'

(माताजी द्वारा दिया गया फूल का आध्यात्मिक अर्थ)

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अभियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००१



उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

संदेश

जीवन का महान् नियम

जीवन का महान् नियम यह है कि कोई योजना नहीं होनी चाहिये किंतु एक अटल लक्ष्य रहना चाहिये। अगर इच्छा उस लक्ष्य पर केंद्रित हो जाये तो वह उसे संपादित करने में लग जाती है, तब परिस्थितियां ही उसे सही राह सुझावेंगी; किंतु आयोजक हमेशा अप्रत्याशित से ठोकर खाता है।

—श्रीअरविंद

‘संपादकीय’ :

भविष्य के लिये प्रार्थना

मनुष्य अनेक स्तरों में विभाजित है इसलिये उसके किसी भी कथन, किंवा भी प्रयास में उसकी सारी सत्ता पूरी तरह एकाग्र नहीं हो पाती और इस कारण उसे पूर्ण सफलता कदाचित् ही मिलती है। इतना ही नहीं, केवल ऊपर लोगों को सफलता मिलती है जिनके विभिन्न स्तर उस प्रयास में लगे हों। साधारण मनुष्य में तो जोरदार रसाकशी चलती रहती है। एक दिशा में प्रवृत्ति होती है तो हृदय एकदम उल्टी दिशा में भगता है और शरीर की मांस-पेशियों में अपना अलग राग अलापती रहती है। ऐसे कई युद्धों में बंटा बेचारा मनुष्य स्वप्न एक लेता है, कहता कुछ और है और करता है दोनों बातों में भिन्न !

इस रसाकशी का सबसे विराट् रूप विश्व-शक्तियों की भिड़ंत में दीखता है। हमारे संसार में राष्ट्रों का टकराव—फिर चाहे वह राजनैतिक हो, वाणिज्यिक, आर्थिक या सामाजिक—इन विश्व-शक्तियों की भिड़ंत का सबसे स्पष्ट रूप है।

आजकल संसार इराक और मित्र राष्ट्रों, खास कर अमरीका के युद्ध में त्रस्त है। हम कभी ऐसे मित्रों की चर्चाएं सुनते हैं जो कहते हैं कि मित्र राष्ट्र और अमरीका ने गलत कदम उठाया है, जल्दबाजी की है, सद्दाम ने क्या किया बिल्कुल न्यायोचित है, इसमें दूसरों को टांग अड़ाने की जरूरत क्या थी ? दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र की ओर से लड़नेवालों को बधाई देनेवाले भी कम नहीं हैं। कुछ यह भी कहते हैं, देखना, ‘सत्य की जीत होगी।’

अब प्रश्न यही उठता है कि इन दोनों में से सत्य का पक्षधर कौन है ? व्यक्ति की भांति समष्टि भी कई स्तरों में बंटी है, कई दैवी और आदमिक शक्तियों का उनपर भी अधिकार है। कौन-से राष्ट्र की चेतना सत्य का अधिक अभिव्यक्त करती है ?

हम दा
लेकिन अ
संसार का
है, महत्व
हम के
वह सारे
रखें कि

मार्च

१. हम
- बलि
२. हम
- आध
- में
३. उस
- आव
- रूप
४. व्य
- हमा
५. हम
६. जब
- क्री
- क्री

हम दावा नहीं कर सकते कि इस विषय का निश्चय हम कर सकते हैं, लेकिन अगर हमें भगवान् पर श्रद्धा हो तो उनसे प्रार्थना कर सकते हैं कि संसार का जिसमें शुभ हो, वही हो। राष्ट्रों की हार जीत का कोई मूल्य नहीं है, महत्त्व है पृथ्वी पर दैवी शक्तियों की विजय का।

हम केवल सत्य की ओर मुड़े हुए राष्ट्र की विजय की कामना करें ताकि वह सारे संसार को भगवान् के, सत्य के नजदीक ला सके। और विश्वास रखें कि “हुइहहि सोइ जो राम रचि राखा।”

—अनुबेन

दैनन्दिनी

मार्च

- हम जिस योग का अभ्यास करते हैं वह केवल हमारे लिये नहीं है बल्कि भगवान् के लिये है।
- हमारा लक्ष्य है संसार में भगवान् की इच्छा को कार्यान्वित करना, एक आध्यात्मिक रूपान्तर साधना और प्राण तथा शरीर तथा मानव प्रकृति में दिव्य प्रकृति और दिव्य जीवन को उतार लाना।
- उसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है यद्यपि मुक्ति योग की आवश्यक स्थिति है, उद्देश्य है मानव सत्ता की मुक्ति और उसका रूपान्तर।
- व्यक्तिगत आनंद नहीं दिव्य आनंद को धरती पर अवतरित करना हमारा लक्ष्य है।
- हम बद्ध होने का अभिनय करते हैं, हम सचमुच बद्ध नहीं हैं।
- जब भगवान् चाहें तब हम मुक्त हो सकते हैं, वे परम आत्मा ही क्रीड़ा के स्वामी हैं। उनकी कृपा और स्वीकृति के बिना कोई आत्मा क्रीड़ा को नहीं छोड़ सकती।

७. बुद्धिमान् वह है जो इस सत्य को पहचानता है और अपनी स्वाधीनता को जानते हुए भगवान् का खेल खेलता है और खेल के तर्कों बदलने के लिये उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करता है।
८. मनुष्य और वस्तुओं की प्रवृत्ति अभी विसंगति में है, उनमें से सामंजस्य चला गया है।
९. मनुष्य के समस्त हृदय और कर्म को बदलना होगा परंतु भीतर से बाहर से नहीं।
१०. मनुष्य को राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं द्वारा नहीं, न ही मतांतर और दर्शन द्वारा परंतु अपने और जगत् के अंदर भगवान् के उपलब्ध करना और उस उपलब्धि द्वारा अपने जीवन को ढालना होगा।
११. यह केवल पूर्णयोग द्वारा ही हो सकता है। यह योग किसी प्रयोजन विशेष के लिये नहीं बल्कि अपने अंदर और औरों में दिव्य मानवता की परिपूर्ति करने के लिये है।
१२. समर्पण संपूर्ण होना चाहिये।
१३. कोई भी चीज बचाकर न रखनी चाहिये, कोई कामना नहीं, कोई मांग नहीं, कोई राय नहीं, यह मांग नहीं कि यह होना चाहिये और वह नहीं सब कुछ अर्पण कर देना चाहिये।
१४. हृदय को सभी कामनाओं से और बुद्धि को समस्त हठ से शुद्ध कर देना चाहिये।
१५. सभी द्वैत को छोड़ देना चाहिये, समस्त संसार को प्रच्छन्न प्रज्ञा, शक्ति और आनन्द की परम अभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिये।
१६. जैसे इंजन ड्राइवर के हाथ में होता है उसी तरह अपनी समस्त सत्ता को दिव्य प्रेम, शक्ति, पूर्ण प्रज्ञा के हाथ में सौंप दो ताकि वे अपना काम कर सकें और दिव्य लीला को पूरा करें।
१७. अगर संपूर्ण आत्म-समर्पण की वृत्ति—भले अधूरे ढंग से ही—स्थापित की जा सके तो यौगिक क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

क्योंकि
जाते

१८. ...

कृत्रिम
अनुप्र

१९. इसक

होती

२०. अगर

इस

जगत

२१. योग

२२. अपने

सौंप

२३. कोई

बस

प्रत्य

२४. जो

अनु

२५. जो

तो

उन्हें

दे

२६. दूस

की

२७. क्रि

जस्

२८. तुम्ह

हो,

मार्च १९९१

क्योंकि तब स्वयं भगवान् हमारे अंदर साधक और सिद्ध दोनों बन जाते हैं।

१८. और उनकी दिव्य शक्ति हमारे अंदर काम करती है, हमारी कृत्रिम विधि से नहीं बल्कि ऐसी प्रकृति की क्रिया द्वारा जो पूर्णता से अनुप्राणित, सर्वान्वेषी और बिना भूल के कार्यक्षम होती है।
१९. इसकी क्षमता की कोई सीमा नहीं होती क्योंकि यह भगवान् की क्षमता होती है।
२०. अगर क्षमता सीमित है तो भगवान् की उस इच्छा से जो जानती है कि इस जगत् के लिये और हममें से हर एक के लिये, जगत् में और जगत् के बाहर सबसे अच्छा क्या है।
२१. योग की पहली प्रक्रिया है आत्म-समर्पण का संकल्प।
२२. अपने-आपको हृदय और समस्त बल के साथ भगवान् के हाथों में सौंप दो।
२३. कोई शर्त न लगाओ, कोई मांग न करो, योग-सिद्धि के लिये भी नहीं, बस यही चाहो कि तुम्हारे अंदर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की इच्छा प्रत्यक्ष रूप से पूरी हो।
२४. जो भगवान् से कुछ मांग करते हैं, उन्हें भगवान् उनकी मांग के अनुसार देते हैं।
२५. जो लोग कुछ भी मांगे बिना अपने-आपको उन्हें अर्पण करते हैं उन्हें तो वे सब तो देते ही हैं जिसकी वे मांग कर सकते थे या जिसकी उन्हें जरूरत हो सकती थी, इसके अतिरिक्त वे उन्हें अपने-आपको भी दे देते हैं और उन्हें अपने प्रेम के सहज वरदान भी प्रदान करते हैं।
२६. दूसरी प्रक्रिया है, एक ओर खड़े होकर, अपने अंदर भागवत शक्ति की क्रिया को देखना।
२७. क्रिया के साथ प्रायः शरीर के उद्वेग और कष्ट भी आते हैं, अतः श्रद्धा जरूरी है, यद्यपि पूर्ण श्रद्धा हमेशा संभव नहीं होती।
२८. तुम्हारे अंदर जो कुछ अशुद्धि है, चाहे वह खुले आम या लुकी-छिपी हो, वह संभवतः शुरू में सिर उठायेगी और तबतक बार-बार आती

रहेगी जबतक कि पूरी सफाई न हो जाये, और इस युग में संपूर्ण व्यापक अशुद्धि है।

२९. फिर भी जब संदेह टूट पड़ें तो एक ओर खड़े हो जाओ और उनमें निकल जाने तक प्रतीक्षा करो, इस योग के मुख्य तत्त्व, आत्म-समर्पण को जोर से पकड़े रहो।

३०. सत्ता के रूपांतर की शर्तें हैं, अपने-आपको उच्चतर प्रकाश की ओर खोलना और संपूर्ण भाव से समर्पण करना। इससे रूपांतर आता है। अतः यदि संपूर्ण भाव से समर्पण हो, प्रकाश की ओर उद्घाटन हो और सभी स्तरों पर धीरे-धीरे चेतना का विकास हो तो तुम इस योग के आदर्श साधक बन सकते हो।

३१. अपने अंदर छिपे या अपार्थिव शरीर में निवास करनेवाले पथ-प्रदर्शकों को ढूंढ, उसकी आवाज पर कान दे और हमेशा वह जिस ओर इशारा करे उसी ओर चल। अंत में वह प्रकाश है जो कभी निराश नहीं करता, वह सत्य है जो कभी धोखा नहीं देता, वह शक्ति है जो न भटकती है, न ठोकरें खाती है, विस्तृत स्वाधीनता और अनिर्वचनीय आनंद है।

—श्रीअरवि

— * —

भगवान् हमें प्रत्येक अदन (स्वर्गीय बगीचे) में से बाहर खदेड़ देते ताकि हम रेगिस्तान में से गुजरते हुए किसी अधिक दिव्य स्वर्गतक जाने लिये बाध्य हों। यदि तुझे आश्चर्य होता हो कि उस रूखे-सूखे और भयंकर पथ की आवश्यकता ही क्यों होनी चाहिये तो इसका अर्थ है कि तेरे मन ने तुझे मूर्ख बना दिया है और तू ने पीछे विद्यमान आत्मा तथा उसकी असीम इच्छाओं एवं गुप्त आनंदों का अनुशीलन नहीं किया।

मुझे कौन चीज है व्यक्ति हो बहुसंख्य उनके शरीर बोलता है, अनगिनत कौन-सी है अमर होना अनुभूतियों अनुभूतियों सकती जि हम तुलन लोग उनमें जीवन का है "पानी" पर पानी चीज बनी है, उसका बांधनेवाला उनकी स्मृ के समान

अहंकार :

(माताजी के वचन)

व्यक्ति किस चीज से बनता है

मुझे कौन बतलायेगा कि व्यक्ति किस चीज से बनता है ? वह कौन-सी चीज है जो तुम्हें यह आभास देती है कि तुम अपने-आपमें स्थित एक व्यक्ति हो ? . . .

बहुसंख्यक लोग जब 'मैं' कहते हैं तो वह उनका, उनके भाव का, उनके शरीर का, उनके विचार का वह भाग होता है जो जैसे-तैसे करके बोलता है; यह चीज हमेशा बदलती रहती है। अतः उनके "मैं" हमेशा अनगिनत होते हैं या "मैं" हमेशा बदलता रहता है। तो वहां सतत वस्तु कौन-सी है ? . . . स्पष्ट है कि वह चैत्य है। सतत रहने के लिये चीज को अमर होना चाहिये अन्यथा वह सतत नहीं रह सकती। लेकिन तब उसे उन अनुभूतियों से भी मुक्त होना चाहिये जिनमें से वह गुजरती है। वह स्वयं ये अनुभूतियां नहीं हो सकती। अतः यह निश्चित रूप से नदी की तली नहीं हो सकती जिससे नदी बनती है; नदी की तली केवल एक स्थिति है। अगर हम तुलना को जरा और आगे बढ़ायें (और यूं तो तुलनाएं बेकार होती हैं, लोग उनमें जो मरजी पा लेते हैं) — तो यह कहा जा सकता है कि नदी जीवन का एक अच्छा प्रतीक है। नदी के अंदर जो चीज अविच्छिन्न है वह है "पानी" की जाति या उसका रूप-रंग। हमेशा वह की वही बूंदें नहीं होतीं पर पानी बना रहता है — पानी के बिना नदी न होगी। मनुष्य के अंदर जो चीज बनी रहती है वह है 'चेतना'। चेतना के कारण ही वह बना रह सकता है, उसका आकार स्थायी नहीं होता, वह चेतना होती है, सभी आकारों को बांधनेवाली चेतना जो इन सब चीजों में से होकर गुजरती है और न केवल उनकी स्मृति बनाये रखती है (स्मृति बहुत ही बाहरी चीज है) बल्कि चेतना के समान स्पंदनों को बनाये रखती है।

और यह सृष्टि का बहुत बड़ा रहस्य है क्योंकि यह वही चेतना है 'चेतना' एक ही है। लेकिन जिस क्षण यह चेतना अपने-आपको प्रकट करती है, अपने-आपको बाहरी रूप देती है, वह विस्तार के लिये अपने आपको अनगिनत अंशों में बांट लेती है और इनमें से हर अंश एक व्यक्तिगत सत्ता का मूल, उसका आरंभ होता है। हर व्यक्तिगत रूप का आरंभ, इसी अंश का विधान या इसीका सत्य होता है। अगर हर अंश का विधान, हर रूप का सत्य न होता तो व्यष्टीकरण की कोई संभावना ही होती। तब वह ऐसी चीज होती जो अनिश्चित रूप में विस्तृत होती ही चली जाती; शायद उसमें एकाग्रता के बिंदु होते, कुछ संचयन होते पर कोई व्यक्तिगत चेतना न होती। तब हर रूप एकमेव के बहु में बदलने की प्रक्रिया में एक तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता। इस बहुलता में विधानों का अनगिनत मात्रा, चेतना के तत्त्व और ऐसे सत्य अंतर्निहित होते हैं जो कि में फैल जाते हैं और अंत में पृथक् व्यक्ति बनते हैं। तो ऐसा लगता है कि व्यष्टीकरण की आवश्यकता के कारण व्यक्ति निरंतर अपने मूल से दूर, और अधिक दूर होता चला जाता है। लेकिन एक बार यह व्यष्टीकरण यदि आंतरिक सत्य की यह अभिज्ञता पूरी हो जाये तो एक आंतरिक एकीकरण द्वारा बहु में मौलिक ऐक्य को फिर से स्थापित करना संभव हो जाता है, हम जगत् को जैसा देखते हैं उसका मूल कारण यही है। यह विश्व इसीलिए बनाया गया है ताकि यह घटना-चक्र चल सके . . . ।

यहां ख्याल रखो कि मैंने जान-बूझकर व्यक्तित्व के भाव के कारणों में अहंकार का उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि अहंकार के मिथ्यात्व और भ्रांति होने के कारण व्यष्टि-भाव भी अपने-आप मिथ्या और भ्रांति हो जायेगा—जैसा कि बुद्ध और शंकर ने प्रतिपादित किया है—जब कि व्यष्टीकरण का मूल स्वयं परम प्रभु में है, अहंकार तो एक चलता हुआ विकार है जो उस ज्ञान के लिये तो जरूरी है पर जब उसकी उपयोगिता समाप्त हो जायेगी, जब सत्य चेतना स्थापित हो जायेगी तो वह लुप्त हो जायेगा।

मैं तुम्हें यह निर्णय करते कि तुम अपने तुम्हारी नहीं हुए हो जो करती हैं जि तुम इस अहंकार से हो; क्योंकि यही उसका है कि वह अपनी नहीं अगर तु लिये, कि तु ये ऐसी चीजें तुमने इस वि सारी प्रतिक्रि दिया, उस संस्कारों से बनायी है जो दिया, तुमने बारे में अभि नहीं दिया। कहा जा ध्वनियां, राग और फिर व

चेतना का ऐक्य

मैं तुम्हें यह न जाने कितनी बार समझा चुकी हूँ। तुम समझते हो कि तुम निर्णय करते हो; लेकिन ये बाहर से आनेवाले मनोवेग हैं। तुम सोचते हो कि तुम अपनी इच्छा के बारे में सचेतन हो; लेकिन यह ऐसी चेतना है जो तुम्हारी नहीं है। और हर चीज . . . तुम पूरी तरह किसी ऐसी चीज से बने हुए हो जो प्रकृति की ऐसी शक्तियाँ हैं जो उस उच्चतर इच्छा को प्रकट करती हैं जिसके बारे में तुम निश्चेतन हो।

तुम इस बात को तबतक नहीं समझ पाते जबतक कि तुम अपने अहंकार से बाहर न निकल आओ, चाहे वह एक क्षण के लिये ही क्यों न हो; क्योंकि अहंकार को विश्वास होता है कि वही निर्णय करता है—और यही उसका बल है। लेकिन अगर तुम ध्यान से देखो तो तुम्हें पता लगता है कि वह सब प्रकार की ऐसी चीजों के द्वारा प्रेरित होता है जो उसकी अपनी नहीं हैं।

अगर तुम सावधानी के साथ विश्लेषण करो तो तुम देखोगे, उदाहरण के लिये, कि तुम जो कुछ सोचते हो वह औरों के द्वारा सोचा जा चुका है, कि ये ऐसी चीजें हैं जो घूमती-फिरती हैं और तुम्हारे अंदर से गुजरती हैं लेकिन तुमने इस विचार को जन्म नहीं दिया है, तुम इसके प्रवर्तक नहीं हो। तुम्हारी सारी प्रतिक्रियाएँ पूर्वजता से आती हैं, उनसे आती हैं जिन्होंने तुम्हें जन्म दिया, उस वातावरण से आती हैं जिसमें तुमने निवास किया, उन सब संस्कारों से आती हैं जो तुम्हारे अंदर इकट्ठे हैं और जिन्होंने कोई ऐसी चीज बनायी है जो तुम्हें तुम्हारी अपनी प्रतीत होती है, यद्यपि तुमने उसे जन्म नहीं दिया, तुमने केवल उसका अनुभव किया है, तुम यूँ ही चलते-चलाते उसके बारे में अभिज्ञ हो जाते हो लेकिन तुमने उसे पैदा नहीं किया, तुमने उसे जन्म नहीं दिया।

कहा जा सकता है कि ये ध्वनियों की तरह हैं—किसी भी तरह की ध्वनियाँ, राग, संगीत, कुछ भी—जिन्हें किसी यंत्र ने अभिलिखित कर लिया और फिर कोई दूसरा यंत्र उन्हें ग्रामोफोन की तरह बजा रहा हो। तुम यह

नहीं कहोगे कि जिस ध्वनि को तुम सुन रहे हो उसे ग्रामोफोन ने पैदा किया है। कहोगे क्या ? यह ख्याल तुम्हें कभी नहीं आयेगा। लेकिन चूंकि तुम अतृप्त पृथक् व्यक्तित्व की भ्रांति में हो इसलिये तुम सोचते हो कि ये विचार तुम्हारे मन में से गुजरते हैं और प्रकट होते हैं, ये भाव जो तुम्हारे प्राण में गुजरते हैं और प्रकट होते हैं; वे तुम्हारे अपने हैं। लेकिन तुम्हारे अंदर से कुछ भी नहीं आता। वह “तुम” कहां है जो इस सब का निर्माण कर सकता है।

तुम्हें गहराई में, भीतर की गहराई में जाना होगा और अपने अंदर सर्जक वास्तविकता को जानने के लिये अपने शाश्वत सारतत्त्व को पकड़ लेगा। और एक बार तुम इसे पा लो तो तुम यह जान लोगे कि यह एकमेव वस्तु है, सबके अंदर यही है; तो फिर तुम्हारा पृथक् व्यक्तित्व क्या रहा ? तब कुछ भी नहीं बचा रहता।

हां, ये अभिलेखन करनेवाले और दोहरानेवाले यंत्र हैं और इनमें हमें वह चीज होती है जिसे विकृति या तोड़-मरोड़ कहा जा सकता है—तोड़-मरोड़ भले के लिये भी हो सकती है और बुरे के लिये भी, ये कम बड़े परिवर्तन हो सकते हैं; भीतरी संयोजन ठीक उसी तरह से नहीं दुख जाते जैसे वे एक से दूसरे की ओर गये थे क्योंकि यंत्र बहुत ही जटिल होता है। लेकिन वह वही समान चीज होती है जिसे सचेतन इच्छा चल रही है, जो सभी व्यक्तिगत इच्छाओं से बिलकुल स्वतंत्र होती है...।

कोई भी चीज पृथक् या स्वतंत्र नहीं होती; केवल एक ही पदार्थ, एक शक्ति, एक ही चेतना, एक ही इच्छा होती है जो सत्ता के अनगिनत भागों पर गति करती है।

और वह इतनी जटिल होती है कि तुम उसके बारे में अभिज्ञ नहीं हो सकते। लेकिन अगर तुम जरा पीछे हटो और गति का अनुसरण, गति की किसी रेखा का अनुसरण करो, तो तुम बहुत स्पष्ट रूप से देख सकते हो कि संपदन अपने-आपको फैलाते हैं जिसमें एक दूसरे के और फिर एक दूसरे के भी पीछे चलता रहता है, वस्तुतः ऐक्य एक ही है—पदार्थ का ऐक्य, चेतना का ऐक्य, इच्छा का ऐक्य और वही एकमात्र ऐक्य है। बाहर से प्रकाश की भ्रांति है : पृथक्ता की भ्रांति, भेद की भ्रांति।

अहंकार है क्या ?

अहंकार का अर्थ क्या है ?

मेरा ख्याल है कि अहंकार प्रत्येक को सभी संभव तरीकों से अलग-अलग व्यक्ति बनाता है। अहंकार ही तुम्हें यह भाव देता है कि तुम औरों से भिन्न व्यक्ति हो। निश्चय ही, अहंकार ही तुम्हें ये निम्नलिखित भाव देता है—“मैं”, “मैं हूँ”, “मैं चाहता हूँ”, “मैं करता हूँ”, “मेरा अस्तित्व है”, और वह प्रसिद्ध वाक्य, “मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ”—मुझे खेद है कि यह एक मूर्खता है फिर भी है प्रख्यात मूर्खता। यह भी अहंकार ही है। जो चीज तुम्हें यह संस्कार देती है कि तुम मनोज हो, वह अहंकार है और यह कि तुम इससे, उससे बिलकुल भिन्न हो, जो तुम्हारे शरीर को घुल-मिल जाने से रोकती है, जो भौतिक स्पंदनों की राशि में घुल जाने से रोकती है, वह अहं है, जो तुम्हें निश्चित रूप, निश्चित स्वभाव, पृथक् चेतना, यह भाव कि तुम्हारा अपने-आपमें अस्तित्व है जो और सबसे स्वतंत्र है, वस्तुतः यह कुछ इसी तरह की चीज होती है। अगर तुम मनन न करो तो सहज भाव से तुम्हें ऐसा लगता है कि चाहे सारा जगत् लुप्त हो जाये, तुम बने रहोगे और तुम वही रहोगे जो अभी हो। यह निश्चय ही अति-अहम् या पराऽहम् है।

निश्चय ही अगर तुम अपने अहंकार को मानसिक और प्राणिक तरीके से बहुत जल्दी खो बैठो तो तुम फिर से एक बेडौल राशि बन जाओगे। अहंकार निश्चय ही व्यक्ति बनानेवाला यंत्र है, यानी, जबतक तुम अपने ही अंदर बनी हुई व्यक्तिगत सत्ता हो तबतक अहंकार एक अत्यावश्यक अंश है। अगर तुम्हारे अंदर अपने समय से पहले अहंकार को लुप्त करने की क्षमता हो तो तुम अपना व्यक्तित्व खो बैठोगे लेकिन एक बार व्यक्तित्व का निर्माण हो जाये तो अहंकार केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकर बन जाता है, तभी वह समय आता है जब उसे लुप्त कर देना चाहिये। लेकिन स्वभावतः, चूंकि उसने तुम्हारा निर्माण करने में इतना कष्ट उठाया है, इसलिये वह

अपना काम आसानी से नहीं छोड़ता और वह अपने प्रयासों का पुरस्कार चाहता है यानी व्यक्तित्व का भोग करना चाहता है।

*

अपेक्षाकृत अहंभाव को ठीक करना ज्यादा आसान है क्योंकि हर एक जानता है कि वह क्या है। अगर तुम सचमुच चाहो और उसपर तुलना तो उसे खोजना और ठीक करना आसान होता है।

लेकिन अहं को पकड़ना बहुत अधिक कठिन है क्योंकि वस्तुतः जानने के लिये कि अहं है क्या तुम्हें पहले उससे बाहर होना चाहिए अन्यथा तुम उसे खोज नहीं सकते। तुम पूरी तरह सिर से पैर तक, अहं ढूँढ ले हो, बाह्यतम से लेकर अंतरतम तक, भौतिक से लेकर आध्यात्मिक तक तुम अहं में डूबे हुए हो। वह हर चीज में घुला-मिला है और तुम जानते तक नहीं कि वह क्या है। अहं क्या है यह जानने के लिये तुम्हें कम से-कम आंशिक तौर से या अपनी सत्ता के किसी छोटे कोने में उसका विजय पा लेनी चाहिये, उसमें से निकल आना चाहिये, अपने-आपको उससे मुक्त कर लेना चाहिये।

अहं वह है जो व्यक्ति बनने में हमारी सहायता करता है और व्यक्ति बनने से रोकता है। बात ऐसी है। उसे इकट्ठा करके रखो और तुम अहं का उपयोग पा लोगे। अहं के बिना—जैसा जगत् व्यवस्थित है—कोई व्यक्ति न हो और अहं के रहते जगत् दिव्य नहीं बन सकता।

यह निष्कर्ष निकालना तर्क-संगत होगा, “चलो, पहले हम सचेतन व्यक्ति बन लें और तब हम अहं को विदा कर देंगे और दिव्य बन जायेंगे।” पर तभी जब हम सचेतन व्यक्ति बन जाते हैं, हम अहं के सहारे रहने के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हम उसे पहचान भी नहीं पाते उसकी उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ होने के लिये बहुत परिश्रम की जरूरत होती है।

दूसरी ओर, हर एक जानता है कि अहंभाव क्या है। जब तुम हर चीज

को अपनी
होता, यह
रखते हो
यह अहंभाव
तुम अहंका
अहंकारी ह
है; लेकिन
तो उसकी
है इसलिये
इसे स्
हां, आदर्श
बहुत ज्यादा
क्योंकि को
अस्तित्व
चेतना प्राप्
अहं ह
न होता त
यह ख्यात
बहुत बड़े
एक निश्च
तो अहं ह
तो इसका
जब त
कि तुम ए
कि तुम
चीज में
अहंकार
एक

मार्च १९९१

को अपनी ओर खींचना चाहते हो और अन्य लोगों में तुम्हें कोई रस नहीं होता, यह अहंभाव कहलाता है। जब तुम अपने-आपको विश्व के केंद्र में रखते हो और सभी चीजों का अस्तित्व तुम्हारे संबंध के साथ ही होता है तो यह अहंभाव है। लेकिन यह बहुत स्पष्ट है, यह न देख सकने के लिये कि तुम अहंकारी हो, तुम्हें अंधा होना चाहिये। हर व्यक्ति कम या ज्यादा अहंकारी होता है और कम-से-कम एक अनुपात में अहंभाव मान्य भी होता है; लेकिन साधारण जीवन में भी जब आदमी जरा ज्यादा अहंभाववाला हो तो उसकी नाक पर घूंसे लगते ही रहते हैं; क्योंकि चूंकि हर व्यक्ति अहंवादी है इसलिये कोई भी दूसरे के अंदर अहंभाव को पसंद नहीं करता।

इसे स्वीकार कर लिया जाता है, यह सार्वजनिक नैतिकता का अंग है, हां, आदमी को जरा अहंकारी होना चाहिये, पर बहुत ज्यादा नहीं, ताकि वह बहुत ज्यादा स्पष्ट न हो! दूसरी ओर, कोई भी अहं के बारे में नहीं बोलता क्योंकि कोई भी उसे नहीं जानता। वह इतना घनिष्ठ साथी है कि कोई उसके अस्तित्व को भी नहीं जानता; फिर भी, जबतक वह है तबतक तुम्हें दिव्य चेतना प्राप्त न होगी।

अहं ही वह है जो तुम्हें औरों से भिन्न होने का भाव देता है। अगर अहं न होता तो तुम्हें यह पता न होता कि तुम औरों से भिन्न व्यक्ति हो। तुम्हें यह ख्याल रहता कि तुम किसी समग्र का एक छोटा-सा भाग हो, एक बहुत बड़े समग्र का एक बहुत छोटा-सा अंश। दूसरी ओर तुममें से हर एक निश्चय ही एक पृथक् व्यक्ति होने के बारे में पूरी तरह सचेतन है, हां तो अहं ही तुम्हें यह ख्याल देता है। जबतक तुम इस तरह सचेतन होते हो तो इसका मतलब होता है कि तुम्हारे अंदर अहं है।

जब तुम इस बात से अभिज्ञ होने लगते हो कि सब कुछ तुम ही हो, कि तुम एक ही व्यक्ति के हजारों-लाखों बिंदुओं में से एक छोटे-से बिंदु हो, कि तुम सब जगह हो, जब तुम यह अनुभव करते हो कि तुम स्वयं हर चीज में हो और कोई पृथक्ता नहीं है, तब तुम जान सकते हो कि अब तुम अहंकारशून्य होने के मार्ग पर हो।

एक ऐसा समय भी आता है जब अपने बारे में सोचना और यह कहना

असंभव होता है कि “यह मैं नहीं हूँ,” क्योंकि इस तरह से कहना, कहना कि सब कुछ तुम हो, सब कुछ तुम ही हो या यह कि तुम भाग्य हो या भगवान् तुम हो, यह प्रमाणित करता है कि अभी कुछ बचा हुआ है।

एक ऐसा क्षण होता है—यह एक दमक में हो जाता है और मुश्किल ही ठहरता है—जब सर्व ही सोचता है, सर्व ही जानता है, सर्व ही अनुभव करता है, सर्व ही जीता है। ऐसा कोई चिह्न तक नहीं है कि तुम उस बिंदु पर जा पहुंचे हो।

उस अवस्था में सब ठीक होगा; लेकिन तब तक कहीं पर अहंकार छोटा-सा हिस्सा रहता है; सामान्यतः यह वह हिस्सा है जो देखता है। साक्षी है।

तो यह दावा न करो कि तुम्हारे अंदर अहंकार बाकी नहीं रहा। यथार्थ नहीं है। तुम कह सकते हो कि तुम अहं-शून्य होने के मार्ग पर हो यही कहने लायक ठीक चीज है।

*

तुम कहते हो, “भौतिक चेतना और अहंकार ‘मैं’ नहीं हूँ।” वस्तु तुम्हारी अंतरात्मा यह बात कह सकती है। निश्चय ही तुम्हारी अंतरात्मा या भौतिक चेतना नहीं है; लेकिन मनोमय, प्राणमय और अन्नमय सत्ताओं अहं ने ही रूप दिया है और अहं के द्वारा ही वे अपने-आपको प्रकट कर रहे हैं। अहंकार द्वारा ही वे अन्यो के संपर्क में आती हैं और इन संपर्कों प्रति प्रतिक्रिया करती हैं, यही कठिनाई है और इसी कारण भागवत हस्त के बिना अहं से पिंड छुड़ाना लगभग असंभव है...

अहं को नष्ट नहीं किया जा सकता परंतु सतत और संपूर्ण पृथक्ता उसपर विजय पायी जा सकती है। यही वह आवश्यक तैयारी है जिस बारे में मैंने कहा था।

तुम्हें पूरी तरह समझाने के लिये मैं कुछ और अधिक बतलाऊंगा

मार्च १९९१

१५

मानव चेतना के वे सभी तत्त्व जो अंतरात्मा के चारों ओर इकट्ठे होते और अपने-आपको हजारों जीवनों में संगठित करते हैं वे चैत्य सत्ता को रूप देते हैं। जब यह चैत्य सत्ता सुनिर्मित हो तो वह अंतरात्मा और भौतिक सत्ता के बीच माध्यम बन जाती है।

जब चैत्य सत्ता मुक्त हो जाती है तो वह अनुभव करती है कि अहं और भौतिक सत्ता उसके बाहर, उससे अलग, वैश्व प्रकृति की गतिविधियां हैं और ये गतिविधियां किसी भी तरह चैत्य को प्रभावित नहीं कर सकतीं।

भांति भांति के अहंकार

आदमी के अंदर बहुत-से अहं होते हैं। तुम उनके बारे में तब जान पाते हो जब तुम उन्हें नष्ट करना शुरू करो। जब तुम उस अहं को नष्ट कर लो जो सबसे अधिक कष्टदायक था तो वह सामान्यतः एक तरह का भीतरी तूफान खड़ा कर देता है। जब तुम तूफान में से बाहर निकल आते हो तो तुम्हें लगता है, “लो, अब यह मामला समाप्त, सब कुछ हो गया, मैंने अपने अंदर के वैरी को नष्ट कर दिया, सब कुछ पूरा हो गया।” लेकिन कुछ ही समय बाद तुम देखते हो कि एक और, और फिर एक और, और फिर एक और वैरी है, वस्तुतः तुम छोटे-मोटे अहंकारों के ढेर से मिलकर बने हो जो पूरी तरह ऊधमी हैं और जिन्हें एक के बाद एक जीतना जरूरी है।

*

एक पारिवारिक अहं होता है और यह बड़ा मजेदार होता है क्योंकि पारिवारिक अहं ही परिवार के सभी सदस्यों को किसी-न-किसी तरह एक जैसा बनाता है। वे एक ही नहीं होते पर एक-दूसरे से मिलते हैं। तुम जान

लेते हो कि वे एक ही परिवार के हैं और अगर तुम और पीछे, पूर्वजों और जाओ तो तुम देखते हो कि सारे वंश में एक तरह की समानता है। यह पारिवारिक अहं होता है जो व्यक्तिगत अहं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है; और फिर एक राष्ट्रीय अहंकार होता है। और जो परिवार ज्यादा मिले-जुले नहीं होते, यानी जो बहुत ज्यादा मिले-जुले बिना रहे हैं, उदाहरण के लिये अभिजात-तंत्र के जमाने में, अभिजात लोग ज्यादा मिलते-जुले नहीं थे, वे एक ही वंशावली में बने रहे; हां तो उनमें अहंकार के लक्षण बहुत स्पष्ट थे; उदाहरण के लिये, फ्रांस की बूरबौ वंशावली में ऊपर नीचेतक सर्वत्र ऐसा ही है, हम उन्हें आपस में एक-दूसरे जैसा ही पाते हैं स्वभावतः जैसे ही जातियां, किस्म, राष्ट्रीयताएं आपस में मिलती हैं अहंकारों का मिश्रण होता है। और तब क्षितिज बढ़ने लगता है। जैसे मनुष्य अपने मन को विस्तृत करने की कोशिश करता है, बहुत-सी भिन्न चीजें सीखता है, बहुत-सी भाषाएं सीखता है, भिन्न-भिन्न देशों की जानकारी पाता है, तब आदमी अपने अहंकार को बहुत ज्यादा विस्तृत करता है और कम संकीर्ण मनवाला बनने लगता है। स्वभावतः द्वारा तुम इन सबपर सचेतन रूप से विजय पा सकते हो।

*

... तुम्हें पता नहीं कि अपने-आपको इस छोटे-से अहंकार से अलग करना कितना कठिन है, वह इतना छोटा होते हुए भी मार्ग में कितना बाधा होता है। इतना अधिक सूक्ष्म होते हुए भी कितना अधिक स्थान ले लेता है। यह बहुत कठिन है। तुम कुछ बहुत स्पष्ट चीजों में से इसे निकाल बाहर करते हो, उदाहरण के लिये अगर कोई अच्छी चीज है और कोई दूसरा पहले हथियाने के लिये झपटता है, अपने पड़ोसियों के साथ धक्का-मुक्का भी करता है, (साधारण जीवन में ऐसा प्रायः होता है) तो तुम्हें अच्छी बात पता लग जाता है कि यह बहुत सुरुचिपूर्ण क्रिया नहीं है इसलिये तुम उसे अनगढ़ चीजों को दबाना शुरू करते हो, तुम इसके लिये बहुत प्रयत्न करते

हो और
के लिये
इस विचार
जाते हो
के बारे में
दिया है,
अपनी स
बिताते हैं
अपनी उ
देखते हैं
चकनाचू

यह
भयंकर
अहंकार
नहीं कि
करा देते
परंतु आ
बहुत अ
अहंकार

जब
कर रहे
लाभ,
आपको

मार्च १९१९

हो और बहुत अधिक आत्म-तुष्ट हो जाते हो, "मैं स्वार्थी नहीं हूँ, जो औरों के लिये अच्छा है वह मैं उन्हें देता हूँ, अपने लिये नहीं रख लेता।" और इस विचार से तुम फूल उठते हो। इस तरह तुम एक नैतिक अहंकार से भर जाते हो जो भौतिक अहंकार से ज्यादा खराब है क्योंकि वह अपनी श्रेष्ठता के बारे में सचेतन होता है। और फिर ऐसे लोग हैं जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है, सब कुछ त्याग दिया है, जिन्होंने अपने परिवार छोड़ दिये हैं, अपनी संपत्ति बांट दी है, एकांत में चले गये हैं और तपस्वी का जीवन बिताते हैं, जो भयंकर रूप से अपनी श्रेष्ठता के बारे में सचेतन होते हैं, जो अपनी आध्यात्मिक महानता से बेचारी मानवजाति की ओर नीची दृष्टि से देखते हैं। इन लोगों में इतना जबर्दस्त अहंकार होता है कि जबतक उसे चकनाचूर न कर दिया जाये वे कभी, कभी भगवान् के दर्शन न कर पायेंगे।

*

यह आध्यात्मिक अहंकार सामान्य अहंकार की अपेक्षा बहुत अधिक भयंकर होता है ! क्योंकि इसमें आदमी को यह पता नहीं होता कि यह अहंकार है। बाहरी तौर पर जब तुम अहंकार से भरे होते हो तो इतना ही नहीं कि तुम उसे जानते हो बल्कि और लोग तुम्हें उसका और अधिक भान करा देते हैं और परिस्थितियां क्षण-क्षण पर तुम्हें उसका प्रमाण देती रहती हैं; परंतु आध्यात्मिक अहंकार में दुर्भाग्यवश तुम्हें ऐसे लोग मिलते हैं जो तुम्हारा बहुत अधिक मान करते हैं, तुम्हें पता भी नहीं लगता कि तुम बहुत ज्यादा अहंकार से भरे हो।

*

जब तुम कोई चीज करते हो तो हमेशा वे दो—मन और प्राण—तुम जो कर रहे हो उससे लाभ उठाने की कोशिश करते हैं : व्यक्तिगत संतोष का लाभ, प्रसन्नता का लाभ, अपने बारे में अच्छी राय का लाभ। अपने-आपको धोखा न देना कठिन है।

नास्तिकता और जड़वाद का आधार

संसार में समस्त जड़वाद और प्रत्यक्षवाद की रचना केवल इसलिये हुई कि लोग बिल्कुल नहीं चाहते कि भागवत कृपा नीचे आये। अगर रोगमुक्त हो जायें तो वे कहना चाहेंगे, “मैंने अपने-आपको रोग-मुक्त किया है,” अगर वे कुछ प्रगति कर लें तो वे सोचना चाहते हैं, “मैंने ही प्रगति की है।” अगर वे किसी चीज को व्यवस्थित कर लें तो वे घोषणा करना चाहते हैं, “मैं ही व्यवस्था कर रहा हूँ।” और उनमें से बहुत-से, इससे विपरीत करने की कोशिश करते हैं, अगर वे अपने अंदर देखें पायेंगे कि कितने विरल अवसरों पर सहज और निष्कपट रूप से (ऐसे कि वे कोई बात इसलिये कहें क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा कहना चाहिए या इस कारण ऐसा सोचते हैं कि ऐसा सोचना फैशन है—ऐसे नहीं बल्कि सहज सचाई के साथ) वे अपने पूरे हृदय से यह जानते हैं कि यह उन्होंने नहीं की, भागवत शक्ति ने की है। जब वे कोई प्रगति कर लेते हैं जब उन्होंने अपने अंदर कोई चीज बदल ली हो, जब उन्होंने कोई चीज सीखी हो, तब वह यदि सहज भाव से हो, इच्छा-शक्ति के प्रयास के बिना सोचे बिना, अपने-आपसे यह कहने की जरूरत के बिना, “हमें ऐसा सोचना चाहिये,” तुम सहज रूप से जान जाते हो कि दिव्य शक्ति के बिना कुछ भी न हो पाता। अपने भीतर देखो, यह बहुत मजेदार चीज होती है, बहुत मजेदार, दिन में कितनी बार, (अपने-आपसे कहे बिना भी) तुम यह सोचते हो “मैंने यह किया है,” “मैं वह कर पाया हूँ,” “मैं इसमें सफल हुआ,” “मैं इसमें असफल हुआ।” और जब तुमने अच्छा प्रयास किया हो, तुम परिणाम भी पा लिया हो तो तुम्हें सोचने के लिये, या इससे अधिक, अपने-आपसे यह कहने के लिये एक क्षण की जरूरत होती है कि अगर भागवत शक्ति ने मेरी सहायता न की होती तो शायद मैं यह न कर पाता। सहज चीज होती है “ओह ! मैं सफल हो गया,” यह सच नहीं है क्या ? निश्चय ही मन का एक भाग ऐसा होता है जिसे शिक्षा मिली है, जिसने सीखा है जिसने चिंतन किया और समझा है। जो यह मानता और सचमुच

मार्च १९

अनुभव
एक भाग
बुलाना
सबसे अ
ख्वाल है
सच्चे औ
आपसे व
तो शायद
पाता।”
आदमी
भी न उ
आदमी
कितनी
किया है
कहता है
चलती
यह कह
किया है
कितने
मैं ऐसे
विकसित
करने बै
एक प्रव
होती थी
जरूरत
पद्मासन
ही उन
भी। श

अनुभव करता है कि वास्तव में बात ऐसी है। लेकिन यह मन का केवल एक भाग होता है और यह हमेशा सक्रिय नहीं होता। कभी-कभी इसे बुलाना होता है और इसकी राय मांगनी होती है, “हां, तो अपनाने लायक सबसे अच्छी वृत्ति कौन-सी है?” “मुझे क्या सोचना चाहिये?” मेरा ख्याल है कि ऐसे सब लोग जिन्होंने योगाभ्यास को अपनाया है, अगर वे सच्चे और निष्कपट हों, अगर वे क्षण भर के लिये भी सोचें तो अपने-आपसे कहते हैं, “मुझे इसका पता न था लेकिन अगर मैं सफल हुआ हूं तो शायद इसलिये कि दिव्य शक्तियां मेरे साथ थीं अन्यथा मैं सफल न हो पाता।” यह समझी हुई बात है, लेकिन एक ऐसा क्षण आता है जब आदमी को पता लगता है कि अगर वे शक्तियां न होतीं तो वह एक उंगली भी न उठा पाता। यह बाद में आता है... लेकिन आरंभ के लिये, अगर आदमी सोचे, अगर सरलता के साथ अपना अवलोकन ही करे तो वह कितनी ही बार अपने-आपको यह कहते हुए पकड़ता है, “यह तो मैंने किया है।” और कभी-कभी व्यक्ति अपने-आपको बधाई देता है और कहता है, “आखिर मैं कुछ कर सकता हूं, मैं योग्य हूं!” मैं और आगे चलती हूं: कितने आदमी हैं जो कुछ भी कर पाते यदि वे अपने-आपसे यह कहने के सुख से वंचित हो जाते, “यह मैंने किया है, मैंने वह प्राप्त किया है, मैंने प्रगति की है, मैंने यह खेल कितनी अच्छी तरह से खेला।” कितने लोग सचमुच कुछ कर पाते अगर उनसे यह प्रसन्नता ले ली जाती? मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिनका मन उनकी बाकी सत्ता से कहीं अधिक विकसित था, वे अच्छी तरह समझ गये थे, शायद जरा ज्यादा ही, वे ध्यान करने बैठते और उनकी सारी शक्ति गायब हो जाती, सारी जीवन-शक्ति एक प्रकार की शांति में भाप बनकर उड़ जाती, जो अप्रिय नहीं, बहुत स्थिर होती थी। उन्हें और कुछ करने की जरूरत नहीं होती थी, हिलने-डुलने की जरूरत नहीं रहती थी, ऐसे लोग बस सपने देखते हैं... एक पेड़ के नीचे पद्यासन लगाकर बैठ जाते हैं और सब कुछ भगवान् पर छोड़ देते हैं कि वे ही उनके लिये सब कुछ करें, यहांतक कि जरूरत होने पर उन्हें खिलायें भी। शायद यह सब ठीक है लेकिन इससे पता लगता है कि यंत्र तैयार नहीं

है, वह सचमुच भगवान् की सेवा में नहीं है, अहंकार की सेवा में है। यदि अहं को हटा लिया जाये तो फिर वह कुछ नहीं करता। अतः, जबतक मनुष्य अहंकार में निवास करता है, उससे काम करवाने के लिये अहंकार जरूरी है। यह तबतक जरूरी है जबतक व्यक्ति का पूरा रूपांतर न हो जाय या कम-से-कम तबतक जबतक सत्य-चेतना स्थापित न हो जाये।

मैंने यह कहा है और मैं दोहराती हूँ, (माताजी अपनी पुस्तक उठा ले हैं) : “तुम जो भी करो, चाहे जिस प्रक्रिया का उपयोग करो और यदि तुम बहुत कौशल और शक्ति भी पा ली हो, तुम्हें परिणाम भगवान् के हाथों छोड़ देना चाहिये। तुम हमेशा प्रयास कर सकते हो लेकिन यह भगवान् के हाथ में है कि वे तुम्हें तुम्हारे प्रयास का फल दें या न दें। तुम्हारी व्यक्तिगत शक्ति वहीं रुक जाती है। अगर परिणाम आता है तो तुम्हारी शक्ति का भागवत शक्ति उसे लाती है।

(प्रश्नोत्तर १९२९)

हां, तो यह विचार प्रायः सभी धर्मों में सिखाया गया है। इसीने लोगों को नास्तिक बनाया है। यह उन्हें बहुत क्रुद्ध कर देता है, यह विद्रोह का क्रोध होता है, “क्या ! मैं नहीं ?”

और यह “मैं,” अगर तुम्हें पता होता कि यह कितना बड़ा है ! कैसे वह सारी जगह को घेर लेता है . . . । यही समस्त जड़वाद का आधार है।

*

पृथ्वी पर कठिन घड़ियां आती हैं ताकि मनुष्यों को अपने छोटे-से निमित्त अहंकार पर विजय पाने और सहायता और प्रकाश के लिये ऐकांतिक रूप से भगवान् की ओर मुड़ने के लिये बाधित करें।

मानवजाति की सेवा

भगवान् हर जगह हैं इसलिये अगर कोई मानवजाति की सेवा करता है तो वह भगवान् की सेवा करता है। ठीक है न ?

यह अद्भुत बात है ! इस मामले में सबसे स्पष्ट बात यह कहना है, “भगवान् मेरे अंदर हैं, अगर मैं अपनी सेवा करूँ तो भगवान् की ही सेवा कर रहा होऊंगा !” (हंसी) वस्तुतः भगवान् सब जगह हैं। भगवान् तुम्हारे बिना ही अपना काम अपने-आप भली-भांति कर लेंगे।

मैं भली-भांति देखती हूँ कि तुम नहीं समझ पाये। लेकिन सचमुच अगर तुम यह समझ पाओ कि भगवान् सभी चीजों में हैं तो मानवता की सेवा करके तुम किस चीज में हस्तक्षेप कर रहे हो ? मानवजाति की सेवा करने के लिये तुम्हें भगवान् से ज्यादा अच्छी तरह जानना चाहिये कि क्या करना चाहिये। क्या तुम भगवान् से ज्यादा अच्छी तरह से जानते हो कि मानवजाति की सेवा कैसे की जाये ?

भगवान् हर जगह हैं, हाँ। चीजें दिव्य नहीं मालूम होतीं...। रही बात मेरी, तो मैं केवल एक समाधान देखती हूँ : अगर तुम मानवजाति की सहायता करना चाहते हो तो बस एक चीज करनी चाहिये वह है तुम अपने-आपको यथासंभव पूरी तरह लेकर भगवान् के अर्पित कर दो। यही समाधान है, क्योंकि इस तरह कम-से-कम वह जड़ भौतिक वास्तविकता, जिसके तुम प्रतिनिधि हो, जरा ज्यादा भगवान् की तरह विकसित हो पायेगी।

हमसे कहा जाता है कि भगवान् सभी चीजों में हैं। तो फिर चीजें बदलती क्यों नहीं ? क्योंकि भगवान् को प्रत्युत्तर नहीं मिलता, हर चीज भगवान् को प्रत्युत्तर नहीं देती। इसे देखने के लिये तुम्हें चेतना की गहराई में खोजना चाहिये। मानवजाति की सेवा करने के लिये तुम करना क्या चाहते हो ? गरीबों को भोजन देना ? —तुम उनमें से करोड़ों को खिला सकते हो। यह कोई समाधान नहीं है। समस्या जैसी-की-वैसी बनी रहेगी। मनुष्यों को

नयी और ज्यादा अच्छी रहने की व्यवस्था देना ? — भगवान् उनके अंदर हैं, तब फिर यह कैसे है कि चीजें बदलती नहीं ? भगवान् तुम्हारी अपेक्षा मानवजाति की अवस्थाओं के बारे में ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं। तुम हो क्या ? तुम केवल एक थोड़ी-सी चेतना और जरा-से भौतिक पदार्थ के प्रतिनिधि हो, और इसीके तुम अपना “मैं” कहते हो। अगर तुम मानवजाति, जगत् या विश्व की सहायता करना चाहते हो तो करने लायक एकमात्र चीज यह है कि वह छोटी-सी चीज भगवान् को दे दो। जगत् दिव्य क्यों नहीं है ? . . . यह तो स्पष्ट ही है कि जगत् सुव्यवस्थित नहीं है। अतः एक समाधान यही है कि जो कुछ तुम्हारा है उसे भगवान् को दे दो, पूरी तरह दे दो, सब कुछ भगवान् को दे दो, केवल अपने लिये नहीं, मानवता के लिये, विश्व के लिये दे दो। इससे अच्छा कोई समाधान नहीं है। तुम मानवजाति की सहायता कैसे करना चाहते हो ? तुम्हें तो यह भी नहीं मालूम कि उसे किस चीज की जरूरत है। शायद तुम्हें इससे भी कम पता होगा कि तुम किस शक्ति की सेवा कर रहे हो। तुम वस्तुतः अपने-आपको बदले कि और किसी चीज को कैसे बदल सकते हो ?

बहरहाल, तुम्हारे अंदर इतनी शक्ति नहीं है कि यह कर सको। अगर तुम्हारे अंदर दूसरे की अपेक्षा ज्यादा ऊंची चेतना न हो तो तुम उसकी सहायता करने की आशा कैसे कर सकते हो ? यह कैसा बचकाना विचार है ! बच्चे ऐसा कहा करते हैं, “मैं एक छात्रावास खोलने जा रहा हूँ, मैं बच्चों के लिये शिशुसदन बनाऊंगा, गरीबों को शोरबा दूंगा, इस ज्ञान का प्रचार करूंगा, इस धर्म को फैलाऊंगा . . .” तुम ऐसा इसलिये कहते हो क्योंकि तुम समझते हो कि तुम औरों से ज्यादा अच्छे हो, तुम सोचते हो कि तुम उनकी अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह जानते हो कि उन्हें कैसा बनना चाहिए या क्या करना चाहिये। यही है क्या मानव सेवा ! तुम इस सबको जान रखना चाहते हो ? इसने चीजों में बहुत परिवर्तन नहीं किया है। मानवजाति की सेवा के लिये हस्पताल या विद्यालय नहीं खोले जाते।

फिर भी इस सबसे सहायता तो मिली ही है, है ना ? अगर स
विद्यालय बंद कर दिये जायें तो ?

मार्च १९
मुझे
पहले से
भी कुछ
यही
कि कोई
करने क
वस्तुतः
यह भल
संतोष न
उदाहरण
क्योंकि
काम क
महत्वाक
मैं ए
इतनी ज
उनके लि
बेकार हो
कि जबत
स्थिति में
चाहे जि
हैं। वे त
दुनिया के
अपने जी
प्रकार क
कुछ नही
यह आद
ज्यादा न
वह अपन

मुझे नहीं लगता कि मानवजाति पहले से ज्यादा खुश है और न यह कि पहले से ज्यादा सुधार हुआ है। इस सबसे बस तुम्हें यह लगता है कि “मैं भी कुछ हूँ।” इसीको मैं महत्वाकांक्षा कहती हूँ।

यही लोग, जो विद्यालय के लिये धन देने को तैयार हैं, उनसे कहा जाये कि कोई भागवत कार्य करना है, कि भगवान् ने उसे इस विशेष तरीके से करने का निश्चय किया है, उन्हें अगर यह विश्वास हो भी जाये कि यह वस्तुतः भगवान् का काम है तो भी वे कुछ देने से इंकार करते हैं क्योंकि यह भलाई का मान्यता-प्राप्त रूप नहीं है—इससे तुम्हें कुछ भलाई करने का संतोष नहीं मिलता ! इसे मैं महत्वाकांक्षा कहती हूँ। मैंने ऐसे लोगों के उदाहरण देखे हैं जो एक हस्पताल खोलने के लिये लाखों रुपये दे सकते थे क्योंकि इससे उन्हें संतोष मिलता है कि वे कोई महान्, उदात्त, उदारतापूर्ण काम कर रहे हैं। वे अपने-आपको महान् बना लेते हैं। यही है जिसे मैं महत्वाकांक्षा कहती हूँ।

मैं एक विनोदप्रिय को जानती थी जो कहा करता था, “भगवान् का राज्य इतनी जल्दी नहीं आयेगा क्योंकि फिर बेचारे परोपकारी लोगों का क्या होगा ? उनके लिये क्या रह जायेगा ? अगर मानवजाति कष्ट न सहे तो परोपकारी बेकार हो जायेंगे।” इसमें से बाहर निकलना कठिन है। फिर भी यह तथ्य है कि जबतक जगत् अपने-आपको भगवान् को नहीं सौंप देता तबतक वह उस स्थिति में से नहीं निकल सकता जिसमें वह है। सभी सद्गुण—तुम उनकी चाहे जितनी महिमा गाओ—तुम्हारे आत्म-संतोष को, यानी, अहं को बढ़ाते हैं। वे तुम्हें सचमुच भगवान् के बारे में सचेतन होने में सहायता नहीं देते। दुनिया के बुद्धिमान् और उदार लोगों को बदलना सबसे कठिन होता है। वे अपने जीवन से बहुत संतुष्ट होते हैं। एक गरीब आदमी, जिसने जीवन में सब प्रकार की बेवकूफियां की हैं, तुरंत दुःखी हो उठता है और कहता है : “मैं कुछ नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता। मुझे तुम जो बनाना चाहो बना लो।” यह आदमी ज्यादा ठीक है और यह भगवान् के, उस आदमी की अपेक्षा बहुत ज्यादा नजदीक है जो बुद्धिमान् है तथा अपनी बुद्धिमत्ता और गर्व से भरा है। वह अपने-आपको वैसा ही देखता है जैसा कि वह है।

उदार, बुद्धिमान पुरुष, जिसने मानवजाति के लिये बहुत कुछ किया है अपने-आपसे इतना ज्यादा संतुष्ट होता है कि वह बदलने का विचार जरा भी नहीं कर सकता। सामान्यतः ये लोग कहते हैं, “वस्तुतः, अगर मैंने जगत् निर्माण किया होता तो मैं उसे ऐसा न बनाता। मैं इससे कहीं अधिक अच्छा जगत् बनाता।” और वे उसे ठीक करने की कोशिश करते हैं जिसे भगवान् बुरी तरह बनाया है ! उनके चित्र के अनुसार यह सब मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ है . . .। इस वृत्ति के साथ तुम भगवान् के नहीं हो सकते। तब तो तुम्हारे और उनके बीच हमेशा अपनी उस बौद्धिक श्रेष्ठता का सचेतन अहंकार रहेगा जो भगवान् का मूल्यांकन करती है और उसे विश्वास होता है कि उसकी भूल कभी नहीं हो सकती। ऐसे लोगों को यह विश्वास होता है कि अगर उन्होंने जगत् बनाया होता तो वे ऐसी मूर्खताएं कभी न करते जैसी भगवान् कर बैठें हैं और यह सब आता है घमंड, गर्व, आत्माभिमान से। और उसका बीज उन लोगों में होता है जो मानवजाति की सेवा करना चाहते हैं।

वे मानवजाति को क्या देनेवाले हैं ? बिल्कुल कुछ भी नहीं ! अगर वे अपने रक्त की एक-एक बूंद, अपने सिर के सभी विचार, अपनी जेब का सा धन दे दें तब भी वे एक व्यक्ति को भी न बदल सकेंगे जो शाश्वत काल के अंदर एक क्षण मात्र है। वे मानते हैं कि वे शाश्वतता की सेवा कर सकते हैं मनुष्य से ऊंची सत्ताएं भी हैं जो यहां उतरी हैं, जो प्रकाश लायी हैं, जिन्होंने अपना जीवन दे दिया है लेकिन इससे चीजों में कोई बहुत परिवर्तन नहीं हुआ तो फिर एक छोटा-सा आदमी, एक अति क्षुद्र व्यक्ति सच्ची सहायता कैसे कर सकता है ? यह घमंड है। युक्ति यह दी जाती है, “अगर हर आदमी अपने अच्छे-से-अच्छा करे तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।” मैं ऐसा नहीं मानती, यह भी असंभव। एक तरह से विश्व में हर चीज अपना अच्छे-से-अच्छा कर रही है लेकिन उस अच्छे-से-अच्छे का कुछ भी मूल्य नहीं होता। जबतक सब कुछ न बदल जाये तबतक कुछ नहीं बदलेगा। इस अच्छे-से-अच्छे को बदल देना होगा। अज्ञान की जगह ज्ञान, शक्ति और चेतना को जन्म लेना चाहिए अन्यथा हम सदा उसी मूर्खता के चारों ओर घूमते रहेंगे।

तुम लाखों हस्पताल खोल सकते हो, यह लोगों को बीमार होने से

रोकेगा।
प्रोत्साहन
को चुप
चाहिये।
मानवजाति
नहीं है।

वास्तव

कष्ट कम
होने की
वही बना
स्थान दूस
चीज नहीं
होती, और

कम-

भी हो।

अगर इस

महत्त्व न

आया।

हजार आ

उन्हें खिल

बिल्कुल

स्थापना

अच्छा ही

लेना चा

कर रहे

है।” ले

है। तुम

निजी संते

रोकेगा। इसके विपरीत, उन्हें बीमार होने के लिये हर सुविधा मिलेगी, हर प्रोत्साहन मिलेगा। हम इस तरह के विचारों में डूबे हुए हैं। यह तुम्हारी चेतना को चुप करता है : “मैं जगत् में आया हूँ, मुझे औरों की सहायता करनी चाहिये।” तुम अपने-आपसे कहते हो, “मैं कितना निःस्वार्थ हूँ ! मैं मानवजाति की सहायता करने जा रहा हूँ।” यह सब अहंभाव के सिवा कुछ नहीं है।

वास्तव में, पहला मनुष्य जिसमें तुम्हें रस होता है वह स्वयं तुम हो। तुम कष्ट कम करना चाहते हो लेकिन जबतक तुम कष्ट सहने की क्षमता को प्रसन्न होने की निश्चिन्ता में नहीं बदल सकते तबतक जगत् कभी न बदलेगा। वह का वही बना रहेगा, हम एक गोले में चक्कर लगाते रहेंगे—एक संस्कृति का स्थान दूसरी संस्कृति लेती है, एक विपदा के स्थान पर दूसरी आती है, लेकिन चीज नहीं बदलती, क्योंकि किसी चीज की कमी होती है, उसमें कोई चीज नहीं होती, और वह है चेतना। बस यही।

कम-से-कम यह मेरी राय है और मैं तुम्हें दे रही हूँ, इसका मूल्य चाहे जो भी हो। अगर तुम हस्पताल और विद्यालय बनाना चाहो तो बना सकते हो। अगर इससे तुम्हें खुशी मिलती है तो तुम्हारे लिये बहुत अच्छा। इसका बहुत महत्व नहीं है। जब मैंने ‘मोस्यो वैंसां’ नामक फिल्म देखी तो मुझे बहुत मजा आया। उन्होंने देखा कि जब उन्होंने दस आदमियों को भोजन दिया तो एक हजार आगे आ गये। ‘वालबर्ट’ ने उससे यही कहा था, “ऐसा लगता है कि उन्हें खिला खिला कर तुम अपने गरीबों का निर्माण करते हो !” और यह बात बिल्कुल गलत भी नहीं है। फिर भी, अगर तुम्हारी नियति है कि विद्यालयों की स्थापना करो और शिक्षा दो, बीमारों की देख-भाल करो, हस्पताल खोलो, यह अच्छा ही है, किये जाओ। लेकिन तुम्हें इस चीज को बहुत गंभीरता से न लेना चाहिये। यह भव्य आडंबरपूर्ण धर्म है जिसे तुम अपनी खुशी के लिये कर रहे हो। तुम कहो, “मैं यह कर रहा हूँ क्योंकि इससे मुझे खुशी होती है।” लेकिन इसमें योग की बात न करो। तुम जो कर रहे हो वह योग नहीं है। तुम मानते हो कि तुम कोई बड़ा काम कर रहे हो, और बस। यह तुम्हारे निजी संतोष के लिये है . . . ।

कुछ अच्छा कर सकने से पहले तुम्हें अपने अंदर गहराई में जाना चाहिए और एक महत्वपूर्ण खोज करनी चाहिये। वह यह है कि तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है। केवल एक ही चीज है जिसका अस्तित्व है और वह है भगवान्, जब तक तुमने यह खोज नहीं कर ली तब तक तुम पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते। लेकिन यह बहुत कठोर चमड़ी है! ... अगर तुम्हारे अंदर दार्शनिक मन है तो तुम अपने-आपसे पूछोगे : “मैं ‘मैं’ किसे कहता हूँ ? क्या यह मेरा शरीर है ? —यह सारे समय बदलता रहता है। यह हमेशा एक ही चीज नहीं रहता। क्या ये मेरे भावनाएं हैं ? —ये कितनी अधिक बदलती रहती हैं। क्या ये मेरे विचार हैं ? —वे तो हमेशा बनते बिगड़ते रहते हैं। यह मैं नहीं हूँ। आत्मा कहां है ? मुझे सातत्य का यह भाव कौन देता है ?” अगर तुम सच्चाई के साथ चलते चले तुम कुछ वर्ष पीछे चले जाओ तो समस्या अधिकाधिक पेचीदा हो जाती है। तुम देखते चलो, तुम अपने-आपसे कहते हो : “हां, यह मेरी स्मृति है।” लेकिन अगर तुम अपनी स्मृति खो भी दो तो भी वह के वही बने रहोगे। अगर तुम सच्चाई के साथ इस गहरी खोज को जारी रखो तो एक क्षण आता है जब सारा कुछ लुप्त हो जाता है और केवल एकमात्र वस्तु बनी रह जाती है और वह है भगवान्, भागवत उपस्थिति। हर चीज गायब हो जाती है, लुप्त हो जाती है, हर चीज धूप में मक्खन की तरह पिघल जाती है। जब तुम यह खोज कर लेते हो तो तुम्हें पता चलता है कि तुम आदतों के एक गड्ढर के सिवा कुछ न थे। बोलनेवाला हमेशा वही होता है जो भगवान् को नहीं जानता, जो भगवान् के बारे में सचेतन नहीं होता। हर व्यक्ति में सैंकड़ों, हजारों ‘स्व’ होते हैं जो बोलते हैं और अलग-अलग सैंकड़ों तरीकों से बोलते हैं — ‘स्व’ जो अचेतन, बदलते हुए, द्रव जैसे होते हैं। आज जो स्व बोलता है वह वही कलवाला स्व नहीं है; और अगर तुम और आगे देखो तो स्व गायब हो जाता है। केवल एक ही बना रहता है। और वे हैं भगवान्

*

महत्वाकांक्षा के सबसे अधिक प्रचलित रूपों में से एक है मानवजाति की सेवा का विचार। इस प्रकार की सेवा के प्रति समस्त आसक्ति व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का चिह्न है।

जीवन में करता है

अंतरा करते हैं।

अवस वह नजद हो गयी

अहंका

... का कोई अच्छी त गड़बड़ व लेते हो। करने दो सकती है चीज है,

जीवन और अहंकार

जीवन में समस्त कटुता ऐसे अहं से आती है जो अपदस्थ होने से इंकार करता है।

*

अंतरात्मा नहीं अहं और उसका गर्व पराजय तथा मान-भंग का अनुभव करते हैं।

*

अवसाद हमेशा तीव्र अहंकार का लक्षण होता है। जब तुम्हें लगे कि वह नजदीक आ रहा है तो अपने-आपसे कहो : “मुझे अहंभाव की बीमारी हो गयी है। मुझे इससे मुक्त होना चाहिये।”

*

अहंकार ही औरों के अंदर अहंकार देखकर आघात पाता है।

*

... जब तुम आंतरिक सामंजस्य की अवस्था में हो और तुम्हारे ध्यान का कोई भी हिस्सा शरीर की ओर मुड़ा हुआ नहीं हो तो शरीर बिल्कुल अच्छी तरह काम करता है। यह “आत्म-केंद्रीकरण” ही सब चीजों में गड़बड़ कर देता है...। वास्तव में तुम स्वयं अपने-आपको बीमार कर लेते हो। यह चेतना की संकीर्णता और विभाजन है। अगर तुम उसे काम करने दो तो हर जगह चेतना और भागवत कृपा होती है जो सब कुछ कर सकती है ताकि सब कुछ ठीक चले। यह अहं-केंद्रित मूढ़ता भी अजीब चीज है, इस मूढ़ता के कारण ही सब कुछ बिगड़ जाता है।

उचित वृत्ति

जिसे हम अपना आपा कहते हैं वह केवल अहंकार है। हमारा सच व्यक्तित्व है भगवान्।

*

अपने अहंकार और भौतिक चेतना को ही अपना व्यक्तित्व मान लेने में भूल न कर बैठो।

*

मैंने लिखा था कि यह ठीक और गलत का प्रश्न नहीं है क्योंकि केवल प्रभु ही जान सकते हैं कि क्या सचमुच गलत है और क्या सचमुच ठीक है।

इस पृथ्वी पर हर सत्ता और विशेष रूप से हर अहंकार को यह विश्वास होता है कि वह ठीक है और वह अपनी कामनाओं को सत्य मान लेता है।

*

... अहंकार तभी गायब होता है जब तुम अपने-आपको बिना किसी निजी प्रयोजन के, बिना किसी लाभ की आशा के, पूरी तरह परम प्रभु के हाथ में छोड़ देने के लिये तैयार हो—तुम इसलिये देते हो क्योंकि तुम इससे सिवा कुछ कर ही नहीं सकते।

*

जब प्राण सहयोग देना स्वीकार कर ले (जो अपने-आपमें एक कदम है), जब वह निश्चय कर ले कि वह भी कर्म करेगा, अपना सचाई प्रयास, अपनी सारी ऊर्जा कार्य को संपादित करने में लगायेगा, तब भी कर्म पर नीचे पूरी तरह छिपी हुई, कैसे कहूँ—एक प्रत्याशा रहती है कि वह ठीक रूप लेंगी और परिणाम अनुकूल आयेगा। और यह पूर्ण सचाई

मार्च १९

पर्दा डाल
यह पूर्ण

एक ते
अहंकारम
अहंकारम
इसका यह
नहीं होता,
है। बात
लेकिन ज
अपने नि
अहंकारम

अपनी
तुम्हें समस
जीने के फ

... त
मैं भाग ज
“तो अपने
बनाये रख
वह साहस

कर्म उ
सचमुच उ

पर्दा डाल देती है, क्योंकि यह प्रत्याशा अहंकारमय व्यक्तिगत वस्तु है और यह पूर्ण सचाई पर पर्दा डाल देती है।

*

एक ऐसा प्रयास हो सकता है जो जरा भी स्वार्थपूर्ण नहीं होता फिर भी अहंकारमय होता है, क्योंकि जिस क्षण वह व्यक्तिगत हो जाता है, वह अहंकारमय बन जाता है—यानी वह अहंकार पर आधारित होता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उदार नहीं होता, अनुकंपापूर्ण और निःस्वार्थ नहीं होता, और यह भी नहीं कि वह संकरे व्यक्तिगत उद्देश्यों के लिये होता है। बात ऐसी नहीं होती। वह बहुत निःस्वार्थ काम के लिये हो सकता है लेकिन जबतक अहं रहे तबतक वह अहंकारपूर्ण होता है और जबतक अपने निजी व्यक्तित्व का भाव रहता है तबतक स्वभावतः वह कोई अहंकारमय चीज होती है। वह अहं की उपस्थिति पर आधारित होती है।

*

अपनी चैत्य सत्ता के बारे में सचेतन होने और चैत्य जीवन जीने के लिये तुम्हें समस्त अहंकार को लुप्त कर देना चाहिये, लेकिन आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये तुम्हारे अंदर अहंकार ही न होना चाहिये।

*

... लोग मेरे पास आते और मुझसे कहते हैं, "मैं मर जाना चाहता हूँ। मैं भाग जाना चाहता हूँ, मैं मर जाना चाहता हूँ।" उन्हें यह उत्तर मिलता है, "तो अपने प्रति मर जाओ ! तुमसे यह नहीं कहा जाता कि अपने अहं को बनाये रखो ! चूंकि तुम मरना चाहते हो इसलिये अपने प्रति मर जाओ ! वह साहस रखो, अपने अहंकार के प्रति मरने का सच्चा साहस रखो।"

*

कर्म अहंकार की रचना है, कर्म अहंकार के कार्यों का परिणाम है और सचमुच जब अहंकार अपदस्थ होता है तभी कर्म विलीन होता है।

अहंकार का लोप : पहला कदम

हम अपने पृथक्कारी अहं को भागवत चेतना के साथ कैसे मिल सकते हैं ?

अपने अहंकार को भगवान् में मिलाना ! लेकिन पहली बात तो यह है कि पूरी तरह व्यक्तीकरण से पहले तुम अपने अहं को भगवान् के साथ नहीं मिला सकते। क्या तुम जानते हो कि पूरी तरह व्यक्ति बनने का क्या अर्थ है ? सभी बाहरी प्रभावों का प्रतिरोध करने की क्षमता ?

कुछ दिन पहले मेरे पास किसी की चिट्ठी आयी थी जिसमें लिखा था कि वह सामान्य साहित्य की पुस्तकें, उपन्यास, नाटक आदि पढ़ने से बहुत सकुचाता है क्योंकि उसके स्वभाव में लगभग अलंघ्य वृत्ति है इन पुस्तकों के पात्रों की छाप ले लेने की और फिर उन लोगों के विचारों और स्वभाव को अपना लेने की, उन लोगों के चरित्र और स्वभाव के अनुसार अनुभव करने और जीने की। तुम जितना समझते हो उसकी अपेक्षा बहुत अधिक लोग इस तरह के हैं। वे एक पुस्तक पढ़ते हैं और पढ़ते समय वे अपने अंदर सब प्रकार की भावनाओं, विचारों, कामनाओं, आशयों, योजनाओं, यहां तक कि आदर्शोत्तिक का अनुभव करते हैं। वे किताब पढ़ने में पूरी तरह रम जाते हैं। उन्हें इसका पता भी नहीं होता क्योंकि व्यक्ति के चरित्र के कम-से-कम सौ में से निम्नानवे भाग नरम मक्खन से बने होते हैं—जो निश्चय ही अखाद्य होता है... लेकिन अगर तुम उसपर अपना अंगूठा रखो तो उसकी छाप लग जाती है।

हर चीज ही एक “अंगूठा” होती है—कोई व्यक्ति किया हुआ विचार एक पढ़ा हुआ वाक्य, कोई देखी हुई वस्तु, कोई दूसरा क्या करता है उसका अवलोकन, अपने पड़ोसी की इच्छा। और ये सब इच्छाएं, जानते हो, जब तुम इन्हें देखते हो तो ये सब यूँ मिली-जुली होती हैं कि (माताजी अपने उंगलियाँ एक-दूसरे में फंसाती हैं) हर इच्छा चाहती है कि वही सबसे ऊपर रहे जिसके कारण हमेशा भीतर और बाहर खट-पट रहती है। यह लोगों के

अंदर और बाहर बिजली की लहर की तरह दौड़ती है। तुम्हें इस बारे में कुछ भी पता नहीं होता और यह ऐसी इच्छाओं का अनवरत संघर्ष रहता है जो अपने-आपको अभिव्यक्त करने की कोशिश में हैं; और जो सबसे मजबूत होती हैं वही जीतती हैं, लेकिन चूंकि ये बहुत सारी होती हैं और तुम्हें अकेले को बड़ी संख्या के विरुद्ध लड़ना होता है अतः यह आसान काम नहीं होता।

तो आदमी समुद्र की लहरों पर काग की तरह उछाला जाता है...। एक दिन वह यह चाहता है, दूसरे दिन वह, एक क्षण वह इधर से धक्का खाता है, दूसरे क्षण उधर से, कभी वह अपना चेहरा आकाश की ओर उठाता है (माताजी इसका अभिनय करती हैं) और कभी एक गहरे छेद में डूब जाता है। तो यह है आदमी का जीवन !

पहले तुम्हें सचेतन, भली-भांति बुनी हुई, व्यक्तिभावपन्न सत्ता होना चाहिये जो अपने-आपमें, अपने द्वारा अस्तित्व रखती है, जो अपने परिवेश से स्वतंत्र होती है, जो किसी भी चीज को बिना कुछ बदले, सुन सकती, पढ़ सकती और देख सकती है, वह बाहर से केवल उसी चीज को ग्रहण करती है जिसे वह ग्रहण करना चाहे और अपने-आप उस सबसे इंकार कर देती है जो उसकी योजना के अनुकूल न हो और अगर वह छाप न लेना चाहे तो कोई चीज उसपर छाप नहीं छोड़ सकती। तब तुम व्यक्ति बनना शुरू करते हो ! और जब तुम व्यक्ति बन जाओ तो उसका उत्सर्ग कर सकते हो।

जबतक तुम्हारा किसी चीज पर अधिकार न हो तबतक तुम वह चीज दे नहीं सकते। पहले तुम्हें अपने-आप होना चाहिये, उसके बाद ही तुम अपने-आपको दे सकते हो।

जबतक तुम्हारा अस्तित्व न हो, तबतक तुम कुछ भी नहीं दे सकते। और पृथक्कारी अहंकार के लुप्त होने के लिये, जैसा कि तुम कहते हो, तुम्हें अपने-आपको पूरी तरह देने योग्य होना चाहिये, बिना कुछ बचाये, पूरी तरह से देने योग्य। और अपने-आपको दे सकने के लिये पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये और अस्तित्व होने के लिये तुम्हें व्यक्ति बनना चाहिये।

अगर तुम्हारा शरीर उस कठोर रूप से बना न होता जिससे वह कड़ा है — क्योंकि वह बहुत अधिक कठोर है, है न ? — हाँ, तो अगर यह सब इतना निश्चित न होता, अगर तुम्हारे ऊपर ऐसी ठोस चमड़ी न होती, अगर बाहरी रूप में तुम, भीतर प्राण और मन के क्षेत्र में जैसे हो उसीकी प्रतिच्छाया होते, तो यह जेली फिश होने से भी ज्यादा खराब होता ! हर चीज हर दूसरी चीज में इस तरह-घुल-मिल गयी होती . . . । ओह ! वह भी कैसी गड्ढुमडुता होती ! इसीलिये यह जरूरी था कि एक ठोस रूप दिया जाता, और बाद में हम उसके बारे में शिकायत करते हैं । हम कहते हैं, “ओह, यह भौतिक स्थिर और दृढ़ है, यह एक उपद्रव है, इसमें लचीलापन नहीं है, इसमें लोच का अभाव है, इसमें वह तरलता नहीं है जो हमें भगवान् के साथ मिलने योग्य बना दे ।” लेकिन यह नितांत आवश्यक था क्योंकि इसके बिना . . . यदि तुम अपने शरीर के बाहर निकल आओ, (तुममें से अधिकतर इसे नहीं कर सकते क्योंकि प्राणिक सत्ता भौतिक की अपेक्षा बहुत अधिक व्यष्टिभावापन्न नहीं होती) और प्राणमय जगत् में चले जाओ तो तुम देखोगे कि वहां सभी चीजें आपस में घुल-मिल रही हैं, वे मिलती हैं, विभक्त होती हैं, सब तरह के स्पंद, शक्तियों की धाराएं आती-जाती हैं, संघर्ष करती हैं, एक-दूसरे को नष्ट करने की कोशिश करती हैं, एक-दूसरे पर अधिकार करती, एक-दूसरे को सोख लेती और एक-दूसरे को निकाल बाहर करती हैं . . . और यह ऐसे ही चल रहा है ! लेकिन इस सबमें एक सच्चे व्यक्तित्व को पाना बहुत कठिन है । वे हैं शक्तियां, गतिविधियां, कामनाएं, स्पंदन ।

व्यक्तित्व और व्यक्तिभावापन्न लोग होते हैं ! परंतु ये हैं शक्तियां । जो लोग उस जगत् में व्यष्टिभावापन्न होते हैं वे या तो शूखीर होते हैं या राक्षस !

और अब मन में . . . (मौन) अगर तुम केवल अपने भौतिक मन के बारे में ही सचेतन हो जाओ . . . कुछ लोगों ने उसे सार्वजनिक चौक कहा है क्योंकि वहां हर चीज आती है, पार जाती है, गुजरती है और फिर वापिस आ जाती है . . . सभी विचार वहां जाते हैं, वे एक स्थान पर प्रवेश करते हैं, दूसरी ओर से निकलते हैं, कुछ यहां हैं, कुछ वहां हैं, यह सार्वजनिक चौक है जो भली-भांति व्यवस्थित नहीं है क्योंकि साधारणतः विचार आते, मिलते और

आपस में
जान जाते
तुम्हें
सुसंगत व
जरा-सी च
तुम स
और
श्रमसाध्य
होता है
रचना बन
“तुम्हें इ
लेकिन ज
हो सकते
सिवा कुछ
पहले तुम्ह
कुछ सम
सचमु
को दे स
तुम उन्हें
सकते हो
यह स
सब तुमसे
मिला देने
क्या । अ
स्वतंत्र, व्य
तुम सार्वज
ताकि तुम
इसीलिये त

वह बरसों तक सतर्क, बहुत सावधानीपूर्ण, बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण, बहुत सुसंगत काम की, संगठन, चयन और निर्माण की जरूरत होती है, केवल इस जरा-सी चीज को बनाने के लिये जो तुम्हारा अपना सोचने का तरीका है...

तुम सोचते हो कि सोचने का तुम्हारा अपना तरीका है। बिल्कुल नहीं... और इसे समन्वित, सुसंगत, तर्क-संगत विचार बनाने के लिये लंबे, श्रमसाध्य काम की जरूरत होती है। और इसमें सबसे अच्छा काम तब होता है जब तुम एक सुंदर, सुगठित, बहुत सुदृढ़, शक्तिशाली मानसिक रचना बनाने में सफल हो जाओ। तब पहली चीज तुमसे यह कही जायेगी, "तुम्हें इसे तोड़ देना होगा ताकि तुम भगवान् के साथ एक हो सको!"

लेकिन जब तक तुम उसे बना न लो तबतक तुम भगवान् के साथ एक नहीं हो सकते क्योंकि तुम्हारे पास भगवान् को देने के लिये चीजों के एक ढेर के सिवा कुछ नहीं होता जो तुम नहीं हो! अपने-आपको दे सकने के लिये पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये। मैं उसी बात को दोहरा रही हूँ जो मैंने कुछ समय पहले कही थी।

सचमुच, जगत् की वर्तमान अवस्था में, एकमात्र चीज जो तुम भगवान् को दे सकते हो वह है तुम्हारा अपना शरीर, लेकिन यही वह चीज है जो तुम उन्हें नहीं देते। हां, तुम अपने काम का उत्सर्ग करने की कोशिश कर सकते हो!...

यह सब... मैं तुम्हें परेशान करने के लिये यह सब नहीं कह रही। यह सब तुमसे यह कहने के लिये है कि अपने अहंकार को भगवान् के साथ मिला देने के लिये पहले तुम्हें थोड़ा-बहुत ज्ञान होना चाहिये कि तुम हो क्या। अहंकार उपस्थित है। उसकी आवश्यकता यह है कि तुम सचेतन, स्वतंत्र, व्यक्तिभावापन्न सत्ता बन जाओ। स्वाधीन से मेरा मतलब यह है कि तुम सार्वजनिक चौक न बन जाओ जहां सभी चीजें आड़ी-तिरछी जाती हैं, ताकि तुम अपने अंदर निवास कर सको। अहंकार इसीलिये है। बात ऐसी है; इसीलिये त्वचा है। यद्यपि, सचमुच भौतिक चीजें भी त्वचा के आर-पार हो

जाती हैं। एक स्पंदन होता है जो कुछ दूर तक जाता है, त्वचा हमें एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाने से रोकती है। लेकिन हर चीज को इसी तरह का होना चाहिये।

(कुछ देर मौन के बाद) और फिर, बाद में मनुष्य यह सब भगवान् के अर्पित कर देता है। इसके लिये कई वर्षों तक काम करना होता है। तुम्हें केवल . . . (मौन) . . . अपने बारे में सचेतन होना चाहिये, सभी व्यंशों में सचेतन बल्कि तुम्हें उसे संगठित करना चाहिये जिसे तुम अपना "स्व" कहते हो, उस स्व को तुम्हें चैत्य के, अपनी सत्ता के दिव्य केंद्र के चारों ओर संगठित करना चाहिये ताकि वह एक सुसंगत, पूरी तरह सचेतन सत्ता बन जाये। और चूंकि तुम्हारी सत्ता का यह दिव्य केंद्र पहले ही पूरी तरह भगवान् के अर्पित होता है (माताजी अर्पण का संकेत करती हैं) इसलिए अगर हर चीज सामंजस्य के साथ उसके चारों ओर संगठित हो तो सब कुछ भगवान् के अर्पित हो जाता है। तो जब भगवान् उचित समझते हैं, उस समय आ जाता है, जब व्यक्तीकरण का काम पूरा हो जाता है तब भगवान् तुम्हें स्वीकृति देते हैं कि तुम्हारा अहंकार उनमें मिल जाये, कि आगे से तुम केवल भगवान् के लिये ही जियो।

लेकिन यह निश्चय भगवान् लेते हैं। तुम्हें पहले यह सब काम कर लेना चाहिये, एक सचेतन सत्ता बनना चाहिये जो पूरी तरह, अपवादिक रूप से भगवान् के चारों ओर केंद्रित हो और उन्हींके द्वारा शासित हो। इस सब के बाद भी एक अहंकार होता है क्योंकि अहंकार ही तुम्हारे व्यक्ति बनने में सहायता देता है। लेकिन एक बार यह काम पूरा हो जाये, पूरी तरह सिद्ध हो जाये, तो उस क्षण तुम भगवान् से कह सकते हो, "यह रहा मैं, तैयार हूँ, क्या आप मुझे लेना चाहते हैं" और प्रायः भगवान् कहते हैं, "हाँ। सब कुछ समाप्त, सब कुछ उपलब्ध हो जाता है और तुम भागवत कार्य के लिये सच्चे यंत्र बन जाते हो, लेकिन पहले यंत्र की रचना करनी चाहिये।

तुम्हें यह धक्का देना चीज की सचेतनता को कोई भाग है।

दो मुख्य अधिकतम उस चीज के लिये, कल के लिये। और उसमें एक विशेष संभव हो तो सत्ता

लगभग सत्ता ऐसा होना क्षमता होती तोत्र आवश्यक के पीछे, अनुभव का अनंत भाग मैं ऐसे ज्ञान न था, तरह के थे अपने-आप ही, तो

दो सशक्त उत्तोलक

तुम्हें यह लग सकता है कि कुछ चीजें ऐसी होती हैं जो अचानक तुम्हें धक्का देती हैं तुम्हें स्वयं तुम्हारे ऊपर उठा देती हैं और किसी ज्यादा बड़ी चीज की ओर एक तरह का दरवाजा खोल देती हैं। ये बहुत-सी चीजें हो सकती हैं; और यह हर एक की अपनी प्रकृति पर निर्भर होता है। सत्ता का कोई भाग किसी चीज पर प्रोत्साहित हो उठता है। यह उत्साह की क्षमता है।

दो मुख्य वस्तुएं हैं। उत्साह की यह क्षमता जो मनुष्य को कम या अधिक तमस् में से निकालती है और न्यूनाधिक पूर्णता के साथ मनुष्य को उस चीज में डालने के लिये प्रेरित करती है जो उसे जगाती है। उदाहरण के लिये, कलाकार को अपनी कला के लिये, वैज्ञानिक को अपने विज्ञान के लिये। और सामान्यतः हर वह व्यक्ति जो कोई रचना या सृजन करता है, उसमें एक उद्घाटन होता है, किसी विशेष क्षमता के लिये उद्घाटन, कोई विशेष संभावना होती है जो उसमें उत्साह पैदा करती है। जब यह सक्रिय हो तो सत्ता के अंदर कोई चीज जगती है और की जानेवाली चीज में लगभग सारी सत्ता भाग लेती है।

ऐसा होता है। और फिर ऐसे लोग होते हैं जिनमें कृतज्ञता की सहजात क्षमता होती है, जिनमें ऊष्मा, भक्ति, आनंद के साथ उसे प्रत्युत्तर देने की तीव्र आवश्यकता होती है जिसे वे समस्त जीवन के पीछे, छोटे-से-छोटे तत्त्व के पीछे, जीवन की छोटी-से-छोटी घटना के पीछे छिपा हुआ चमत्कार अनुभव करते हैं, जो सभी चीजों के पीछे छिपी इस सर्वोत्कृष्ट सुंदरता या अनंत भागवत कृपा को अनुभव करते हैं।

मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्हें हम कह सकते हैं कि किसी चीज का ज्ञान न था, यानी जो नहीं के बराबर शिक्षित थे, जिनके मन एकदम सामान्य तरह के थे और जिनके अंदर कृतज्ञता की, ऊष्मा की वह क्षमता थी जो अपने-आपको देती है, समझती है और आभारी होती है।

हां, तो उनके लिये चैत्य संपर्क बहुधा, प्रायः सदा ही होता रहता

था—उस हदतक जहांतक वे उसके योग्य थे, सचेतन थे—बहुत अधिक सचेतन नहीं, थोड़े बहुत सचेतन—इस अर्थ में कि उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें स्वयं अपने ऊपर उठाया गया, उनकी सहायता की गयी और उसे संभाला गया।

ये दो चीजें लोगों को सबसे ज्यादा तैयार करती हैं। वे एक न एक कर लेकर पैदा होते हैं और अगर वे कष्ट उठाये तो वह धीरे-धीरे विकसित होती और बढ़ती है।

हम कहते हैं : उत्साह के लिये क्षमता, कोई ऐसी चीज, जो तुम्हें अपने दयनीय और तुच्छ छोटे-से अहंकार में से बाहर निकाल देती है; और क उदार कृतज्ञता, कृतज्ञता की उदारता जो छोटे-से अहंकार में से निकलकर अपने-आपको कृतज्ञता में प्रणत कर देती है। अपनी चैत्य सत्ता में भगवान के साथ संपर्क में आने के लिये ये सबसे अधिक प्रबल उत्तोलक हैं। चैत्य सत्ता के साथ कड़ी, निश्चित कड़ी का काम देता है।



गभीर सामी कथानक के अनुसार हमारे माता-पिता का पतन हुआ क्योंकि उन्होंने पाप और पुण्य के वृक्ष का फल चखा था। यदि उन्होंने शाश्वत जीवन के वृक्ष का रसास्वादन कर लिया होता तो वे तात्कालिक परिणाम से बच गये होते; परंतु मानवता के अंदर भगवान् का प्रयोग विफल हो जाता। भगवान् का आक्रोश हमारे लिये शाश्वत सुयोग होता है।

*

यदि नरक का होना संभव हो तो वह उच्चतम स्वर्ग में जाने का सबसे छोटा रास्ता होगा। कारण, सचमुच भगवान् प्यार ही करते हैं।

सोसायटी समाचार

१ दिसंबर १९९० को श्रीअरविंद के पवित्र अवशेष ओरो-आश्रम, रतलाम में स्थापित किये गये। ये अवशेष श्रीअरविंद आश्रम से ५ दिसंबर १९९० को प्राप्त हुए और मद्रास, भोपाल, इंदौर तथा धार से होते हुए रतलाम पहुंचे। रतलाम के इस पुण्य कार्यक्रम में, इंदौर, धार, जबलपुर, बालाघाट, उज्जैन, भोपाल, श्रीअरविंद ग्राम और दिल्ली के भक्तों के अलावा बड़ी संख्या में स्थानीय निवासी भी उपस्थित थे। १० और ११ दिसंबर के लिये इस शाखा ने मध्य-प्रदेश के अन्य केंद्रों के सम्मेलन का आयोजन किया। पांडिचेरी के श्री विजय, डा० एच० माहेश्वरी और डा० कु० चिन्मयी ने दोनों दिनों के कार्यक्रमों में भाग लिया। इस अवसर पर कई भाषण इत्यादि हुए। “प्रिया मातृभूमि” नामक युवा-मंडली ने “दशावतार” नृत्य-नाटिका का मंचन किया और श्री मातृ-विद्या-मंदिर के विद्यार्थियों ने सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इस उपलक्ष्य में रतलाम-शाखा ने एक स्मारिका “तथास्तु” का प्रकाशन किया।

घोषणा

साधना शिविर—उत्तर प्रदेश की श्रीअरविंद सोसायटी—का प्रादेशिक सम्मेलन ३ और ४ अप्रैल १९९१ को, श्रीअरविंद सोसायटी, मुजफ्फरनगर, चरथावल—२५१३११ में होगा। इसमें भाग लेने के लिये सभी का स्वागत है। अधिक जानकारी के लिये कृपया ऊपर लिखे पते पर सीधा पत्र-व्यवहार करें।

“The constant remembrance of the Divine is indispensable for transformation.”

— THE MOTHER

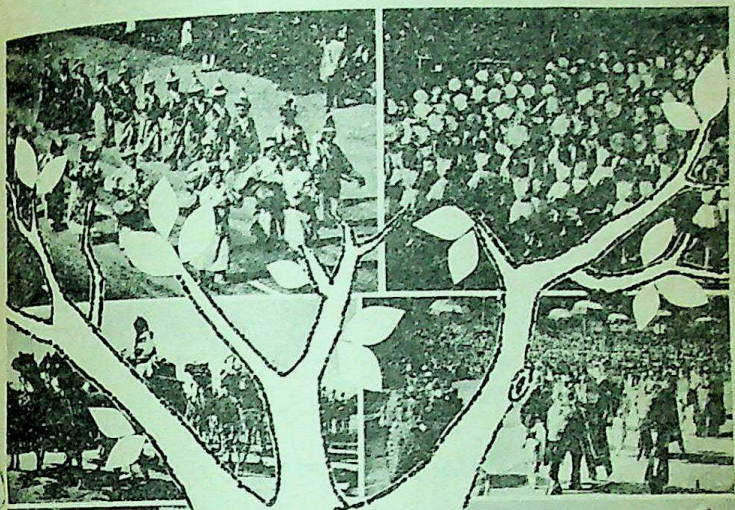
With Best Wishes from:

MRS. KOYAL DEORAH CHARITABLE TRUST

28, VARSHA, 69/B, NEPEANSEA ROAD

BOMBAY - 400 006





एकता परेड

हम सब, पुरुष, स्त्री और बच्चे हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी.... पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण से हजारों की संख्या में, गणतंत्र दिवस समारोह में शामिल होते हैं।

और एक बार फिर प्रदर्शित करते हैं अपनी एकता की भावना।

जाति, धर्म, क्षेत्रीय और भाषायी बंधन तोड़ने के लिये समर्पित करते हैं अपने आपको, और करोड़ों भारतीयों के उत्थान के लिये प्रेरणा देते हैं पूरे राष्ट्र को।

एकता परेड की इस भावना को सफल बनायें
एक जुट होकर आगे बढ़ें

O Lord, awaken in me an ardent desire to know Thee.
aspire that my life may be consecrated to Thy service.
The Mother

Space donated by

***Kooverji Devshi & Co.,
Pvt. Ltd.***

FIREX LEADS TO SAFETY
SAFETY LEADS TO PROSPERITY

हम
हैं जो
प्रयत्नशील
शारीरिक
अध्यापन
साध
सकती हैं

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

झुन्झुनू (राजस्थान)-३३३००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवम् शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

Statement about ownership and other particulars about Newspaper AGNISTAKHA
to be published in the first issue every year after the last day of February.

FORM IV (See Rule 8)

- | | |
|---|---|
| 1. Place of Publication | Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry-605 002 |
| 2. Periodicity of its publication | Monthly |
| 3. Printer's Name | Amiyo Ranjan Ganguli |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-605 002 |
| 4. Publisher's Name | Kishorilal Dhandhanania |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Society, Pondicherry-605 002 |
| 5. Editor's Name | Ravindra, Anuben |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry-605 002 |
| 6. Names and addresses of individuals
who own the newspaper and partners
or shareholders holding more than
one per cent of the total capital | Sri Aurobindo Society, Pondicherry-605 002 |
- I, Kishorilal Dhandhanania, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.*

March 1991

(Sd) Kishorilal Dhandhanania
Signature of Publisher



अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अप्रैल १९९१

विषय-सूची

दो सन्देश	श्रीअरविन्द	१
सम्पादकीय : महान् आशा	अनुबेन	२
दैनन्दिनी		४
रचनात्मक और सबसे तेज तरीका		७
पथ-प्रदर्शन		९
अहंकार-विहीन स्थिति		१३
अहंकार—तुम्हारा समय चला गया !		१६
अहंकार के बारे में (श्रीअरविन्द के कुछ पत्र)		२०
योग में प्रगति	श्रीमातृवाणी से	३१
समरूपता	श्रीमातृवाणी से	३४
सोसायटी समाचार		३७
विचारमाला और सूत्रावली		३९

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवीन्द्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अभियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००१

श्रद्धा
परदे के
करना है

बुद्धि
दुःखभरे
साथ ही



उद्बुध्यस्वामे प्रति जागृहि

दो संदेश

श्रद्धा, अधिक श्रद्धा ! तुम्हारी अपनी संभावनाओं में श्रद्धा, परदे के पीछे कार्य करती हुई दिव्य शक्ति में श्रद्धा, जो कार्य करना है उसपर और जो मार्ग-दर्शन मिल रहा है, उसपर श्रद्धा ।

—श्रीअरविंद

*

बुद्धि के अत्यधिक वर्चस्व के कारण प्रायः मुरझाये हुए, दुःखभरे हमारे इस युग में, दिव्य प्रेम से अधिक आवश्यक और साथ ही अधिक मूल्यवान् वस्तु कोई नहीं है ।

—माताजी

संपादकीय

महान् आशा

श्रीअरविंद ने लिखा था कि भारत में किसी भी प्रयास का परिणाम जल्दी से दिखायी देता। इसके कई कारण हैं, एक बड़ा कारण हमारे राष्ट्र का कृष्ण आकार और उसकी प्रायः अनियंत्रित आबादी है, दूसरा तथा अधिक महत्वपूर्ण कारण है भारतीयों के चरित्र में दृढ़ता और शक्ति का अभाव जिसके कारण हम प्रत्येक कार्य बड़े उत्साह से शुरू तो करते हैं लेकिन कुछ समय के बाद उत्साह ठंडा पड़ जाता है। लगातार, बिना रुके कार्य करते जाने की शक्ति का अभाव हमारी प्राण-शक्ति के कमजोर पड़ने के कारण आता है। हम इस अभाव को राष्ट्र के प्रायः हर क्षेत्र में देख सकते हैं, सबसे स्पष्ट इसे खेल-कूद के क्षेत्र में देखा जाता है। जैसे किसी ने कहा था, “हाथी-सा विशाल देश और सियोल में पिढ़ियों से पिट गया।” हम उसके लिये व्यवस्थापकों और सरकार को दोष देते हैं लेकिन वे तो उस प्राण-शक्ति के अभाव के परिणाम मात्र हैं।

मैं ऐसे विचारों में डूबी हुई थी कि अचानक हमारा वाहन रुक गया क्योंकि चौराहे की रोशनी लाल रंग की बत्ती दिखा रही थी। मेरे विचार टूट गये और मैंने बाहर झांका और मैं आश्चर्य से चौंक गयी। पांडिचेरी अब काफी बड़ा शहर बन गया है, इसलिये हमें अधूरे रास्ते, गटर का खुला “मेनहोल” जगह-जगह पर कूड़े के ढेर देखने की आदत पड़ गयी है। मेरे आश्चर्य का कारण था, दो रास्तों के बीच के खाली स्थान पर पौधे लगाते हुए कई सरकारी मजदूर ! पांडिचेरी का सरकारी तंत्र इतना सजग बन गया !!

मेरा मन उत्साह से भर उठा। ओह ! अगर पांडिचेरी में इतना सुख परिवर्तन आ सकता है तो भारत के लिये अब आशा कर सकते हैं।

हम प्रार्थना करें कि सारा राष्ट्र प्राण-शक्ति से भर जाये और हर क्षेत्र में योग्य व्यक्ति आ जायें।

श्रीअरविंद ने कहीं कहा था कि उषा के आगमन से पहले रात्रि अधिक

अप्रैल १९९९

गहरी बन ज

गहन अंधक

इसी क्षण

आशा के अ

उषा के उज्ज

“पृथ्वी व

लेकिन हमारे

कह चुकी है

विध्वंस से

जिनके लिये

यथार्थता प

आशय निश्चि

हुए हैं, बलि

ज्ञान के अ

रूप में रख

प्रयास को

समय कम

क्रियान्वित

सामूहिक

आवश्यक

आयें और

आपको ज

प्रकाश औ

परिणामों से

शुद्धि द्वारा

और आशा

ही संसार

प्रारंभ को

गहरी बन जाती है। हम आशा करें, हम उषा के आगमन की तैयारी में इस गहन अंधकार को सह लें।

इसी क्षण श्रीमाताजी का यह संदेश सामने आ गया है। अगर हम उनकी आशा के अनुसार चलें तो अंधकार शीघ्रातिशीघ्र नष्ट हो जायेगा और हम उषा के उज्ज्वल मुख के दर्शन कर पायेंगे—

"पृथ्वी की यह अवस्था है और यह बहुत तेजोमय या उल्लासपूर्ण नहीं है। लेकिन हमारे लिये एक संभावना बची है—मैं तुमसे कई बार इसके बारे में कह चुकी हूँ—भले ही, बाहर से चीजें पूरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो रही हों और विध्वंस से बचना संभव न हो तब भी हमारे लिये, यानी उन लोगों के लिये जिनके लिये अतिमानसिक जीवन एक व्यर्थ का स्वप्न नहीं है, जिन्हें उसकी यथार्थता पर विश्वास है, जो उसकी प्राप्ति के लिये अभीप्सा करते हैं—मेरा आशय निश्चित रूप से उन लोगों से नहीं है जो यहां पांडिचेरी आश्रम में एकत्र हुए हैं, बल्कि उनसे है जो श्रीअरविंद के द्वारा प्रदान किये हुए ज्ञान और उस ज्ञान के अनुसार जीने की इच्छा को अपने और श्रीअरविंद के बीच कड़ी के रूप में रखते हैं—उनके लिये अपनी अभीप्सा, अपनी इच्छा-शक्ति, अपने प्रयास को तीव्र करने, अपनी ऊर्जाओं को इकट्ठा करने और उपलब्धि के लिये समय कम करने की संभावना रहती है। उनके लिये इस चमत्कार को क्रियान्वित करने की संभावना रहती है—व्यक्तिगत रूप से और कुछ हद तक सामूहिक रूप से भी—कि वे देश, काल तथा इस उपलब्धि के लिये आवश्यक समय को जीत लें; काल के स्थान पर प्रयास की तीव्रता को ले आयें और उपलब्धि में इतनी तेजी से और इतनी दूर तक चले जायें कि अपने-आपको जगत् की वर्तमान अवस्था के परिणामों से मुक्त कर लें, बल, शक्ति, प्रकाश और सत्य का ऐसा केंद्रीकरण कर लें कि इस उपलब्धि द्वारा वे इन परिणामों से ऊपर उठ जायें और उनसे सुरक्षित रह सकें, प्रकाश, सत्य तथा शुद्धि द्वारा—आंतरिक रूपांतर द्वारा दिव्य शुद्धि—प्रदत्त सुरक्षा का रस ले सकें और आशा करें कि आसन्न भविष्य की इस महान् आशा को नष्ट किये बिना यूँ ही संसार के ऊपर से तूफान गुजर जायेगा और यह अंधड़ उपलब्धि के महान् प्रारंभ को उड़ा न ले जा सकेगा।

“आरामदेह अचंचलता में सोये पड़े रहने और चीजों को अपनी लय के अनुसार चलने देने की बजाय अगर व्यक्ति अपनी उच्चतम इच्छा-शक्ति उत्साह और अभीप्सा के साथ प्रयास करे और प्रकाश में उछल पड़े तो व्यक्ति अपना सिर तान कर खड़ा हो सकता है, तब व्यक्ति चेतना के उच्च क्षेत्र में इतना पर्याप्त स्थान पा सकता है कि वहां जी सके, सांस ले सके और गुजरते हुए आंधी-तूफान के पारे विकसित हो सके और पनप सके।

“यह संभव है। बहुत छोटे पैमाने पर यह पिछले महायुद्ध के समय किया गया था जब श्रीअरविंद यहां थे। इसे दुबारा किया जा सकता है। लेकिन तुम इसकी चाह करनी चाहिये और प्रत्येक को अपना कार्य भरसक निष्कप और पूर्ण रूप से करना चाहिये।”

—अनु

दैनन्दिनी

अप्रैल

- जबतक हम शरीर में हैं, चाहे उसकी कितनी उमर और कठिनाइयों का सामना न हों, यह निश्चित है कि हमें इसमें कुछ करना या सीखना है।
- धीर, दृढ़ और स्थिर रहो, जीवन की कठिनाइयों का शांति के साथ सामना करो।
- अगर तुम नीरोग रहना चाहते हो तो दो शर्तें हैं। पहली, तुम्हें भयरहित होना चाहिये, एकदम से भयरहित, और दूसरी तुम्हें भागवत सुरक्षा के पूर्ण विश्वास होना चाहिये।
- अपने अंदर जीतने का संकल्प जगाओ।
- हम जिस उत्साह के साथ मिथ्यात्व का त्याग करते हैं उसी उत्साह के साथ हमें बीमारी को त्यागना चाहिये।
- भोजन के लालच पर विजय : अच्छे स्वास्थ्य की प्रतिज्ञा।
- सबसे अच्छा उपाय है सत्य और सामंजस्य को पुकारना ताकि वह अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता को बदल दे।

८. हे प्रभु ! हमारे अंदर जो कुछ बनावटी और मिथ्या है, जो कुछ ऊपरी दिखावा और अनुकरण करनेवाला है, वह सब कुछ आज हम तुझे समर्पित कर रहे हैं ।
९. सब विघ्नों पर विजय पानेवाले नाथ ! तेरी जय हो ! ऐसी कृपा कर कि हमारे अंदर कोई भी चीज तेरे कार्य में बाधक न हो ।
१०. भगवन् ! एकमात्र तेरी कृपा में हम पूरा-पूरा सहारा पायें ।
११. बढ़ते चलो, निरंतर बढ़ते चलो !
सुरंग के अंत में है ज्योति !
युद्ध के अंत में है विजय !
१२. हार न मानो, डटे रहो ।
१३. जब सब कुछ डूबता हुआ लगता है तभी सब कुछ बचा लिया जाता है ।
१४. हमेशा नौजवान बने रहो, पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास कभी बंद मत करो ।
१५. बहरहाल, जो भी हो, तुम जो भी करो, भय को आक्रमण न करने दो ।
उसके जरा-से स्पर्श पर भी सक्रिय हो जाओ और सहायता के लिये पुकारो ।
१६. शरीर के साथ एक छोटे बच्चे का-सा व्यवहार करो जिसे यह विश्वास दिलाने की जरूरत है कि उसे डरना न चाहिये ।
१७. हे मां, भगवती ! वर दे कि आज का दिन हमारे अंदर तेरे संकल्प के प्रति और भी पूर्ण आत्मनिवेदन, तेरे कर्म में और भी सर्वांगीण आत्मदान, और भी ऐकांतिक आत्म-विस्मृति, एक महत्तर ज्योति, एक शुद्धतर प्रेम ले आये ।
१८. हमारे समस्त अहंकार को दूर कर, समस्त तुच्छ मिथ्याभिमान, लोभ, लालसा और अंधकार को निर्मूल कर ।
१९. हम सब तेरे दिव्य प्रेम से प्रज्वलित हो उठें, जगत् में तेरी ज्योतिशिखाएं बन जायें ।
२०. तुम केवल तभी आजाद हो सकोगे जब पूरी तरह भगवान् के हो जाओगे ।

२१. समुचित रूप में प्रयत्न करो और तुम प्राप्त कर लोगे ।
२२. विश्वास रखो और तुम्हारा विश्वास अंत में सच्चा सिद्ध होगा ।
२३. सच्चा इलाज यह है कि प्राणमय सत्ता को भगवान् की सेवा में उल्टा किया जाये और उस परम सत्य के प्रति एकनिष्ठ समर्पण किया जाये उसमें मांगों और दावों का प्रवेशातक नहीं हो सकता क्योंकि परम सत्ता की प्रकृति है ज्योतिर्मय और आनंदमय ।
२४. चैत्य-पुरुष की हमेशा यही पुकार होती है, “सत्य की जय हो भगवान् मेरी नहीं, तेरी इच्छा पूरी हो ।”
२५. आजकल सचमुच एक व्यापक सड़ांध और विघटन का काल है । इस काल में निरुत्साहित हुए बिना जीवन बिताने के लिये हमारे अंदर एक शांत-स्थिर हृदय, एक सुनिश्चित संकल्प और संपूर्ण आत्मत्याग का भाव होना चाहिये । हमारी आंखें निरंतर परात्पर की ओर लगी रहनी चाहिये ।
२६. सर्वोत्तम पथ है भागवत कृपा को अपने अंदर कार्य करने देना, कभी उसका विरोध न करना, कभी उसके प्रति अकृतज्ञ न होना तथा कभी उससे मुंह न मोड़ना ।
२७. परम सत्य को जानना और उसके साथ समस्वर होना ही यथार्थ सत्ता की प्राप्ति की शर्त है ।
२८. सबसे अधिक आवश्यक बात है ज्योति की ओर मुड़ने का निरंतर प्रयत्न करना ।
२९. एकमात्र वही जीवन जीने योग्य है जो भगवान् के साथ एकात्मता के लिये निवेदित हो । हमें कहना चाहिये, “मैं जो कुछ होना चाहता हूं वह नहीं, बल्कि भगवान् चाहते हैं, वही बनने के लिये तैयार हूं ।”
३०. हे प्रभु ! हम तेरी शांति चाहते हैं, शांति का व्यर्थ आभास नहीं, तेरी स्वतंत्रता चाहते हैं स्वतंत्रता का दिखावा नहीं, तेरी एकता चाहते हैं, एकता की छायामूर्ति नहीं । एकमात्र तेरी शांति, तेरी स्वतंत्रता और तेरी एकता ही उस अंधी हिंसा, छल-कपट और मिथ्यात्व को जीत सकती है जो अभीतक पृथ्वी पर राज्य कर रहे हैं ।

(श्रीमातृवाणी खंड १५ से)

रचनात्मक और सबसे तेज रास्ता

माताजी 'धम्मपद' की कुछ पंक्तियां पढ़कर उनकी व्याख्या करती हैं : "न तो नैतिक शिक्षा से न रीति-रिवाजों से, न विस्तृत ज्ञान से, न ध्यान-धारणा करने या एकांतवास से और न यह सोचने से, 'मैंने मोक्ष का वह आनंद पा लिया है जो जगत् में रहनेवालों के लिये अज्ञान है,' तुम भिक्षु कहला सकते हो। हे भिक्षुओ, सावधान, जबतक समस्त कामना का लोप न प्राप्त कर लो।"

हम पहले अंतिम पाठ को लेंगे, वह मजेदार है।

"न तो नैतिक शिक्षा से, न रीति-रिवाजों से, न विस्तृत ज्ञान से, न ध्यान-धारणा करने या एकांतवास से और न सोचने से" आदमी सच्चा आनंद पाता है; सच्चा आनंद मिलता है समस्त कामनाओं से पिंड छुड़ाने से। निश्चय ही सभी कामनाओं से पिंड छुड़ाना आसान नहीं है, कभी-कभी इसमें पूरा जीवन लग जाता है। लेकिन सच पूछो तो यह बहुत नकारात्मक मार्ग मालूम होता है, यद्यपि विकास की किसी विशेष अवस्था में यह ऐसा संयम है जो बहुत उपयोगी ही नहीं अनिवार्य होता है—यदि तुम अपने-आपको धोखा न देना चाहो। क्योंकि पहले तुम बड़ी कामनाओं से पीछा छुड़ाना शुरू करते हो, ऐसी कामनाओं से जो बहुत ही स्पष्ट होती हैं, जो तुम्हें इतना कष्ट देती हैं कि उनके बारे में तुम्हें कोई भ्रम भी नहीं हो सकता; फिर आती हैं अधिक सूक्ष्म कामनाएं जो ऐसी चीजों का रूप लेती हैं जो की जानी चाहियें, जो जरूरी हैं, कभी-कभी अंदर से आनेवाले आदेश भी होते हैं, इन्हें खोजने और इनपर विजय पाने के लिये समय और बहुत सचाई की जरूरत होती है। अंत में ऐसा लगता है कि जहांतक विचारों का सवाल है तुमने जड़-जगत् में, इन बाह्य चीजों में, भावनाओं के जगत् में, भावों और संवेदनों में, मानसिक जगत् में कमबख्त कामनाओं का अंत कर दिया और फिर तुम उन्हें आध्यात्मिक जगत् में पाते हो और वहां इन्हें अधिक खतरनाक, अधिक सूक्ष्म, अधिक भेदक और अधिक अदृश्य और साधु-सुलभ रूप-रंग में पाते हो, फिर तुम उन्हें कामना ही नहीं कह सकते।

और जब तुम उस सबपर विजय पाने में सफल हो जाओ, उन्हें खोजने निष्कासित करने और उनसे पिंड छुड़ाने में सफल हो जाओ तब भी काम का केवल निषेधात्मक भाव ही पूरा होता है।

बुद्ध ने कहा है या उनसे कहलवाया गया है कि जब तुम समस्त काम से मुक्त हो जाते हो, तुम निश्चित रूप से अनंत आनंद में प्रवेश करते हो यह आनंद जरा शुष्क हो सकता है, बहरहाल, मुझे यह सबसे तेज रास्ता नहीं मालूम होता।

अगर शुरू में ही तुम समस्या को शारीरिक रूप में पकड़ सको और साहस तथा दृढ़-निश्चय के साथ उसमें छलांग लगाओ और कामनाओं को पीछे लंबे, कठोर, पीड़ाजनक, निराश करनेवाले शिकार में लगने की जगह तुम अपने-आपको सरलता के साथ, पूर्णतया, बिना शर्त के दे दो, अपने-आपको परम सद्बस्तु, परम इच्छा, परम सत्ता के आगे समर्पित कर दो, बिना हिसाब किये अपने-आपको समस्त सत्ता और सत्ता के समस्त तत्त्वों की ऊपर उमड़ती हुई लहर में पूरी तरह उसके हाथों में सौंप दो तो यह अहंकार से पिंड छुड़ाने का सबसे तेज और सबसे मूलभूत उपाय होगा। लोग कहेंगे कि यह करना कठिन है लेकिन इसमें कम-से-कम ऊपर है, उत्साह, प्रकाश, सुंदरता और तीव्र तथा रचनात्मक जीवन है।

यह सच है कि कामना के बिना अहंकार को सहारा देने के लिये कुछ भी नहीं बच जाता और तुम्हें ऐसा लगता है कि चेतना इतनी कठोर हो गई है कि अगर अहंकार धूल बन जाये तो तुम्हारे स्व का कुछ अहं अंश में धूल में जा गिरता है और तुम निर्वाण में प्रवेश करने को तैयार हो जाते हो जो शुद्ध और सरल रूप से विध्वंस है।

लेकिन हम यहां जिसे सच्चा निर्वाण कहते हैं वह अहंकार का परम पुनरुत्थान के वैभव में लुप्त हो जाना है। और मैं इस मार्ग को रचनात्मक कहती हूँ यह ऐसा आत्मदान है जो संपूर्ण, समग्र, पूर्ण, बिना किसी मोलभाव के और बिना कुछ बचाये होता है।

अपने ही बारे में न सोचने में, अपने ही लिये न जीने में, कोई भी चीज अपने-आपको ही न सौंपने में, केवल उसीके बारे में सोचने में जो अत्यंत

सुंदर, आलस है—इसमें इस सकती।

यही एक काटना है।

फर्क है

साथ, एक-फैलाकर चो

अहं

वृत्ति? बलि चाहिये...

सबसे

भगवान् के

को देने के

तो अपने

सामान्यतः

सबसे पह

“खींचने”

वे तुमसे व

मुझे कोई

पूछो, “क

“हां, तभी

है कि ज

सुंदर, आलोकमय, आनंदमय, शक्तिशाली, अनुकंपापूर्ण और अनंत है—इसमें इतना गहन आनंद होता है जिसकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती।

यही एकमात्र चीज है जो प्रयास करने योग्य है . . . बाकी सब तो समय काटना है।

फर्क है पहाड़ पर गोल-गोल चक्कर लगाते हुए, धीरे-धीरे, मेहनत के साथ, एक-एक कदम करके हजारों वर्षों में चढ़ना या अदृश्य पंखों को फैलाकर चोटी तक सीधी उड़ान भरना।

पथ-प्रदर्शन

अहंकार से निकलने के लिये हमें कौन-सी वृत्ति अपनानी चाहिये ?

वृत्ति ? बल्कि यह संकल्प या इच्छा है। है ना ? पहले तुम्हें इच्छा करनी चाहिये . . . । इसके लिये क्या करना चाहिये ? क्या तुम यह पूछ रहे हो ?

सबसे अधिक निश्चित तरीका है अपने-आपको भगवान् को दे देना। भगवान् को अपनी ओर खींचने की कोशिश न करो, अपने-आपको भगवान् को देने की कोशिश करो। तब तुम शुरू करने के लिये कम-से-कम कुछ तो अपने छोटे-से अहं में से बाहर निकलने के लिये बाधित होते हो। सामान्यतः तुम जानते हो कि जब लोग भगवान् के बारे में सोचते हैं तो सबसे पहली चीज यह होती है कि वे भगवान् को अपने अंदर भरसक "खींचने" की कोशिश करते हैं; और तब वे साधारणतः कुछ भी नहीं पाते। वे तुमसे कहते हैं, "आह, मैंने पुकारा, प्रार्थना की, पर कोई उत्तर नहीं मिला, मुझे कोई उत्तर नहीं मिला, कुछ भी तो नहीं आया।" फिर अगर तुम उनसे पूछो, "क्या तुमने अपने-आपको अर्पित किया" — "नहीं, मैंने खींचा।" — "हां, तभी वह नहीं आया !" बात यह नहीं है कि वह नहीं आया, बात यह है कि जब तुम खींचते हो तो अपने अहं में इतने बंद रहते हो, —जैसा मैंने

अभी कहा—कि तुम्हारे और उसके बीच, जिसे ग्रहण करना है, एक दीवार खड़ी हो जाती है। तुम अपने-आपको जेल में बंद कर लेते हो और निश्चय करते हो कि जेल में तुम कुछ भी अनुभव नहीं करते।

जेल और फिर ऐसा कि रास्ते पर खिड़कियां भी नहीं हैं।

अपने-आपको बाहर फेंक दो (माताजी अपने हाथ खोलती हैं), तुम भी बचाये बिना अपने-आपको दे दो। केवल देने के आनंद के लिये। संभव है तुम कुछ अनुभव कर सको।

अगर हम यह अनुभव करने की कोशिश करें कि हमारा अस्तित्व नहीं है, केवल भगवान् का अस्तित्व है तो क्या यह अहंकार निकलने का एक तरीका है ?

हमारा अस्तित्व ही नहीं है ? मुझे नहीं लगता कि मानसिक रूप से प्रयास करने से तुम किसी चीज में सफल हो सकते हो क्योंकि यह एक तरह का मानसिक प्रयास है। इस तरह तुम मानसिक रचनाएं बनाते हो और कुछ नहीं पा सकते। सचमुच जरूरी है सहज, तीव्र, एक ऐसी ज्वाला जो सत्ता के अंदर प्रज्वलित होती है, अभीप्सा की ज्वाला कोई चीज... नहीं कैसे कहा जाये...।

अगर चीज सिर में ही चलती रहे तो कुछ भी नहीं होता, कुछ भी नहीं

हे मधुर मां, हम अहंकार की गांठ को कैसे काट सकते हैं ?

उसे कैसे काटा जाये ? तलवार पकड़ो और उसपर वार करो (हंसी) तुम उसके बारे में सचेतन हो जाते हो। साधारणतः तुम नहीं जानते, तुम सोचते हो कि यह बिल्कुल सामान्य है जो हमारे अंदर हो रहा है। वस्तु यह बहुत सामान्य है, लेकिन साथ ही हम यह भी सोचते हैं कि यह बहुत अच्छा भी है। तो आरंभ करने के लिये तुम्हारे अंदर यह स्पष्ट दृष्टि चाहिए कि तुम यह जान सको कि तुम इन सब गांठों में बंद हो जाते हो जकड़े हुए हैं। और फिर जब तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि

एक चीज वहाँपर बहुत सख्ती से बंद है—इतनी सख्ती से कि उसे हिलाने के प्रयास भी व्यर्थ हो गये हैं, तब तुम कल्पना करते हो कि तुम्हारा संकल्प एक बहुत तेज तलवार की धार है और तब तुम अपनी सारी शक्ति के साथ तलवार से इस गाँठ पर वार करते हो (निश्चय ही, यह काल्पनिक होता है, तुम सचमुच की तलवार नहीं उठाते) तो इससे परिणाम आता है। निश्चय ही तुम यह कार्य मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर सकते हो, इस गाँठ को बनानेवाले सभी तत्वों का पता लगा सकते हो, प्रतिरोध, आदतों, अभिरुचियों के उस पूरे समूह का पता लगा सकते हो जो तुम्हें इतनी कठोरता से बंद रखता है। तो जब तुम्हें इसका पता लग जाये तो तुम एकाग्र होकर भगवान् की शक्ति और कृपा को बुला सकते हो और इस रचना पर एक करारी चोट लगा सकते हो, ये चीजें इतने नजदीक से बंधी होती हैं कि कोई चीज उन्हें अलग नहीं कर सकती। और उस क्षण तुम्हें निश्चय करना चाहिये कि अबसे तुम इन चीजों पर कभी कान न दोगे, कि तुम केवल भागवत चेतना की ही बात मानोगे और व्यक्तिगत परिणामों की परवाह किये बिना, सफलता, शक्ति, संतोष, गर्व आदि से मुक्त होकर, समस्त आसक्ति से मुक्त होकर, केवल भगवान् का काम छोड़कर और कोई काम न करोगे... ये सब चीजें गायब हो जानी चाहियें। तुम्हें केवल उस भागवत इच्छा को ही देखना चाहिये जो तुम्हारी इच्छा में अवतरित हो और तुमसे काम करवाती हो। तो इस तरह, तुम इससे मुक्त हो जाओगे।

हैं ?
माताजी, जब हम प्रयास करते हैं तो हमारे अंदर कोई चीज बहुत आत्म-तुष्ट हो जाती है और इस प्रयास पर शेखी बघारती है और इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। तो हम इससे कैसे पिंड छुड़ा सकते हैं ?

आह, यह वह है जो देखा करता है कि तुम क्या कर रहे हो। जब तुम कुछ करते हो तो हमेशा कोई उसे देखता रहता है। और कभी-कभी उसे घमंड हो उठता है। स्पष्ट है कि गर्व प्रयास में से बहुत-सा बल खींच लेता है।

मेरा ख्याल है कि यह वही चीज है : यह अपने-आपको काम करते देखने की आदत है, अपने-आपको जीते हुए देखने की आदत है। अपने आपको देखना जरूरी है मगर मेरा ख्याल है कि उससे भी ज्यादा जरूरी बिल्कुल सच्चा और निष्कपट होना, सहज स्वाभाविक होना, तुम जो करो उसमें बहुत सहज स्वाभाविक होओ : हमेशा अपने-आपको काम करते हुए न देखते रहो और अपने-आपकी परख—कभी-कभी कड़ाई के साथ परख—न करते रहो। वस्तुतः यह उतना ही बुरा है जितना संतोष के साथ अपने-आपको शाबाशी देना, दोनों समान रूप से बुरे हैं। तुम्हें अपनी अभीप्सा में इतना सच्चा और निष्कपट होना चाहिये कि तुम्हें पता भी न लगे कि तुम अभीप्सा कर रहे हो, तुम अपने-आप अभीप्सा बन जाओ...

एक मिनट, इसका एक मिनट उपलब्धि के सैंकड़ों वर्षों की तैयारी कर सकता है। जब तुम स्वार्थी और स्वाभिमानी न रहो, ऐसे अहं न रहो हमेशा अपने-आपको देखता है, जब तुम स्वयं ही कार्य बन जाओ, सब बढ़कर अगर यह चीज अभीप्सा में हो तो यह सचमुच अच्छा होता है, कोई ऐसा व्यक्ति न रहे जो अभीप्सा करता है, जब स्वयं अभीप्सा ही पूर्ण रूप से एकाग्र प्रेरणा के साथ ऊपर उछल पड़ती है, तब सचमुच वह बहुत दूर तक जाती है; अन्यथा उसमें हमेशा जरा-सा गर्व, जरा-सा आत्म-संतोष, जरा-सी आत्मदया, सब तरह की छोटी-छोटी चीजें मिली रहती हैं जो आखिर सब कुछ बिगाड़ देती हैं।

हम अहं की इच्छा को कैसे दूर कर सकते हैं ?

इसका अर्थ है कि व्यक्ति अहं को कैसे निकाल सकता है। इसे केवल योग के द्वारा ही किया जा सकता है। मानवता के सारे आध्यात्मिक इतिहास योग की बहुत-सी पद्धतियां रही हैं जिनका श्रीअरविंद ने 'योग समन्वय' पुस्तक में वर्णन किया है।

लेकिन अहं की इच्छा को दूर करने से पहले, जिसमें बहुत समय लगता है, तुम अहं की इच्छा को, हर अवसर पर और फिर सतत रूप में भाग

इच्छा के होगा यह हमारे लिए केवल हमारे क्षेत्र के कलाओं के स्वभाव की है और है। लेकिन वह अज्ञान उसकी दृष्टि सीमित है है और ये

(वि
प्रश्न
का

ऐसा इ
शायद
है। जो प
धीरज धर
इत्यादि हो

इच्छा के आगे समर्पित करना शुरू कर सकते हो। इसके लिये पहला कदम होगा यह जानना कि भगवान् हमारी अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे लिये क्या अच्छा है और हमें सचमुच किस चीज की जरूरत है, केवल हमारी आध्यात्मिक प्रगति के लिये ही नहीं, बल्कि भौतिक कुशल-क्षेम के लिये, हमारे शरीर के स्वास्थ्य और हमारी सत्ता के सभी क्रिया-कलापों की उचित क्रियाशीलता के लिये भी।

स्वभावतः अहंकार का यह मत नहीं है जो यह सोचता है कि उसे जिस चीज की जरूरत है उसे वह और सब की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह जानता है और अपने लिये निर्णय और निश्चय की स्वाधीनता का पूरा दावा करता है। लेकिन वह ऐसी बातें इसलिये सोचता और अनुभव करता है क्योंकि वह अज्ञानी है और तुम्हें धीरे-धीरे करके उसे विश्वास दिलाना होता है कि उसकी दृष्टि और उसकी समझ ठीक तरह जान सकने के लिये बहुत ज्यादा सीमित हैं और वह केवल अपनी कामनाओं के अनुसार ही मूल्यांकन करता है और ये अंधी होती हैं सत्य के अनुसार नहीं होतीं।

अहंकार-विहीन स्थिति

(किसी ने शिकायत की कि बहुधा लोग माताजी का समय व्यर्थ के प्रश्नों से नष्ट करते हैं और परिणाम-स्वरूप ज्यादा जरूरी दीखनेवाले कामों के लिये समय नहीं बचता। इसपर माताजी ने टिप्पणी की—)

ऐसा इसलिये है कि ऐसा होना चाहिये।

शायद यह एक पाठ है (एक संकेत है) लेकिन इसका एक प्रयोजन है। जो पाठ मुझे पढ़ना चाहिये उसे मैं पढ़ने की कोशिश कर रही हूं। मैं धीरज धरना सीख रही हूं, ओह ! कितना धीरज . . . हमेशा विद्रोह, अपमान इत्यादि होते ही रहते हैं। यह सब मेरे लिये बिलकुल शून्य होता है और

कभी-कभी मनोरंजक भी। जब मैं अपनी निजी स्थिति में होती हूँ, अनुभव की सच्ची स्थिति में तो इससे कुछ भी नहीं बदलता, उससे सतह पर एक छोटी-सी लहरी भी नहीं उठती—कुछ नहीं होता।

कल मुझसे पूछा गया था कि क्या अपमानित होने और जिसे अंग्रेजी में 'सेल्फ रेस्पेक्ट' (स्वमान) कहते हैं (और जिसे फ्रेंच में 'आमूर प्रोप्र' कहा जाता है,) उसका साधना में कोई स्थान होता है। निश्चय ही, इसका कोई स्थान नहीं होता, यह तो भली-भाँति समझ में आने की बात है! मैंने इस तरह की गतिविधि देखी है, वह बहुत ही स्पष्ट थी। मैंने उसे अहंकार के बिना भी देखा है। जब अहंकार नहीं होता तो सत्ता में इस प्रकार की लड़ाई तक नहीं उठ सकती। मैं भूतकाल में बहुत दूर तक चली गयी जब मैं चीजों का अनुभव करती थी (बहुत वर्ष पहले) परंतु अब यह कोई विजातीय चीज भी नहीं है, यह एक असंभव चीज है। सारी सत्ता (यह अजीब बात है) यहां तक कि भौतिक गठन भी यह नहीं समझ पाता कि क्या चीज है। जब कोई भौतिक धक्का लगता है तो यही बात होती है (माताजी अपनी कोहनी पर एक खेंख दिखलाती हैं) जैसे यह, जिसमें आदमी चोट का अनुभव करता है, उस तरह का अनुभव भी नहीं होता। बहुधा कुछ भी नहीं होता। सब मिलाकर सारी चीज दिखायी दिये बिना निकल जाती है, लेकिन जब कुछ अनुभव होता भी है तो यह केवल एक निशान-सा होता है, एक बहुत ही कोमल निशान, एक ऐसी सहायता का निशान जो अपने-आपका अनुभव देने का प्रयास करती है जो एक ऐसा पाठ है जिसे सीखना जरूरी है। लेकिन मानसिक रूप में नहीं जिसमें हमें कठोरता होती है, यह वैसी चीज नहीं है। यह एक प्रकार से सत्ता का उल्लास है जो कुछ सीखने के लिये अपने-आपको दे देती है। मैं कोषाणुओं की बात कर रही हूँ। यह बहुत मजेदार है। स्पष्ट है, यदि तुम इसे मानसिक रूप देने लगो तो कह सकते हो कि यह सभी चीजों में भागवत उपस्थिति की अनुभूति या चेतना है और यह कि संपर्क का तरीका उस स्थिति में आता है जिसमें तुम हो।

हां, शरीर का यही अनुभव है।

और व
अहंकार क
लोग कहते
था" या
यह उसका
जो अब भ
लिये एक
यह उनके
के अस्तित्व
मात्रा में, य
मजेदार है

शिष्य—

सीखते, इस

माताजी

बदल जाते

शिष्य—

डूब जाती

माताजी

शिष्य—

माताजी

बड़ी हूँ!

शिष्य—

माताजी

खराब होत

लगते। य

हैं)। अग

लगते हैं।

दूढ़ता कुछ

और व्यक्तियों में जब किसी चोट या धक्के का अनुभव होता है तो अहंकार का स्पष्ट दर्शन होता है, अहंकार अपने-आपको प्रकट करता है। लोग कहते हैं, “यह दूसरा है।” मैं यह नहीं कहूंगी, “ओह ! वह गुस्से में था” या “यह व्यक्ति गुस्से में है . . .।” नहीं, यह उसका अहंकार है, नहीं, यह उसका अहंकार भी नहीं है : यह अहंकार या अहं-तत्त्व है—अहं-तत्त्व जो अब भी हस्तक्षेप करता है। यह बहुत मजेदार है क्योंकि अहंकार मेरे लिये एक प्रकार की निर्वैयक्तिक सत्ता बन गया है जब कि औरों के लिये यह उनके व्यक्तित्व का तीव्र भाव होता है ! उसकी जगह, यह एक प्रकार के अस्तित्व की पद्धति है (पार्थिव, या मानव कह लो) जो कम या ज्यादा मात्रा में, यहां या वहां, हर एक को व्यक्तित्व का आभास देती है। बहुत मजेदार है यह।

शिष्य—लेकिन मुश्किल तो यह है कि और लोग अपना पाठ नहीं सीखते, इसलिये . . .

माताजी—ओह ! अगर वे अपना पाठ सीख लेते तो हर चीज जल्दी ही बदल जाती।

शिष्य—तो इसका परिणाम यह है कि आपपर आक्रमण होता है, आप डूब जाती हैं।

माताजी—यह असंभव है !

शिष्य—आपका सारा समय . . . आपको पूरी तरह . . .

माताजी—मुझे डुबाया नहीं जा सकता ! (माताजी हंसती हैं) मैं बहुत बड़ी हूँ !

शिष्य—फिर भी, भौतिक दृष्टि से आप अभिभूत हो जाती हैं।

माताजी—मैंने देखा है कि अगर मैं प्रतिरोध करूँ तो हालत ज्यादा खराब होती है। अगर मेरे अंदर तरलता का अनुभव हो तो धक्के नहीं लगते। यह वही चीज है जैसे यह खेंख (माताजी अपनी कोहनी दिखाती हैं)। अगर तुम कठोर हो जाओ और चीजें प्रतिरोध करें तो तुम्हें धक्के लगते हैं। यह उन मनुष्यों की तरह है जो गिरना जानते हैं, वे गिरते हैं पर टूटता कुछ नहीं। जब कि जो लोग गिरना नहीं जानते उनमें जरा-सा गिरने से

ही कुछ-न-कुछ टूट जाता है। बात एक ही है। तुम्हें सीखना चाहिये, तुम्हें पूर्ण इकाई बनना सीखना चाहिये। ठीक करना, सीधा करना प्रतिरोध करने ही होता है। तो, अगर जैसा तुम कहते हो, आक्रमण जारी रहे तो क्या होगा? वह मजेदार होगा, चलो देखें! (माताजी हंसती हैं) चूंकि अंग्रेज लोग इसी अवस्था में नहीं हैं इसलिये शायद वे परेशान हो उठें, पर असहाय हूं! (माताजी हंसती हैं।)

तुम्हें हमेशा हंसना चाहिये, हमेशा। भगवान् हंसते हैं। वे हंसते हैं और उनकी हंसी इतनी अच्छी होती है, इतनी अच्छी, इतनी प्रेमभरी। वह एक ऐसी हंसी होती है जो तुम्हें विलक्षण मधुरता से घेर लेती है।

मनुष्यों ने इसे भी बिगाड़ लिया है—उन्होंने सभी चीजों को बिगाड़ लिया है। (माताजी हंसती हैं)।

११-१-१९६६

अहंकार—तुम्हारा समय चला गया !

अनेक शताब्दियों से मानवजाति ने इस समय की प्रतीक्षा की है। अब आ गया है। पर है कठिन।

मैं तुमसे यह नहीं कहती कि हम यहां पृथ्वी पर आराम करने के लिए या मौज करने के लिये हैं, अभी उसका समय नहीं है। हम यहां हैं... नूतन सृष्टि का मार्ग तैयार करने के लिये...

तुम इस क्षण यहां अर्थात् पृथ्वी पर हो क्योंकि एक समय तुमने चुनाव किया था—अब तुम्हें उसकी याद नहीं है, लेकिन मैं जानती हूँ—कारण तुम यहां हो। हां, तो तुम्हें इस कार्य की ऊंचाई तक उठना चाहिये तुम्हें प्रयास करना चाहिये, तुम्हें समस्त दुर्बलताओं और सीमाओं को तोड़ लेना चाहिये और सबसे बढ़कर तुम्हें अपने अहंकार से कहना चाहिये “तुम्हारा समय चुक गया।” हम ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहं न हो जिसमें अहं के स्थान पर दिव्य चेतना हो, हमें उसीकी जरूरत है: ऐसी

दिव्य चेतना की जो जाति को विकसित होने और अतिमानसिक सत्ता को जन्म लेने दे।

२ अप्रैल १९७२

*

अहंकार के स्थान पर दिव्य चेतना को आना चाहिये—स्वयं श्रीअरविंद ने उसे “अतिमानस” कहा है; हम उसे अतिमानसिक कह सकते हैं ताकि कोई गलतफहमी न हो, क्योंकि जब हम “दिव्य” की बात कहते हैं तो झट लोग एक “देव” की बात सोचते हैं और इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। यह वही नहीं है, नहीं, यह वही नहीं है।

६ मई १९७२

*

जब पहले मानवजाति की रचना हुई थी तो अहंकार ऐक्य लानेवाला तत्व था। अहंकार के चारों ओर ही सत्ता की विभिन्न स्थितियाँ संगठित थीं; लेकिन अब जब अतिमानवता के जन्म की तैयारी हो रही है तो अहंकार को लुप्त हो जाना और चैत्य सत्ता को स्थान दे देना चाहिये जिसका धीरे-धीरे भागवत हस्तक्षेप द्वारा निर्माण हुआ है ताकि वह मानव सत्ता में भगवान् को अभिव्यक्त कर सके।

भगवान् चैत्य प्रभाव में आकर मनुष्य के अंदर प्रकट होते हैं और इस तरह अतिमानवता के आने की तैयारी करते हैं।

चैत्य अमर है और चैत्य के द्वारा ही अमरता पृथ्वी पर अभिव्यक्त हो सकती है।

तो अब जरूरी बात है, अपनी चैत्य सत्ता को खोजना, उसके साथ एक होना और उसे अहं का स्थान लेने देना। इस तरह अहंकार या तो बदलने या लुप्त होने के लिये बाधित होगा।

८ फरवरी १९७२

*

तुम समझते हो ना, मार्ग केवल एक ही है, अहंकार को जाना चाहिये बस। यही बात है। केवल तभी जब “अहं” के स्थान पर और कुछ भी हो : तुम जानते हो, वह इस तरह बिलकुल चपटा होता है (माताजी विशाल, चिकनी, झुर्री बिना किसी चीज का संकेत करती हैं), जिसमें ... शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं परंतु बहुत स्थायी, यह संवेदन होता है : “तू चाहे, जैसा तू चाहे” (शब्द बहुत तुच्छ होते हैं)। सचमुच यह संवेदन होना चाहिये कि इस शरीर का अस्तित्व नहीं है, केवल इसका उपयोग किया जा रहा है—केवल तत् है। तत् ही इस तरह करता है (दबाव का संकेत)। तत् का यह अनुभव, यह सचेतन विस्तार... (माताजी अपनी बांहें पसारती हैं) और अंत में तुम उसे निश्चय ही देखो हो। (यहां ‘देखना’ बिंबों के साथ दर्शन नहीं है बल्कि एक दर्शन होता है... मुझे नहीं मालूम वह किसके साथ दर्शन है ! परंतु वह है बहुत ठोस बिंबों की अपेक्षा बहुत अधिक ठोस), इस विस्तीर्ण शक्ति की दृष्टि, यह विस्तीर्ण स्पंदन जो दबाता, दबाता और दबाता है... और फिर यह जगत् जो उसके नीचे छटपटाता है... और जो चीज खुलती है, और वह खुलती है तो वह शक्ति उसमें प्रवेश करती और फैलती है : यह सचमुच मजेदार है।

यही एकमात्र समाधान है। और कोई समाधान नहीं है। बाकी सब अभीप्सा, कल्पना, प्रत्याशा है... वह अब भी अतिमानस होता है अतिमानसिक नहीं। यह एक उच्चतर मानव-जाति है जो सारी मानव-जातियों को ऊपर खींचना चाहती है परंतु वह... वह व्यर्थ है, व्यर्थ है।

इस सारी मानवजाति का चित्र बिलकुल साफ है जो ऊपर चढ़ने के लिए चिपटती है, जो इस तरह की पकड़ चाहती है लेकिन अपने-आपको देना नहीं चाहती—वह लेना चाहती है ! और यह, इससे काम न चलेगा। उसे अपने-आपसे पिंड छुड़ाना होगा। तब सच्ची चीज आकर अपना स्थान ले सकेगी।

यही है सारा रहस्य।

उदाहरण के लिये, मानवजाति का यह पूरा पक्ष जो चीजों को जोर से हथिया लेना चाहता है और उन्हें ऊपर यहांतक खींचता है, (माताजी मां

तक का नहीं है ! ताकि मा (माताजी) फिर प्रण वस्तु

यह विरो है, मानो व्यक्तिगत व्यक्तिगत साधन। यह एक कर्म है, इंकार व साधनों भी है।

तो ते कहा ज स्वाभाविक कार्यकर्त भगवान् मिलता और कु

तक का इशारा करती हैं) ... यह मजेदार है : यह मजेदार तो है पर वह नहीं है ! यह वह नहीं है । इन सब संभावनाओं को समाप्त कर देना चाहिये ताकि मानवता के अंदर कोई चीज समझ सके ... कि केवल तत् है । (माताजी अपने हाथ खोलकर आत्म-विलोपन का संकेत करती हैं), और फिर प्रणत होकर अपने-आपको लुप्त हो जाने दो ।
वस्तुतः, यह सबसे कठिन चीज है—लुप्त होना सीखना ।

१३ दिसंबर १९६९

माताजी, यह नयी शक्ति जो काम करनेवाली है; वह व्यक्तिगत प्रयास द्वारा काम करेगी या उससे स्वतंत्र होकर ?

यह विरोध क्यों ? वह सारे व्यक्तिगत प्रयासों से स्वतंत्र होकर काम करती है, मानों जगत् में स्वतःचालित रूप से काम कर रही हो, लेकिन यह व्यक्तिगत प्रयास की रचना करती है और उसका उपयोग करती है । व्यक्तिगत प्रयास उसकी क्रिया का एक साधन है, और शायद सबसे प्रबल साधन । अगर तुम यह सोचो कि व्यक्तिगत प्रयास व्यक्ति के कारण है तो यह एक भ्रम है, लेकिन अगर व्यक्ति इस बहाने कि उससे स्वतंत्र एक वैश्व कर्म है, व्यक्तिगत प्रयास करने से इंकार कर दे तो वह सहयोग देने से इंकार करता है । दिव्य शक्ति अपने हाथ में आये सबसे अधिक सशक्त साधनों के रूप में व्यक्तिगत प्रयास का उपयोग करना चाहती और करती भी है । वह स्वयं शक्ति है और यही शक्ति तुम्हारा व्यक्तिगत प्रयास है ।

तो देखो, प्राणिक आत्म-छलना की पहली गति तब होती है जब प्राण से कहा जाता है, “अपने-आपमें तुम्हारा अस्तित्व नहीं है ।” तो, उसका स्वाभाविक उत्तर होता है, अच्छा, तो मैं कुछ भी नहीं करूंगा ! अगर मैं कार्यकर्ता नहीं हूँ तो मैं कोई कार्य न करूंगा ।” और फिर, “अच्छी बात है, भगवान् ही सब कुछ कर लें, यह उन्हीं का धंधा है, अगर श्रेय मुझे नहीं मिलता तो मैं अब हिलूंगा भी नहीं ।” नौबत यहांतक आ जाती है, “मैं अब और कुछ न करूंगा ।” हां ! लेकिन ऐसी चीजों के लिये वस्तुतः कोई शब्द

नहीं है। यह ऐसी चीज है जो मैं सदा ही सुनती रहती हूँ। यह आत्म-छलना का अपना बुखार निकालने का तरीका है, बस। लेकिन सच्ची प्रतिक्रिया, शुद्ध प्रतिक्रिया है सहयोग देने के लिये उत्साहभरा आवेश, समस्त ऊर्जा के साथ खेल में भाग लेना, इच्छा-शक्ति को अपनी चेतना के हवाले कर देना अर्थात् तुम जिस स्थिति में होओ उसमें यह अनुभव को कि तुम्हें सहारा मिल रहा है, तुमसे अनंत गुनी बड़ी चीज तुम्हें लिये जा रही है जो कभी भूल नहीं करती, जो तुम्हारी रक्षा करती है और साथ ही तुम्हें सारी शक्ति प्रदान करती है और सर्वोत्तम यंत्र के रूप में तुम्हारा उपयोग करती है...। यह अनुभव करना कि तुम्हारी इच्छा-शक्ति अनंत में एक छोटा-सा अणुवत् व्यक्तित्व न होकर अनंत वैश्व शक्ति है जो तुमसे कार्य करवाती है : जो सत्ता की शक्ति है—यही सच्ची गतिविधि है। यही एकमात्र सच्ची प्रतिक्रिया है...।

अहंकार के बारे में

(श्रीअरविंद के कुछ पत्र)

प्राण में तीन बाधाएं होती हैं जिन्हें आदमी को जीतना पड़ता है और उन्हें जीतना बहुत कठिन है। वे हैं काम-वासना, क्रोध और राजसिक अहंकार। राजसिक अहंकार बाकी दो को सहारा देनेवाला आधार होता है।

*

स्पष्ट है कि यदि तुम्हारा उद्देश्य निर्वाण नहीं है तो तुम्हें अपने छोटे अहंकार की ओर ध्यान देना होगा, उसमें रस लेना नहीं बल्कि रूपांतर द्वारा उसे अस्तित्व से बाहर कर देना होगा।

*

यह आह

केन सच्चे

आवेश

चेतना के

अनुभव को

ये जा रहे

य ही तुम्हें

उपयोग

त में एक

मसे कर

नी एकमात्र

अहंकार के रूप को विलीन कर देना चाहिये, उसके स्थान पर ज्यादा बड़े या किसी और तरह के अहंकार को नहीं बिठाना चाहिये बल्कि ऐसी सच्ची सत्ता को लाना चाहिये जो अपने-आपको चाहे व्यक्ति के रूप में अनुभव करती हो पर साथ ही सबके साथ और भगवान् के साथ एक अनुभव करती हो।

*

चैत्य सत्ता में व्यक्तित्व होता है पर अहंकार नहीं। जब व्यक्ति अपने-आपको भगवान् के साथ एक कर लेता है या पूरी तरह भगवान् के अर्पित हो जाता है तो अहंकार चला जाता है।

*

उच्चतर आध्यात्मिक लोकों में अहंकार नहीं होता क्योंकि भगवान् के एकत्व का अनुभव होता है, लेकिन अपने सच्चे स्व या व्यक्तित्व का—अहंकार का नहीं—बल्कि भगवान् के एक अंश का अनुभव होता है।

*

और उन्हे

अहंकार।

छोटे अहं

द्वारा उसे

यद्यपि आध्यात्मिक लोकों में अहंकार नहीं होता परंतु आध्यात्मिक अनुभव द्वारा निचले लोकों का अहंकार गर्व और अनुभूतियों को गलत तरह ग्रहण करने के कारण बढ़ सकता है। और विशालतर प्राणमय और मनोमय लोकों में प्रवेश करके आदमी अपने अहं को बढ़ा सकता है। ये चीजें तबतक हमेशा संभव रहती हैं जबतक सत्ता की उच्चतर और निम्नतर चेतना में सामंजस्य न हो जाये और निम्नतर उच्चतर की प्रकृति में रूपांतरित न हो जाये।

*

भले उच्चतर भागों में अहंकार की चेतना न हो, जहां सभी चीजों के एकत्व का अनुभव हो गया हो, इसका यह मतलब नहीं है कि निम्न भागों

से भी अहं लुप्त कर दिया गया है। इसके विपरीत, हो सकता है कि वह बहुत मजबूत हो जाये और जब मन यह सोच रहा हो कि मेरे अहंकार नहीं है, तब उसके कार्य बहुत अहंकारमय हों।

*

अहंकार से पिंड छुड़ाना इतना आसान नहीं है। वह कर्म के बावजूद नहीं ज्ञान और भक्ति के बावजूद रह सकता है। अहंकार के गायब हो जाने का अर्थ है पूर्ण मुक्ति। जो योगी यह अनुभव करता है कि उसकी पृथक् सत्ता को वैश्व चेतना ने या किसी तरह की परात्पर चेतना ने निगल लिया है जब वह बाहरी कर्म और प्रतिक्रिया की ओर आता है तो पाता है कि सतत अहंकार अब भी मौजूद है। इसीलिये वैरागी कर्म से धबराता है और कहता है कि अहंकार के बिना कर्म नहीं किया जा सकता। कर्म किया तो जा सकता है लेकिन वह पूरी तरह केवल तभी होता है जब ये बाह्यतम चीजें अपने पूर्ण रूप में, उच्चतर चेतना द्वारा ले ली जाती हैं।

*

समता का अर्थ अहंकार का अभाव नहीं बल्कि कामना और आसक्ति का अभाव है, अहं-भाव गायब हो सकता है या सूक्ष्म अथवा घन रूप में रह सकता है—यह व्यक्ति पर निर्भर है।

*

घमंड तो अहंकार का एक रूपमात्र है—इसके सिवाय दस हजार और हैं। मनुष्य का हर कार्य अहंकार से भरा होता है, उसके अच्छे काम भी और बुरे भी, उसकी नम्रता भी और उसका घमंड भी, उसकी अच्छाइयां भी और उसकी बुराइयां भी।

मानव प्रकृति में से अहं को निकाल बाहर करना इतना आसान नहीं है। अगर तुम अहंकार से मुक्त हो, अपने लिये कुछ नहीं करते, सब कुछ

भगवान्
भगवान्

सभी
चीजें, छो
होता है।
अहंकार
कोई ऐसी

हर ए
अहंकार
वह परछ
उसे देख
को पहच
उससे इं
जब तुम
अनुभव

हर ए
विचारों
जागरूक
सकता है
आपको

है कि क
मेरे अं

भगवान् के लिये करते हो और तुम्हारे सभी विचार और सभी भावनाएँ भगवान् के लिये हैं तो तुम जीवनमुक्त और सिद्ध योगी हो।

*

भावजुद
व हो जो
की पृथक्
लिया है

कि सत
और कह
या तो
तम चीजें

आसक्ति
न रूप में

इजार और
काम में
छाड़ियों में
नहीं है
सब कुछ

सभी मनुष्यों के साथ यही बात है। सभी कर्म, भाव, विचार, सभी चीजें, छोटी हों या बड़ी, अच्छी हों या बुरी, सभी कुछ अहंकार से भिदा होता है। नम्रता और परोपकार कहानेवाली चीजें भी अधिकतर लोगों में अहंकार का ही एक रूप होती हैं। यह इसपर निर्भर नहीं है कि तुम्हारे अंदर कोई ऐसी चीज हो जिसपर गर्व किया जा सके।

*

हर एक के साथ यही बात है। मानव प्रकृति अपने समस्त पदार्थ में अहंकार के तागे से बुनी हुई है। जब तुम उससे दूर होना चाहते हो तब भी वह परछाई की तरह सभी विचारों और क्रियाओं के आगे या पीछे रहता है। उसे देखना पहला कदम है, अहंकार-भरी गतियों के मिथ्यात्व और बेतुकेपन को पहचान सकना दूसरा कदम है, उसे हतोत्साह करना और पग-पग पर उससे इंकार करना तीसरा कदम है—लेकिन वह पूरी तरह तभी जाता है जब तुम एकमेव को सर्व के अंदर, सर्वत्र और समान रूप में देख सको, अनुभव कर सको और जी सको।

*

हर एक के साथ यही बात है क्योंकि मानव चेतना अपने सभी पिछले विचारों में अहंकार के इसी पदार्थ से भरी है। केवल सतत रूप से शांत जागरूकता और बढ़ती हुई चेतना द्वारा ही इस अहंकार से निकला जा सकता है—क्योंकि अगर उसे खुलकर खेलने न दिया जाये तो वह अपने-आपको सूक्ष्म और छद्मवेषों में छिपा लेता है।

*

शरीर की अपेक्षा मन और प्राण अहंकार से बहुत अधिक भरे हुए हैं।

*

अहंकार के साथ युद्ध भौतिक प्रकृति के साथ युद्ध का भाग है क्योंकि भौतिक चेतना में सतही, अयुक्तियुक्त तथा नैसर्गिक अहं ही है जो जाने से इंकार करता है।

*

मनुष्य स्वभावतः अहंकार से भरा और अहं-केंद्रित होता है—वह कुछ करता, सोचता और अनुभव करता है उसपर अहं की छाप होती है और यह इसके विपरीत तबतक नहीं हो सकता जबतक कि वह अपने जीवन का केंद्र अहं को नहीं भगवान् को बनाना न सीख ले, और भगवान् के लिये सोचना, कर्म करना और अनुभव करना न सीख ले या जबतक वह उच्चतर चेतना या दिव्य चेतना में प्रवेश न कर ले या दिव्य चेतना उसमें न आ जाये—क्योंकि दिव्य चेतना में अहंकार नहीं होता।

*

अहं-केंद्रित मनुष्य चीजों को उस तरह अनुभव करता या लेता है जिस तरह वे उसे प्रभावित करें : यह चीज मुझे खुश करती है या नाखुश, मुझे खुशी देती है या दुःख, मेरे गर्व, घमंड, महत्वाकांक्षा की चापलूसी करती है या उसे चोट पहुंचाती है, मेरी कामनाओं को संतुष्ट करती या विफल बनाती है इत्यादि। अहंकार-शून्य मनुष्य चीजों को इस दृष्टि से नहीं देखता, वह यह देखने की कोशिश करता है कि चीजें अपने-आपमें क्या हैं और अगर वह स्वयं न हो तो वे क्या होंगी, उनका अर्थ क्या है, वे वस्तुओं की योजना में कैसे ठीक बैठती हैं—या वह अचंचलता और समता का अनुभव करता है हर चीज भगवान् को सौंप देता है और अगर वह क्रियाशील आदमी है तो वे चीजें उस काम में कैसे सहायक होंगी जो किया जाना है या जगत् के जीवन या वह जिस कार्य में लगा है उसमें कैसे सहायक होंगी आदि आदि

अप्रैल १९०८

के बारे में
न हों।

सष्ट
प्राणमय
अपने-आ
न दे सके

परेशा
बधाई देन
हो। आश
केंद्रित हैं
साधना में

सब कुछ
अपने बा
सोचो कि
है, किसी
इसे सच
तरीका है

यह
पहले व
अपनी व
ये चीजें
प्रतिरोध

के बारे में सोचता है। ऐसे बहुत-से दृष्टिकोण हो सकते हैं जो अहं-केंद्रित न हों।

*

स्पष्ट है कि इस सबको चले जाना चाहिये—यह मानव सत्ता का पुराना प्राणमय अहंकार है जो हमेशा अपने में ही रमा रहता है, जिससे मनुष्य अपने-आपको सरलता से और निर्विवाद रूप में भगवान् की पूजा के लिये न दे सके।

*

पेशान होने की कोई बात नहीं है। इसकी जगह तुम्हें अपने-आपको बधाई देनी चाहिये कि तुम अपनी अहं-केंद्रिकता के बारे में सचेतन हो गये हो। आश्रम के बहुत कम लोग इसके बारे में सचेतन हैं। वे सभी अहं-केंद्रित हैं, लेकिन वे अपनी अहं-केंद्रिकता का अनुभव नहीं करते। उनकी साधना में भी 'अहं' हमेशा होता है—'मेरी साधना', 'मेरी प्रगति', 'मेरा' सब कुछ। इसका एक ही उपचार है—सदा भगवान् के बारे में सोचा करो, अपने बारे में नहीं। भगवान् के लिये ही क्रिया करो, साधना करो। यह न सोचो कि इस या उस का प्रभाव व्यक्तिगत रूप में 'मेरे' ऊपर कैसे पड़ता है, किसी चीज के लिये दावा न करो, हर चीज भगवान् के सुपुर्द कर दो। इसे सचाई के साथ पूरी तरह करने में समय लगेगा, लेकिन यही उचित तरीका है।

*

यह तो अहंकार है जो अपने-आपको अपने सच्चे रंग में दिखा रहा है। पहले वह साधना के साथ मिलता-जुलता था क्योंकि वह या तो उससे अपनी कुछ चाही हुई चीज पाता था या उसे बहुत आशाएं थीं। अब चूंकि ये चीजें रोक दी गयी हैं और सच्ची वृत्ति की मांग की गयी है इसलिये वह प्रतिरोध करता है या असहयोग करता और कहता है, "ऐसी साधना का

कोई मूल्य नहीं।" यहां सभी साधकों में अहं ही (अपनी भौतिक या प्राणिक भौतिक जड़ों में) अड़ंगा सिद्ध हो रहा है। जबतक वह न बदल जाये तबतक रूपांतर असंभव है।

*

तुम्हारी प्रकृति भी प्रायः अन्य सभी की तरह बड़ी हदतक अहं-केंद्रित है। प्रायः सभी के लिये साधना की पहली अवस्थाएं अहं-केंद्रित होती हैं। उसमें हमेशा ही मुख्य विचार होता है—मेरी अपनी साधना, मेरा अपना प्रयास, मेरा अपना विकास, पूर्णता और सिद्धि। अधिकतर लोगों के लिये यह अनिवार्य है क्योंकि उस व्यक्तिगत प्रयास के बिना प्रथम आवश्यक परिवर्तन लाने के लिये पर्याप्त इच्छा या प्रेरणा भी न होगी। लेकिन इनमें से कोई भी चीज—विकास, पूर्णता या सिद्धि—वास्तव में पूर्णता या अमिश्रित निश्चयात्मकता के अंतिम रूप में पूरी तरह तबतक नहीं आ सकती जबतक यह अहं-केंद्रित वृत्ति भागवत-केंद्रित न बन जाये, जबतक वह भागवत चेतना का विकास, उसकी पूर्णता और सिद्धि न बन जाये, शरीर में उसका यंत्र-विन्यास और उसकी इच्छा न बन जाये—और यह तभी हो सकता है जब ये चीजें गौण बन जायें और भगवान् के लिये भक्ति, भगवान् के लिये प्रेम, चेतना, इच्छा, हृदय और शरीर में भगवान् के साथ एकत्व एकमात्र लक्ष्य न बन जायें—तब और सब चीजें भागवत शक्ति द्वारा भागवत इच्छा की परिपूर्ति रह जाती हैं। चैत्य के लिये यह वृत्ति कभी कठिन नहीं होती, यह उसकी स्वाभाविक स्थिति और भाव है और जब कभी तुम्हारा चैत्य सामने था तो यह चीज केंद्रीय चेतना में थी। लेकिन बाह्य मन, प्राण और शरीर कामना और अहं का मिश्रण ले आये और जबतक ये मुक्त नहीं हो जाते तबतक जीवन और कार्य में कोई प्रभावकारी मुक्ति नहीं हो सकती। विचारशील मन और उच्चतर प्राण अधिक कठिनाई के बिना इसे स्वीकार कर सकते हैं लेकिन कठिनाई होती है निम्नतर प्राण और भौतिक में विशेषकर उनके बाह्यतम भागों में; क्योंकि ये पूरी तरह आदत की सृष्टि होते हैं, ये बार-बार लौटनेवाली गति होते हैं, हमेशा एक ही गति के हठपूर्वक

अभिनिश्रि

अप्रैल १९

पुनरावर्तन
लगभग अ
अपनी अंति
लेकिन बा
बाहरी प्रकृ
सकती औ
ही यह क
है) —लेवि
आंतरिक र
अपनी पूर्ण
कठिनाई व

यह अ
है, परंतु य
अहं-केंद्रित
यहांतक कि
होती है।
होना और
का काम
लाने के
जब चेतन
में खुलनी
आत्म-दान

अगर
शुद्ध भवि
और काम

पुनरावर्तन होते हैं। यह आदत इतनी अंधी, हठी और आग्रही होती है कि लगभग अपराजेय मालूम होती है, खास तौर पर जब अज्ञान की शक्तियां अपनी अंतिम शरण या आक्रमण-बिंदु के रूप में उसका उपयोग करती हैं। लेकिन बाहर से दीखनेवाली अपराजेयता सच्ची नहीं होती। चैत्य तत्त्व के बाहरी प्रकृति में प्रतिष्ठित होने से अधिकाधिक अहं-केंद्रिकता भी बदल सकती और बदलती है। यह सच है कि केवल भागवत कृपा और शक्ति ही यह कर सकती है (यह बात सभी आध्यात्मिक परिवर्तनों के बारे में सच है) —लेकिन यह होगा सत्ता की पूर्ण स्वीकृति के साथ। जिस तरह यह आंतरिक सत्ता में किया गया है उसी तरह बाहरी में भी किया जा सकता है; अपनी पूर्ण इच्छा और श्रद्धा की निष्ठा इसमें लगा दो, फिर चाहे, जो भी कठिनाई क्यों न हो, काम पूरा हो ही जायेगा।

*

यह अपने लिये जीने और सब कुछ अपने लिये करने के बारे में सच है, परंतु यह तो मनुष्य का स्वभाव है। वह अपने अहं में ही लगा रहता है, अहं-केंद्रित होता है और सब कुछ अपने अहं के लिये ही करता है; यहांतक कि उसका प्रेम और उसकी चाह भी अधिकतर अहं पर केंद्रित होती है। इस सबको बदलना जरूरी है और सब कुछ भगवान् पर केंद्रित होना और दिव्य जननी के लिये किया जाना चाहिये। इसे पूरा करना साधना का काम है। निश्चल-नीरवता, चैत्य की वृद्धि और बाकी सब चीजें इसीको लाने के लिये होती हैं —लेकिन यह सब एकाएक नहीं किया जा सकता। जब चेतना तैयार होती है तो चैत्य प्रेम और आत्म-दान की अंतःप्रेरणा हृदय में खुलनी शुरू होती है और परिवर्तन हो जाता है —और जबतक पूर्ण आत्म-दान न हो जाये तबतक परिवर्तन अधिकाधिक होता ही रहता है।

*

अगर तुम सोचते हो कि तुम्हारे अंदर अहंकार या कामना नहीं है, केवल शुद्ध भक्ति है तो इससे बहुत ज्यादा निश्चेतना का पता लगता है। अहंकार और कामना से मुक्त होना एक ऐसी स्थिति है जिसके लिये योग में उच्च

सिद्धि की जरूरत होती है—महान् आध्यात्मिक उपलब्धियोंवाले बड़े-बड़े योगी भी इससे मुक्त नहीं होते। तुम विकास की जिस स्थिति में हो उसमें यह सोचना कि तुम अहंकार या कामना से मुक्त हो, अपने-आपको अंग्र कर लेना और अपनी प्रकृति की गतिविधियों की स्पष्ट दृष्टि से वंचित होना है, जो आध्यात्मिक पूर्णता की ओर प्रगति के लिये जरूरी है।

तुम्हारे अंदर क्या है यह जानने के लिये माताजी को इसकी आवश्यकता नहीं है कि तुम्हारे लेख उनके सामने हों।

अगर तुम्हारे लेख अहंकार और कामना दिखाते हैं, जैसा कि वे निश्चय ही करते हैं, तो इसका कारण यह है कि तुम्हारे देखे बिना भी वे मौजूद हैं और तुम्हारे चाहे बिना ही अपने-आपको प्रकट करते हैं। सतही मन कभी सोचता और चाहता है वह एक चीज है और जो विचारों और क्रियाओं के पीछे है वह अलग चीज है। मनुष्य का सतही मन अपने और अपने स्वभाव के बारे में अपना ही नियम बनाता है और पूरी तरह अपने बारे में अज्ञानी होता है। इस अज्ञान से पिंड छुड़ाने के लिये तुम्हें जो पहली चीज करनी चाहिये वह है इस सतही मन से पीछे हटना और चैत्य के संपर्क में आना जो इस तरह के भ्रमों को नहीं आने देता और तुम्हारी गतिविधियों के बारे में स्पष्ट रूप से सत्य दिखलाता है।

*

लेकिन सब चीजें भगवान् की किस तरह से हैं, जबतक अहंकार उन्हें हड़पता और अपने निजी प्रयोजन के लिये उपयोग में लाता रहता है? वस्तुतः आत्मदान का अर्थ है अहं-केंद्रिकता से ईश्वर-केंद्रिकता में परिवर्तन और साथ ही इस तरह का दान जो चेतना की सारी नींव को बदल दे।

*

हां, चीजों को अहंकार के दृष्टिकोण से देखने से यह सारी अव्यवस्था कष्ट और अज्ञान आते हैं। तुम भगवान् के बारे में सोचो, शांत रहो

भागवत चेतना को आने और अहंकारमय मानव का स्थान लेने दो—तब बाकी सब कुछ गायब हो जायेगा।

*

हां, हर एक के अंदर कठिनाई का कारण है अहंकार।

*

अहंकार की क्रीड़ा के बिना संघर्ष न होंगे और अगर प्राण में नाटक के लिये प्रवृत्ति न हो तो जीवन में नाटकीय घटनाएं न होंगी।

*

हां, यह ठीक है। सतत स्मरण करो और शांति तथा अचंचलता में निवास करो ताकि शक्ति काम करे और प्रकाश आये। दैनिक जीवन की छोटी-छोटी चीजें सतही चेतना पर तबतक चलती रहें, उसमें बहुत ज्यादा जगह न घेरें, जबतक शक्ति और प्रकाश इनपर पूरी तरह अधिकार और प्रभुत्व न प्राप्त कर लें। अहंकार ही उन्हें बहुत बड़ा स्थान देता है—अहंकार को हतोत्साह करना चाहिये—“मेरे अपने लिये नहीं, भगवान् के लिये,” यही समस्त चेतना, विचारों और क्रिया का विधान बन जाना चाहिये। यह एक साथ पूरी तरह नहीं किया जा सकता लेकिन जितनी जल्दी हो सके मन में यही सतत स्वर होना चाहिये।

*

भगवान् पर एकाग्र होना स्वार्थ क्यों है? स्वार्थ है स्वयं अपने लिये जीना, अपने से किसी बड़ी चीज के लिये नहीं जीना। सारे समय भगवान् पर केंद्रित रहने का अर्थ है अपने व्यक्तिगत स्व में से निकलना और वह अपने से महानतर किसी चीज को लक्ष्य बनाता है और उस महानतर सत्ता के उद्देश्यों को पूरा करता है। अगर हमेशा औरों के लिये जीना स्वार्थपरता नहीं है तो यह भी नहीं है।

*

स्पष्ट है कि तुम्हें उसके बारे में अहंकारमय न होना चाहिये, लेकिन वादा या निम्न चेतना में से अपने-आपको अंदर खींच लेना अहंकार-भरी गति नहीं है। अगर ऐसा होता तो समस्त साधना अहंकारमय होती और एकमात्र कार्य लायक चीज होती हमेशा सामाजिक होते हुए सतह पर रहना।

*

अहंकार का स्वार्थ उच्चतर दिव्य चेतना को नीचे न बुलाने के लिये कोई कारण नहीं है, शांति और शक्ति उसके मानों अग्रभाग और आधार हैं। जबतक तुम उच्चतर चेतना को नीचे न पुकारो, जिसके लिये अहंकार एक आवश्यकता नहीं है, तबतक तुम अहंकार से कैसे पिंड छुड़ा सकते हो?

यहां निम्नतर चेतना के विकास के लिये अहंकार और स्वार्थ आवश्यक थे। जबतक सामान्य मन से ऊपर की उच्चतर चेतना नहीं उतरती तबतक भगवान् की ओर या मुक्ति के लिये अभीप्सा करने के लिये भी अहंकार एक आवश्यकता रहती, भले वह सात्त्विक अहंकार क्यों न बन जाये। केवल उच्चतर चेतना में ही अहंकार विलीन हो सकता है—या तो वहां तक चढ़कर या निचली चेतना में उसके अवतरण द्वारा।

*

मुझे लगता है कि पहले अहंकार प्रकृति के बहाव में बाहरी चेतना के अपने-आपको व्यक्ति बनाने के साधन के रूप में और फिर तामसिक पशु-मानव से कुछ करने और कुछ करवाने के लिये प्रेरक के रूप में आया था। अन्यथा वह अपने-आपको खाने और सोने से ही संतुष्ट रखता और इसके सिवा कुछ न करता। अहंकार की इस प्रेरणा (अधिकार, गर्व, महत्वाकांक्षा, शक्ति के लिये उत्सुकता इत्यादि) के कारण मनुष्य ने वे सब काम करने शुरू किये जिन्हें वह अन्यथा कभी न करता। लेकिन अब जब कि उसे ऊंचा उठना है तो यह अहंकार बुरी तरह से रास्ते का रोड़ा बनकर आता है।

*

लेकिन यह अहंकार है क्या जिसके बारे में तुम बात करते हो ? हर एक के अंदर अहंकार है लेकिन दो बातों के सिवा और किसी तरीके से इससे पूरी तरह पिंड छुड़ाना असंभव है, वे हैं—भीतर चैत्य का खुलना और ऊपर से अहंकार-मुक्त विस्तृत चेतना का अवतरण। चैत्य सत्ता का उद्घाटन एकदम अहं से पिंड नहीं छुड़ाता परंतु वह उसे शुद्ध करता है और उसे उसकी सभी गतिविधियों के साथ भगवान् के अर्पण कर देता है ताकि मनुष्य आत्म-दान और समर्पण द्वारा अहंकारशून्य बन जाये। उसी समय प्रकृति अगर ऊपर की ओर खुलती है और अहंकारमुक्त विस्तृत चेतना नीचे आती है और अहंकार गायब हो जाता है और चैत्य की शक्ति से तुम अपनी निजी सच्ची सत्ता को जानते हो जो दिव्य जननी का अंश है। यही होना चाहिये पर यह इतने कम समय में नहीं हो सकता। हमेशा प्राणिक गतिविधि और अहंकार के बारे में ही न सोचते रहो—तुम उन्हें देख चुके हो और जानते हो कि वे क्या हैं, इतना काफी है।

योग में प्रगति

“... भगवान् की ओर मुड़नेवाले कुछ लोगों के प्रसंग में ऐसा घटित होता है कि प्रत्येक भौतिक अवलंब या उनकी प्यारी प्रत्येक वस्तु को उनके जीवन से दूर कर दिया जाता है। और, यदि वे किसी व्यक्ति से प्रेम करते हैं तो उसे भी उठा लिया जाता है।”

यहां हम एक बहुत बड़ी समस्या में प्रवेश करते हैं...। किसी व्यक्ति के लिये क्या अच्छा है और क्या नहीं, इस विषय का जो ज्ञान दिव्य चेतना को होता है ठीक वही उसकी विकसित चेतना को नहीं होता। जो कुछ तुम्हें अच्छा, अनुकूल प्रतीत होता है वह हमेशा वही वस्तु नहीं होता जो आध्यात्मिक दृष्टि से तुम्हारे लिये उत्तम हो। यही बात प्रारंभ से तुम्हें सीखनी चाहिये कि तुम्हें कौन-सी चीज लक्ष्य की ओर सबसे तेज गति से ले

जायेगी, इस बात का भागवत बोध तुम्हारे बोध से एकदम भिन्न होता है और तुम उसे समझ नहीं सकते। यही कारण है कि प्रारंभ से तुम्हें अपने-आपसे यह कहना चाहिये कि “यह बिल्कुल ठीक है। मैं सब कुछ स्वीकार करूंगा और बाद में ही उसे समझूंगा।”

अतएव बहुधा तुम ऐसे लोगों से मिलते हो जो योग आरंभ करने से पहले अपेक्षाकृत सुखी जीवन बिताते थे और जैसे ही वे योग करने आते हैं, वे सभी परिस्थितियां, जिनसे वे विशेष रूप से आसक्त थे, कम या अधिक कठोरतापूर्वक उनसे पृथक् हो जाती हैं। तब वे परेशान हो उठते हैं। संभवतः वे इतने सरल-निश्छल नहीं होते कि वे उसे स्वीकार कर लें, वे अन्य विचारों या अन्य शब्दों का आश्रय लेते हैं, पर उसका तात्पर्य यह होता है : “यह कैसी बात है ? मैं भला हूं और मेरे साथ भद्रतापूर्वक व्यवहार नहीं किया जाता !” यहां न्यायसंबंधी समस्त मानवीय भाव विद्यमान है। “तुम अच्छा बनने की चेष्टा करते हो और कितनी घोर विपत्ति आ टूटती है तुम्हारे ऊपर ! जिन सब चीजों से तुम प्यार करते थे वे सब तुमसे छीन ली जाती हैं, जितने भी सुख-आनंद तुम्हें प्राप्त थे उनसे तुम वंचित कर दिये जाते हो, जितने लोगों से तुम प्रेम करते थे सबने तुम्हें छोड़ दिया; निस्संदेह, अच्छा बनने और प्रयास करने का कष्ट उठाना किसी काम का नहीं।” और तुम यदि अपने तर्क को काफी दूरतक ले जाओ तो एकाएक तुम घुन को पकड़ लेते हो—अच्छा, तुम स्वार्थ के लिये योग करना चाहते थे, तुम स्वार्थवश अच्छा होना चाहते थे, तुमने सोचा था कि तुम्हारी स्थिति पहले से अच्छी हो जायेगी और तुम्हारी चतुराई के लिये तुम्हें लड़ू मिलेंगे ! और वैसा नहीं हो रहा है ! . . . हां, यह अस्वीकृति ही वह उत्तम शिक्षा है जो तुम्हें कभी भी दी जा सकती थी। कारण, जबतक तुम्हारा अभीप्सा में कोई कामना छिपी हुई है और जबतक तुम्हारे हृदय में भगवत् के साथ मोल-तोल करने का भाव विद्यमान है, ऐसी चीजें आयेंगी और तबतक तुम्हें आघात पहुंचाती रहेंगी जबतक तुम अपने अंदर स्थित सत्य-चैतन्य के प्रति जागृत नहीं हो जाते जो कोई शर्त नहीं रखता, कोई मोल-तोल नहीं करता। बस।

अप्रैल १९

जिस
पहलेसंभवतः तु
में बातें ऐसीयदि
होने
को
है ?प्रत्येक बा
आंतरिक स

साधक तुं

क्रमशः हु

पूर्णतः प्रत्ये

एक प्रकार

साधक को

सकता है

किसी को

उसके मुक

सत्ता में क

अतिक्रमण

दर्शन होत

दाग की त

परिणामों व

प्राप्त हो

आपको स

जिस समय से मैं योग करने लगा हूं, मैं देखता हूं कि मेरे सारे कार्य पहले से अधिक अच्छे होते जा रहे हैं। अतएव मैं समझता हूं...।

संभवतः तुम्हारी अभीप्सा सचमुच में सच्ची और निःस्वार्थ थी। ऐसी हालत में बातें ऐसी ही घटित होनी चाहियें।

यदि कोई व्यक्ति बुरा और दुष्ट रहा हो और वह एकाएक परिवर्तित होने का निर्णय करे तो क्या वह तुरत उस छोटी-सी आंतरिक वाणी को सुनता है जो कोई बुरा कार्य करने पर प्रत्येक बार चेतावनी देती है ?

प्रत्येक बात निर्भर करती है परिवर्तन के प्रकार पर, उस रूप पर जिसे आंतरिक रूपांतर ने ग्रहण किया है। यदि परिवर्तन एकाएक हुआ हो तो हां, साधक तुरंत क्षीण वाणी के विषय में सचेतन हो सकता है, पर यदि वह क्रमशः हुआ हो तो सर्वोत्तम परिणाम भी क्रमशः ही प्रकट होगा। यह बात पूर्णतः प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करती है, इसे बताया नहीं जा सकता। यदि एक प्रकार से पर्दा फट जाये और एक ज्योति उद्भासित हो तब तो हां, साधक को तुरत आंतरिक संकेत मिलता है। यह संकेत अनुदर्शी भी हो सकता है। अर्थात्, किन्हीं भूतकाल की क्रियाओं का चिंतन करते समय किसी को इस बात का स्पष्ट दर्शन मिल सकता है कि आज वह जो कुछ है उसके मुकाबले पहले वह क्या था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक बार जब कि सत्ता में कोई सच्चा परिवर्तन होता है, प्रत्येक बार जब मनुष्य किसी दोष का अतिक्रमण करता है, मनुष्य को उन वस्तुओं की समूची राशि का सुस्पष्ट दर्शन होता है जो बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती थीं और जो अब काले दाग की तरह पदों पर से गुजरती हैं; तुम उनके मूलस्रोत, उनके कारणों और परिणामों को देखते हो। यदि तुम्हें एकदम निश्चित, ठीक-ठीक स्मृति-शक्ति प्राप्त हो और तुमने एक लंबे समय तक, मान लो दस वर्षों तक, अपने-आपको रूपांतरित करने का, अधिकाधिक एकाग्र होने का सच्चा प्रयास

किया हो, और यदि तुम यह याद कर सको कि पहले तुम क्या थे तो तुम कहोगे, "यह संभव नहीं है, मैं ऐसा नहीं था !" फिर भी तुम निस्संदेह वैसे थे। मनुष्य जो कुछ पहले था, पहले जो कुछ उसे एकदम स्वाभाविक प्रतीत होता था उसमें और जो कुछ अब उसे स्वाभाविक प्रतीत होता है उसमें इतना अधिक अंतर होता है कि उसे यह विश्वास ही नहीं हो पाता कि वह वही व्यक्ति था। यह सबसे सुनिश्चित लक्षण है कि तुमने वास्तव में प्रगति की है।

—श्रीमातृवाणी खण्ड ४

समरूपता

आप कहती हैं कि "हमारी सत्ता में समरूपता" स्थापित करना जरूरी है ?

क्या तुम नहीं जानते कि समरूप चीज क्या होती है ? वह एक-से भागों से बनी होती है। इसका मतलब यह है कि सारी सत्ता को एक ही प्रभाव के अधीन, एक ही चेतना, एक ही प्रवृत्ति, एक ही संकल्प के अधीन होना चाहिये। हम सब प्रकार के अलग-अलग भागों से बने हैं। वे एक के बाद एक सक्रिय होने लगते हैं। जो भाग सक्रिय होता है उसके अनुसार आदमि अलग-अलग रूप में दीखता है, एक और ही व्यक्तित्व बन जाता है। उदाहरण के लिये, किसी में पहले अभीप्सा थी, यह लगता था कि मैं कुछ भगवान् के लिये ही है; फिर, कुछ होता है, कोई आता है, कुछ-कुछ करना होता है और सब कुछ गायब हो जाता है। तुम उस अनुभव को वापिस लाने की कोशिश करते हो लेकिन उसकी याद तक नहीं रहती। तुम पूरी तरह किसी और प्रभाव के अधीन होते और आश्चर्य करते हो कि मैं कैसे हो गया। दोहरे, तिहरे, चौहरे व्यक्तित्वों के उदाहरण हैं जो अपने-अपने में एकदम अचेतन हैं...। लेकिन मैं उनकी बात नहीं कर रही। मैं एक चीज की बात कर रही हूँ जो तुम सबके साथ हो चुकी है, तुम्हें अनुभव हो

चुका है और कुछ समय के लिये तुमने अनुभव किया है कि वह अनुभूति ही एकमात्र मूल्यवान् वस्तु थी—उसी का निरपेक्ष मूल्य है—आधे घंटे के बाद तुम उसे वापिस लाने की कोशिश करते हो, वह धुएं की तरह गायब हो जाती है। अनुभूति गायब हो गयी। और अभी आधा घंटा पहले ही वह इतनी प्रबल थी...। इसका कारण यह है कि आदमी बहुत तरह की अलग-अलग चीजों से बना है। शरीर एक ऐसे बोरे की न्याई है जिसमें कंकर और मोती मिले हुए हैं और बोरा ही उन सबको इकट्ठा रखता है। यह समरूप, एक-सी चेतना नहीं है, यह पंचमेल चेतना है।

तुम अपने जीवन के भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो सकते हो। मैं ऐसे लोगों को जानती थी जो निश्चय कर सकते थे, जिनमें संकल्प-बल था, जो जानते थे कि वे क्या चाहते थे और उसे करने के लिये तैयार थे। फिर उनकी सत्ता में जरा-सा उलट-फेर हुआ, कोई और भाग ऊपर आ गया और सारा काम दस मिनट में खराब हो गया। उन्होंने दो महीने में जो प्राप्त किया था वह सब नष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में जब पहला भाग वापिस आता है तो वह व्याकुल होकर कहता है : “क्या ! ...” तब फिर से सारा काम शुरू करना पड़ता है, धीरे-धीरे। अतः यह स्पष्ट है कि अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेत होना बहुत जरूरी है। तुम्हारे पास एक प्रकार का मार्ग-निदेशक या दर्पण होना चाहिये जिसमें सब चीजें प्रतिबिंबित हों और अपने-आपको उसी रूप में दिखायें जैसी वे सचमुच हैं। और तब वे जो कुछ हैं उसके अनुसार तुम उन्हें एक या दूसरे स्थान पर रखते हो। तुम उनकी व्याख्या शुरू करते हो और संगठित करते हो। इसमें समय लगता है। वही भाग तीन-चार बार ऊपर आता है और जो भी भाग ऊपर आता है वही कहता है : “मुझे पहले स्थान पर रखो, जो कुछ दूसरे करते हैं उसका महत्त्व नहीं है, बिल्कुल महत्त्व नहीं है, अब मैं ही निश्चय करूंगा, मैं ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हूँ।” मुझे विश्वास है कि यदि तुम अपनी ओर देखो तो तुम देखोगे कि तुममें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे यह अनुभव न हुआ हो। तुम सचेतन होना चाहते हो, सद्भावनावाले बनना चाहते हो, तुम समझ गये हो, तुम्हारी अभीप्सा चमक रही है—सब कुछ चमकदार,

आलोकमय है, पर अचानक कुछ होता है, कोई बेकार-सी बातचीत, कोई अशुभ वाचन, और उससे सारी चीज अस्त-व्यस्त हो जाती है। तब तुम सोचते हो कि तुम भ्रांति में रह रहे थे, कि सभी चीजें एक विशेष कोण में देखी गयी थीं।

यही जीवन है। आदमी पहले ही अवसर पर ठोकर खाता है और मि पड़ता है। आदमी अपने-आपसे कहता है : “ओफ ! मैं हमेशा इतना गंध नहीं रह सकता;” और जब वह दूसरा भाग लौटता है तो बुरी तरह पछताए हुए कहता है : “मैं मूर्ख हूँ, मैंने अपना समय नष्ट किया। अब मुझे फिर शुरू करना होगा . . . ।” कभी-कभी एक भाग बदमिजाज होता है, विद्रोह करता है, चिंता से भरा रहता है और दूसरा भाग प्रगतिशील और समर्पण भरपूर होता है। और यह सब एक के बाद एक।

बस, एक ही उपाय है। वह मार्ग-निदेशक हमेशा रहना चाहिये। तुम्हारे भावनाओं, तुम्हारे आवेगों और संवेदनों में हमेशा दर्पण ठीक स्थान पर लगा रहना चाहिये। तुम उन्हें दर्पण में देखते हो। उनमें से कुछ बहुत सुंदर देखने में मोहक नहीं होते, जब कि दूसरे सुंदर और मोहक होते हैं और उन्हें रखना चाहिये। जरूरत पड़े तो तुम इसे दिन में सौ बार करते हो, और बहुत मजेदार होता है। तुम अपने चैत्य दर्पण के चारों ओर एक घेरा खींच देते हो और अपने सभी तत्त्वों को उसके इर्द-गिर्द बिठा देते हो। अगर कोई चीज ठीक नहीं है तो वह दर्पण पर एक धुंधली-सी छाया डालती है। इस तत्त्व को हटाना होगा, व्यवस्थित करना होगा। उससे बातचीत करनी होगी उसे समझाना होगा। तुम्हें उस अंधेरे में से बाहर आना होगा। अगर तुम ऐसा करो तो कभी न उकताओगे। जब लोग भद्र न हों, जब तुम्हारे सिर में सर्दी हो, जब तुम्हें अपना पाठ याद न हो आदि-आदि, तो तुम इस दर्पण में देखना शुरू करते हो। यह बहुत मजेदार है, वहां तुम नासूर देखते हो “मैंने सोचा था कि मैं निष्कपट हूँ” — बिल्कुल नहीं।

जीवन में ऐसी कोई चीज नहीं होती जो मजेदार न हो। दर्पण बहुत, अच्छी तरह बना है। तुम यह दो, तीन, चार वर्ष तक करो, कभी-कभी बीस वर्ष तक करना पड़ता है। तब कुछ वर्षों के बाद पीछे देखो, तुम

अप्रैल १९९

वर्ष पहले उ
हूँ! . . . क्य
सकता था
... लेकिन
मजेदार है

२१ फरवरी
दिनों में से
कमरों के द
किया। शा
सुंदर चित्र
दो पंक्तियां
ज्वाला के
आलोकित

श्रीअरवि
में तीन ड
झांकी। २.
फूलों की
जिसमें अं
मलयालम
श्रद्धालु औ

अप्रैल १९११

वर्ष पहले जो थे उसकी ओर नजर घुमाओ : “ओह ! मैं कैसा बदल गया हूँ ! ... क्या मैं ऐसा था ? ...” यह बहुत मनोरंजक है । “मैं ऐसे बोल सकता था ? क्या मैं ऐसे बातचीत कर सकता था, ऐसे सोच सकता था ? ... लेकिन सचमुच मैं मूर्ख था । मैं कैसा बदल गया हूँ !” यह बहुत मजेदार है न, नहीं है ?

—श्रीमातृवाणी खण्ड ५ से

सोसायटी समाचार

२१ फरवरी, माताजी का जन्मदिन हमारे लिये वर्ष के सबसे अधिक शुभ दिनों में से एक होता है । इस दिन दर्शनार्थियों ने श्रीअरविंद और माताजी के कमरों के दर्शन किये और १० से १०.३० तक समाधि के चारों ओर ध्यान किया । शाम को मार्च पास्ट के बाद फिर से ध्यान हुआ । माताजी के एक सुन्दर चित्र के साथ एक कार्ड बांटा गया जिसपर श्रीअरविंद की सावित्री की दो पंक्तियां छपी थीं जिनमें कहा गया है “वह, प्रदीप्त सुख-शांति की ज्वाला के रूप में जन्मी और निश्चय ही वह ज्वाला समस्त पृथ्वी को आलोकित कर देगी ।”

श्रीअरविंद सोसायटी ने १९, २० और २२ फरवरी को आश्रम के संबंध में तीन डाक्यूमेंट्रीज के विडियो दिखलाये—१. श्रीअरविंद के जीवन की झांकी । २. श्रीअरविंद आश्रम । ३. शिक्षा में एक नया परीक्षण । उसके बाद फूलों की मूक भाषा—उनके प्रतीकात्मक अर्थ का विडियो भी दिखलाया जिसमें अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, कन्नड, तमिल और मलयालम में टिप्पणियां थीं । इसके बाद हिन्दी में श्री महेश्वरी, अंग्रेजी में श्रद्धालु और बंगला में जुगल किशोर की वक्तृताएं हुईं ।

फरवरी की १४ से २४ तक सोसायटी के बीच ऑफिस-हॉल स्वाध्याय शिविर लगा। जिसमें डा० महेश्वरी के तत्वावधान में श्रीअरविंद पुस्तक 'मां' का अध्ययन किया गया, इसमें तीस-पैंतीस व्यक्तियों ने भाग लिया।

२१ फरवरी को अनेक स्थानों पर माताजी का जन्मदिन उपयुक्त रीति में मनाया गया। उनकी सूचनाएं छापना स्थानाभाव के कारण संभव नहीं है।

डेहरी ऑन सोन में २४ से २६ दिसम्बर १० तक बिहार क्षेत्र सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन हुआ। डा० श्रीवास्तव ने देश और जाति की (आज की) मुख्य समस्याओं के बारे में बोलते हुए कहा कि इन सब समाधान माताजी और श्रीअरविंद के बताए हुए मानव चेतना के आपसी परिवर्तन में ही है। योग का अर्थ, आसन, भारतीय एकता की कल्पना आदि विषयों पर भाषण हुए। श्रीमती नन्दिता चटर्जी ने अपनी मधुर स्मृति सुनायीं और भजन सुनाये। इसमें बिहार के अलग-अलग स्थानों के लोगों का भाग लिया था। अगला वार्षिक अधिवेशन मोतीहारी में १९११ में होगा।

बंगलोर में डा० आनन्द रेड्डी ने 'नवीन जाति के आगमन' विषय पर भाषण दिये।

बंगलोर के श्रीअरविंद भवन की अतिथिशाला में अतिथियों के रहने की व्यवस्था की गयी है। एक व्यक्ति के लिये एक दिन का किराया ३० रु. होगा।

पुरुलिया में एक युवा शिविर का आयोजन हुआ जिसका मुख्य विषय था "श्रीअरविंद के प्रकाश में राष्ट्रीय एकीकरण और मानव एकता"। इसमें शारीरिक व्यायाम, भजन, प्रार्थना, श्रमदान आदि का भी आयोजन किया गया था।

मद्रास में श्रीअरविंद के प्रकाश में बच्चों को बड़ा करना—विषय पर सेमिनार हुआ, मदुरै में भी शिक्षा-संबंधी सेमिनार हुआ।

विचारमाला और सूत्रावली

आजकल के अनेक तार्किक पंडितों की तरह वितंडा द्वारा अपने विचार का गला न घोटो और न अपनी अन्वेषणवृत्ति को सिद्धांतों और बनावटी शब्दों के मोह-मंत्र द्वारा अभिभूत करके सुला दो। सर्वदा खोजते रहो। सभी चीजों के कारण को खोज निकालो जो जल्दबाजी के साथ दृष्टि दौड़ाने पर संयोग या केवल भ्रम प्रतीत होती हैं।

*

कोई व्यक्ति यह निर्धारित कर रहा था कि भगवान् को ऐसा या वैसा होना चाहिये, अन्यथा वह भगवान् हो ही नहीं सकते। परंतु मुझे ऐसा लगा कि मैं केवल यह जान सकता हूं कि भगवान् क्या हैं, मैं यह नहीं समझ पाता कि मैं उनसे यह कैसे कह सकता हूं कि उन्हें कैसा होना चाहिये। भला वह कौन-सा मानक है जिससे हम उनके विषय में निर्णय दे सकें? हमारे ये निर्णय हमारे अहंकार की मूर्खताएं ही हैं।

*

संयोग नाम की कोई वस्तु इस विश्व में नहीं है; माया का विचार अपने-आपमें एक माया है। मनुष्य के मन में कभी कोई ऐसा भ्रम नहीं हुआ जिसके पीछे कोई सत्य आवृत और विकृत रूप में विद्यमान न हो।

*

जब मेरे अंदर भेदबुद्धि थी तो मैं बहुत-सी चीजों से पीछे हटा करता था; जब वह भेदबुद्धि साक्षात् दर्शन के अंदर खो गयी तो मैंने सारे संसार में कुरूप और घृणित की खोज की, किंतु मैंने उन्हें कहीं भी न पाया।

—श्रीअरविंद

मानसिक तनाव व शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति के लिये
सारे परिवार की सुरक्षा का प्राकृतिक साधन

“योगी रसायन” (रजि०)

निर्माता

योगी फार्मेसी प्रा० लि०

लक्खर रोड, हरिद्वार—२४९४०४

(आयुर्वेदिक अनुसंधान एवं निर्माण में अग्रणीय)

हम
हैं जो श्र
प्रयत्नशील
शारीरिक
अध्यापन
साध
सकती हैं

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

झुन्झुनू (राजस्थान)-३३३ ००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवम् शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

दूसरों पर नियंत्रण रखने के लिये स्वयं अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण
पाना अनिवार्य बात है।

— श्रीमान



With Best Wishes from :

MRS. KOYAL DEORAH CHARITABLE TRUST

28, VARSHA, 69/B, NEPEANSEA ROAD

BOMBAY - 4000 006

236

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Handwritten signature and number: 255181

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई १९९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

विषय-सूची

सन्देश

श्रीमां

सम्पादकीय : सार्थक कदम

अनुवेन

दैनन्दिनी

अहंकार के बारे में (श्रीअरविन्द के कुछ पत्र)

अहं का बोलवाला

फूलों के बारे में

रथ की कहानी

एक तरुण साधक का पत्र-व्यवहार

सोसायटी समाचार

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुवेन

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२



उद्बुध्यस्वाम्रे प्रति जागृहि

संदेश

आधुनिक सभ्यता में मनुष्य सतह पर काम करते हैं। मन जीवन की सतह पर है और मनुष्य सतह पर कार्य करते हैं और अधिकाधिक गहराई में अध्ययन करके पीछे के सत्य को जानने की कोशिश करते हैं, जब कि सच्चा उपाय यह है कि तुम आंतरिक सत्य के साथ सीधा संपर्क स्थापित करो, उससे प्रेरित होकर, उससे मार्ग-दर्शन लेकर वह बाहरी रचना तैयार करो जो सत्य का प्रवेक्षण न होकर सत्य का सृजन है, यानी मानव उपकरण द्वारा सत्य-शक्ति अपने-आपको बाहरी रूप में चरितार्थ करती है।

मनुष्य हमेशा योजनाएं बनाते हैं, मानसिक रचनाएं बनाते हैं और उस आधार पर सृजन करने की कोशिश करते हैं। लेकिन एक भी मानव-रचना उनकी मानसिक रचना की पूर्ण चरितार्थता नहीं होती। वे हमेशा उसमें कुछ जोड़ देते हैं या वह किसी ऐसी शक्ति द्वारा, जिसे वे नहीं समझते, परिवर्तित हो जाती है। वे समझते हैं कि यह संयोग, नियति, परिस्थिति या सब तरह की चीजें हैं, लेकिन वस्तुतः सत्य-शक्ति पृथ्वी पर अवतरित होने की कोशिश कर रही है और दबाव डाल रही है और स्वभावतः यह मानसिक और प्राणिक रचनाओं को बदल देती है जो केवल सतही होती हैं। इस विषय में 'बुलेटिन' में श्रीअरविंद का एक उद्धरण छपा था जिसमें उन्होंने कहा था कि पहले तुम्हें जानना चाहिये और फिर क्रिया करनी चाहिये जब कि लोग पहले क्रिया करते हैं और फिर अपनी क्रिया द्वारा जानने की कोशिश करते हैं।

२८ अगस्त १९६६

—माताजी

संपादकीय

सार्थक कदम

खाड़ी-युद्ध समाप्त हुआ। कइयों ने कहा कि यह युद्ध प्रायः प्रयोजनहीन अस्वाभाविक था जैसे नौटंकियां हुआ करती हैं।

यह बात सच है कि हर व्यक्ति संसार की इस प्रायः आकस्मिक घटना अपने ही दृष्टिकोण से देखेगा। जैसा हम देखते आये हैं, प्रत्येक दृष्टिकोण में का एक छोटा-सा टुकड़ा होता है। अगर हम नकारात्मक दृष्टि से इसे देखें संयुक्त राष्ट्र की छत्र-छाया में बातचीत द्वारा कुवैत को ईराक के अधिकार मुक्त किया जा सकता था। किंतु अमरीका के पक्षपाती यह कहते हैं कि ईराक ने हर संदेश को ठुकरा दिया और हर प्रस्ताव को नामंजूर किया अमरीका के पास कोई और विकल्प ही न बचा था।

आशावादी और विपरीत दृष्टिकोणवाले कहते हैं, यह मानव चेतना की प्रकाश का एक संकेत है जो कुछ-कुछ पुरानी राजपूत रणनीति को अपनाता है। वह नैतिक शरणागत की रक्षा करना, उसको समर्थ पड़ोसी से बचाना, उनके विचारों पर यह निःस्वार्थ परोपकार-भावना थी जिसने अमरीका और उसके साथियों ईराक से युद्ध करने के लिये प्रेरित किया।

अमरीका और उसके साथियों के इस युद्ध में प्रवेश करने के कुछ भी कारण नहीं हैं, जो बात आंखों के सामने बिजली-सी चमकती है वह है युद्ध-विराम। यह पहली बार संसार के कई राष्ट्रों के दबाव के कारण यह युद्ध-विराम कम-से-कम समय में लाया जा सका।

माताजी और श्रीअरविंद की दृष्टि से इसका यह अर्थ हो सकता है कि मानव जाति ने एक विराट् कदम आगे बढ़ाया है और कई राष्ट्र जो इस प्रगति के प्रति थे उन्होंने अपनी नयी चेतना और उदारता में एक 'सुपर पावर' को अपनी आँखों से सुनने के लिये बाधित किया। इससे हम यह समझते हैं कि मानवजाति में आशा और श्रीअरविंद के आदर्श की ओर बढ़ रही है। यह युद्ध-विराम और अनावश्यक युद्ध उस प्रगति के, उनकी विजय के प्रतीक हैं और इसी घटनाओं की सार्थकता है।

दैनन्दिनी

१. व्यक्तिगत आत्मा और वैश्व आत्मा एक ही हैं : प्रत्येक जगत् में, प्रत्येक सत्ता में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक अणु में दिव्य उपस्थिति विद्यमान है। और मनुष्य का लक्ष्य है उसे अभिव्यक्त करना। यह करने के लिये उसे अपने अंदर विद्यमान इस दिव्य उपस्थिति के बारे में सचेतन होना चाहिये।
२. हम सबको एक भूमिका निभानी है, एक कार्य संपन्न करना है, एक स्थान लेना है, जिसे केवल हम ही ले सकते हैं।
किंतु चूंकि यह कार्य हमारी गहनतम सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है, उसका प्रकटन है, हम उसके सुनिश्चित रूप के बारे में तभी सचेतन हो सकते हैं जब हम अपनी आंतरिक गहराई के बारे में सचेतन हों।
३. हम जैसे-जैसे अधिक पूर्ण बनते जायेंगे हमारी अपने कार्य की कल्पना भी अधिक विकसित और अधिक पूर्ण होती जायेगी और इस बढ़ती हुई पूर्णता को चरितार्थ करने के लिये अपने-आपका अतिक्रमण करने के किसी प्रयास की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। उसके विपरीत हम जो भी कार्य करें उसे शुद्ध जल के स्रोत की तरह अधिकाधिक सुखद और सहज होना चाहिये।
४. अपनी आंतरिक सत्ता में और अपनी बाह्य प्रकृति में इस 'एक' को देखना, जानना, 'वह' बन जाना और 'उसे' संपन्न करना हमेशा हमारा गुप्त लक्ष्य रहा है और अब वह हमारी शरीरस्थ सत्ता का सचेतन संकल्प बन गया है।
५. अपनी सत्ता के सब भागों में उसके बारे में सचेतन होना और साथ ही उन सबमें भी सचेतन होना जिन्हें हमारा विभाजक मन हमारी सत्ता के बाहर देखता है, यही व्यक्तिनिष्ठ चेतना की परम गति है।
६. 'उन' के अधिकार में रहना और अपने अंदर और सब चीजों में 'उन्हें' अपने अधिकार में रखना इसे साम्राज्य और प्रभुत्व कहते हैं।

७. मेरी जीवित-जाग्रत् उपस्थिति का यह बोध हमेशा बनाये रखो सब अच्छा रहेगा।
८. मैं हमेशा ऊपर की ओर देखती हूँ। वहाँ सौंदर्य, शांति और प्रकाश हैं, वे नीचे उतरने के लिये तैयार हैं इसलिये उन्हें प्रकट करने के लिये हमेशा ऊपर की ओर देखो और अभीप्सा करो। जगत् की कुरूप वस्तुओं की ओर मत देखो। जब भी तुम दुःखों के साथ ऊपर देखो।
९. मेरे साथ अपने संबंधों में शिशुवत् सहज और सरल बने रहने का प्रयास करो—वह तुम्हें बहुत-सी मुसीबतों से बचा लेगा।
१०. प्रकाश की ओर दृढ़तापूर्वक मुड़ते रहना, यही है जिसकी सहायता अधिक मांग है। हम जितना मानते हैं उसकी अपेक्षा प्रकाश का अधिक हमारे नजदीक है और किसी भी समय उसका मुहूर्त आ पहुँचेगा।
११. तुम और किसी भी चीज पर शंका कर सकते हो, किंतु यह कि केवल भगवान् की ही कामना करता है वह भगवान् तक पहुँच जायेगा, यह एक निश्चिति है, दो और दो मिलकर चार होते हैं उससे भी अधिक विश्वसनीय बात है। हर साधक को यह श्रद्धा अपने हृदय की गहराई में बनाये रखनी चाहिये, यही उसे प्रत्येक ठोकर और आघात तथा अग्नि-परीक्षा में सहारा देगी।
१२. जो आत्मा पूर्ण रूप से अपने-आपको भगवान् के सुपुर्द करती है, उसे वे भी अपने-आपको पूरी तरह देते हैं। वही जो अपनी पूरी प्रकृति अर्पण करता है, आत्मा को प्राप्त करता है। जो सब कुछ दे पाता वही भगवान्—सर्व—का उपभोग करता है।
१३. हमारा यज्ञ ऐसा अर्पण नहीं होता जिसमें दूसरी ओर से कोई प्रत्युत्तर फलदायी स्वीकृति न होती हो। यह तो हमारे अंदर शरीरस्थ आत्मा और सचेतन प्रकृति के और शाश्वत परम के बीच आदान-प्रदान की क्रिया होती है।
१४. आत्मा जानती है कि वह किसी चीज की मांग न करते हुए

मई १९९१

खो

और प्र

रने के

दुःख

ने रहे

नकी स

प्रकाश

मुहूर्त

यह कि

तक पहुँ

ते हैं उ

अपने ह

ठोकर

रती है,

पूरी प्र

दे पाता

प्रत्युत

स्थ अ

प्रदान

ते हुए

भगवान् को निरर्थक समर्पण नहीं करती, उसे फिर भी दिव्य शक्ति और उपस्थिति की समृद्धि प्राप्त होती है।

१५. भगवान् हृदय को कामनाओं की शर-शैय्या पर रख देते हैं ताकि वह क्षुद्रता से संतुष्ट न हो पाये।

१६. सच्चाई हमेशा यह रही है कि मानव एक वैश्व सत्ता है जो वैश्व आनंद और आत्म-सिद्धि की खोज में है और राह के बाड़-बंधे उद्यानों में या किसी अपूर्ण बंधन या सीमा से जकड़े विश्राम-स्थल पर हमेशा के लिये आराम नहीं कर पाता।

१७. आत्मा और देवता सब चीजों से परे जाते हैं। अगर हम भी धर्मों पर आश्रित रहना छोड़ दें, इस स्वाधीन और सनातन आत्मा के आगे समर्पण कर दें और केवल उसी की ओर अपने-आपको पूरी तरह खुला रखने की सावधानी बरतते हुए अपने अंदर विद्यमान भगवान् के प्रकाश, शक्ति और आनंद पर विश्वास रखें और निडर होकर, शोकमुक्त होकर, केवल उन्हींके मार्ग-निर्देश को स्वीकार करें तो वह अधिक-से-अधिक सच्ची और महान् मुक्ति होगी। हमारी सत्ता और स्वभाव में वह परम और अनिवार्य पूर्णता लायेगी।

१८. तुम जैसा दोगे वैसा पाओगे। भगवान् समस्त हैं और जो समस्त पाना चाहता है उसे सर्वस्व देना पड़ेगा।

१९. धन की दोहरी क्रिया होती है—एकत्र करने और बाहर फेंकने की; जो इस तालमेल को रख पाता है उदाहरण के लिये बड़े उद्योगपति, जिसके पास बहुत धन रहता है, उसके लिये केवल संचय करना बाधादायक होता है।

२०. हमारे देश में जो लोग कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, वे अपनी बुद्धि और अहम् को इतना अधिक मूल्य देते हैं कि वे सामंजस्य के साथ एक साथ मिलकर कार्य करने में असफल रहते हैं।

२१. अगर तुम अशुभ को अपना समर्थन देना बंद कर दो तो वह निश्चित रूप से अधिकाधिक कमजोर होता जायेगा।

२२. मनमाना अपव्यय, भौतिक चीजों का इतने कम समय में खराब होना,

ढोली-ढाली अस्तव्यस्तता, प्राण के लोभ या तामसिक आलस्य कारण सुविधाओं और वस्तुओं का दुरुपयोग : ये सब समृद्धि के निहानिकर हैं और समृद्धि-शक्ति को दूर भगा देते हैं और निरुत्साह करते हैं।

२३. श्रीमां वस्तुओं का उपयोग केवल सावधानी से नहीं, बल्कि प्रेम और स्नेह के साथ करती हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में भौतिक चीजों का अर्थ जीवन होता है, अपनी चेतना होती है . . . यहां तक कि उनका अपना व्यक्तित्व होता है।
२४. अर्जुन और कृष्ण, एक मानव और एक भगवान्, वे दो किसी भी आश्रम में ध्यानमग्न मुनि की तरह नहीं खड़े हैं, बल्कि वे कोलाहलपूर्ण युद्ध क्षेत्र में वीर और सारथि के रूप में सनसनाते तीरों के बीच युद्ध के रथ में खड़े हैं। गीता के उपदेशक न केवल मानव में स्थित भगवान् हैं जो अपने-आपको ज्ञान के जगत् में अनावृत करते हैं, बल्कि मानव में स्थित वह भगवान् हैं जो हमारे क्रियाशील लोक का संचार करते हैं, जिनके द्वारा और जिनके लिये समस्त मानवजाति अस्तित्व रखती है और संघर्ष करती और श्रम करती है। उन्हीं की ओर सारा मानव जीवन यात्रा करता है और प्रगति करता है।
२५. भगवान् हमारे कार्यों और यज्ञ के गूढ़ स्वामी हैं और मानव जाति के सखा हैं।
२६. आत्मा के आंतरिक सामर्थ्य के साथ जीवन का सामना करो और परिस्थितियों के स्वामी बन जाओ।
२७. यह जानो कि भगवान् क्या चाहते हैं और तुम्हें प्रभुत्व प्राप्त होगा।
२८. अपनी केंद्रीय चेतना के बारे में अभिज्ञ होना और शक्तियों की क्रिया को जानना; यह आत्म-संयम की ओर पहला सुनिश्चित कदम है।
२९. किसी भी व्यक्ति के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण काम है अपने दिव्य केंद्र के चारों ओर अपने-आपको एकत्र करना, उस तरह वह सच्चा व्यक्ति बन जाता है, अपनी नियति और अपने-आपका स्वामी बन जाता है।
३०. अपने-आपको विचारों की अभ्यस्त गतिविधि से अलग कर दो—अपने

मन के
जिसका
जबतक
कठिन
अनास
तरह व

हृदय के
होओ और
परवाह न
जैसे बन प

मुझे ल
चढ़ाकर म
और जिन
सकता; जे

मई १९९१

मन के लिये उसे बाहरी गति बना दो, कोई ऐसी चीज समझ लो जिसका तुम सड़क पर होती घटना की तरह निरीक्षण करते हो। जबतक तुम ऐसा न कर पाओ तबतक अपने मन का स्वामी बनना कठिन है।

३१. अनासक्ति प्रभुत्व का आरंभ है, किंतु पूर्ण प्रभुत्व पाने के लिये किसी तरह की प्रतिक्रिया न होनी चाहिये।

अहंकार के बारे में

(श्रीअरविंद के कुछ पत्र)

(गतांक से आगे)

हृदय के उद्घाटन पर हमेशा एकाग्र होओ, आग्रह के साथ दत्तचित्त होओ और सतत रूप से अभीप्सा करो और अगर इसमें समय लगे तो परवाह न करो। अगर तुम ज्यादा गहराई में आह्वान न कर सको, तब भी जैसे बन पड़े पुकारो—तब अधिक गहरा आह्वान आ जायेगा।

*

मुझे लगता है कि तुम अब भी अहंकार और ऐसे तत्त्वों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर महत्त्व और उनपर ध्यान देते हो जो मानव प्रकृति में गुंथे हुए हैं और जिनसे एक नयी चेतना के आगमन के बिना पिड नहीं छुड़ाया जा सकता; जो उनके स्थान पर उच्चतर गतिविधियों को लाती है। अगर तुम

केंद्र से ही पूरी सचाई के साथ अहंकार और रजस् को अस्वीकार कर दो। उनकी जड़ें ढीली पड़ जाती हैं और उनके स्वभाव में सत्त्व प्रधान हो सकता है, लेकिन समस्त अहंकार और रजस् का बहिष्कार केवल इच्छा-शक्ति और उसके प्रयास द्वारा नहीं हो सकता। अतः तैयारी की अमुक अवस्था के जहाँ तुम्हें त्याग के नकारात्मक पक्ष की जगह साधना के रचनात्मक पक्ष पर अधिक जोर देना चाहिये, यद्यपि नकारात्मक पक्ष को भी दूसरे की सहायता करने के लिये बना रहना चाहिये। फिर भी जो चीज जरूरी है वह है और चैत्य को विकसित करना और ऊपर से उच्चतर चेतना को नीचे उतार लाना जैसे-जैसे चैत्य बढ़ता और अभिव्यक्त होता है वह तुरंत सभी गलत गतिविधियों या तत्त्वों को पकड़ता जाता है और साथ ही साथ अपने-अपने सच्चे तत्त्व और गतिविधि को लाता है जो उनका स्थान ले लेती हैं—यह प्रक्रिया शुद्धि की कठोर तपस्या की पद्धति की अपेक्षा ज्यादा सरल और प्रभावकारी है। नीचे उतरते समय उच्चतर चेतना सभी भीतरी भागों में शांति और शुद्धि लाती है; आंतरिक सत्ता अपने-आपको अपूर्ण बाहरी चेतना से अलग करती है और साथ ही जो शांति आती है वह अपने साथ ऐसी शक्ति लिये रहती है जो उन चीजों को निकाल बाहर करती है जो शांति और शुद्धि का प्रतिकार करती हैं। अहंकार धीरे-धीरे हो या तेजी से किंतु निश्चित रूप से लुप्त हो जाता है—रजस् और तमस् अपने दिव्य स्थानापन्नों में बदल जाते हैं।

शक्ति की क्रिया द्वारा अहंकार से पिंड छुड़ाना संभव है—यदि तुम्हारा चेतना क्रिया के साथ एक हो जाये तब तुम कम-से-कम अहंकार की प्रधान क्रिया से तो पिंड छुड़ा ही सकते हो और तब वह केवल छोटे-मोटे निशान ही छोड़ता है। सामान्यतः अहंकार से पूरी तरह मुक्ति तो ऊपर से चेतना के अवतरण और उसके द्वारा सारी सत्ता पर अधिकार कर लेने और वास्तविक प्रकृति पर चैत्य के अधिकार से ही पायी जा सकती है।

*

रही बात अहंकार की, वह चाहे जितना आग्रही क्यों न हो, तुम्हें अपने

आंख उसपर
चाहिये ताकि
साथ इस त
जाता है जब
से, जहाँ-जहाँ
दृढ़ता के स

अहं का
यह अपने-
नहीं कर स
इससे पिंड
समर्पण के
है, उसमें
प्रतिक्रियाओं
यह बड़ी
जाये।

सतत
ऊपर उठने
बना रहता
अस्वीकृति

अहंका

मई १९९१

आंख उसपर लगाये रखनी चाहिये और उसके सभी सुझावों से इंकार करना चाहिये ताकि वह जो भी स्थिति अपनाये वह निष्फल चाल सिद्ध हो। उसके साथ इस तरह व्यवहार किया जाये तो वह उस क्षण के लिये तैयार हो जाता है जब चैत्य का जरा-सा धक्का उसे उसकी क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में से, जहां-जहां उसकी जड़ें ढीली हों, गिरा देता है। वर्तमान गतिविधि में दृढ़ता के साथ लगे रहो, वह प्रभावकारी हुए बिना नहीं रह सकती।

*

अहं का भाव आत्मा या पुरुष के भाव में विलीन हो सकता है लेकिन यह अपने-आपमें प्रकृति में से अहंकार की पुरानी प्रतिक्रियाओं को गायब नहीं कर सकता। पुरुष को सतत अस्वीकृति और पुनर्गठन की क्रिया द्वारा इससे पिंड छुड़ाना होता है। पुनर्निर्माण में हर चीज को माताजी के प्रति समर्पण के रूप में न्यौछावर करना और सब कुछ उनके लिये करना होता है, उसमें अपनी और अपनी कामनाओं, अपने मतों और प्राणिक प्रतिक्रियाओं की ओर इस तरह न देखा जाये मानों इन्हें चरितार्थ करना है। यह बड़ी आसानी से हो सकता है यदि चैत्य सत्ता पूरी तरह जाग्रत् हो जाये।

*

सतत त्याग के बिना अहंकार से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। आत्मा में ऊपर उठने से उच्चतर भाग मुक्त होते हैं लेकिन अहंकार निचले भागों में बना रहता है। मुक्ति के लिये सबसे अधिक प्रभावकारी शक्ति है स्थायी अस्वीकृति के साथ चैत्य नियंत्रण।

*

अहंकार की गतिविधियों से एकदम पिंड छुड़ाना संभव नहीं है। सतत

चेतना और त्याग द्वारा उन्हें प्रकृति में से बाहर निकालना होगा। जब केंद्र अहं चला भी जाये तब भी अभ्यासगत गतियां लम्बे समय तक टिकी रहें हैं।

*

चैत्य की मुक्ति और सच्ची आत्मा की उपलब्धि के बिना अहंकार न जा सकता। ये दोनों जरूरी हैं। यदि आत्मा की चेतना न हो तो अहंकार कैसे लुप्त हो सकता है? प्रेम और भक्ति द्वारा चैत्य मुक्त हो सकता है लेकिन मैं ऐसे व्यक्ति के बारे में कह रहा था जिसमें ऐसी मुक्ति नहीं हुई और आत्मा की उपलब्धि ज्यादा आसान मालूम होती है।

*

हां। अगर तुम अंदर गये होते तो चैत्य का विकास ज्यादा आसान होता और अहंकार पर विजय और चेतना का विस्तार भी अधिक आसान होता।

*

अहंकार से मुक्ति के लिये उच्चतर चेतना की जगह चेतना का विस्तार अधिक जरूरी है—निश्चय ही ऊपर जाना जरूरी है परंतु अपने-आपमें यह काफी नहीं है।

*

अगर अहंकार चला गया है और पूर्ण समर्पण आ गया है तो कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। यदि प्राण का रजस् केवल निष्क्रिय हो गया है तो उसकी निष्क्रियता अपने स्थान पर तमस् को ले आयेगी और यह एक बाधा होगी।

*

अग्रिम १९९१
एक बार
अहंकार के फल
होती हैं। वे
कर सकती हैं
उन्हें अपने

केवल प्र
जो अहंकार

अहंकार
कर लेना च
मानता है।

निश्चय
विरोध कर
लिये एक
जायेंगे कि
निराशा अ

ये ची
मुझा जा
है और

मई १९९१

एक बार विश्वजनीनता स्थापित हो जाये तो फिर प्रकृति में प्राणिक अहंकार के लिये कोई सुरक्षित दुर्ग नहीं रह जाता—उसकी दीवारें टूट चुकी होती हैं। वे (अहंकारमय प्राणिक गतिविधियाँ) फिर भी बाहर से आक्रमण कर सकती हैं, लेकिन अब यह साधक की शक्ति पर निर्भर होता है कि उन्हें अपने अंदर एक निश्चित उपनिवेश बनाने से रोके।

*

केवल प्राण में निश्चलता पर्याप्त नहीं होती। कोई ऐसी चीज होनी चाहिये जो अहंकार को प्राण में से निकाल फेंके।

*

अहंकार उठता है क्योंकि यह उसका स्वभाव है। वह सत्ता पर अधिकार कर लेना चाहता है जिसे वह अपनी सम्पत्ति और अपने परीक्षणों का क्षेत्र मानता है।

*

निश्चय ही वे (अहंकार और प्राणमय सत्ता) हमेशा ऐसे दबाव का विरोध करते हैं जो उनसे पिंड छुड़ाना चाहता है—और अगर तुम उसके लिये एक समय निश्चित कर दो तो वे इस आशा में और अधिक दुराग्रही हो जायेंगे कि निश्चित समय पर काम पूरा न हो सकने के कारण वे तुम्हारे अंदर निराशा और हताशा पैदा कर देंगे।

*

ये चीजें—निम्न प्राण में छोटे-मोटे अहंकार—सतत त्याग द्वारा धीरे-धीरे मुरझा जाती हैं या जब उच्चतर चेतना स्थायी तौर पर निम्न प्राण में उतरती है और मानों उसे हड़प लेती है तो वे झड़ जाती हैं। शायद अचानक

उन्मूलन भी संभव है—कम-से-कम ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं—सामान्यतः वे देर लगाती, धीरे-धीरे जाती और धीरे-धीरे अपनी शक्ति खोते हैं मानों घिस गयी हों।

*

तुम्हारा अहंकार समय-समय पर ऊपर उठता है और तुम देख भी नहीं पाते कि यह अहंकार है। यह तुम्हारे उच्चतर भागों में नहीं बल्कि भीतर मन और चेतना में आता है और तुम सोचते हो कि चूंकि तुम्हारे उच्चतर भाग शुद्ध हैं इसलिये यह भी शुद्ध होना चाहिये।

*

निश्चय ही, ऐसे सुझाव अहंकार को जगाने के लिये होते हैं। मेरे ख्याल से वे इसलिये बने रहते हैं क्योंकि उन्हें आशा रहती है कि वे अहं को जग सकेंगे। जब तुम बिलकुल मुक्त हो तब भी सब प्रकार के सुझाव आ सकते हैं। तुम या तो उनकी परवाह नहीं करते या यह देखने के लिये एक नजर डालते हो कि अहंकार का कोई अंश कहीं छिपा तो नहीं है।

*

ये तामसिक अहंकार के भाव हैं—यह राजसिक अहंकार की निराशा की प्रतिक्रिया है। सच्ची मनोवृत्ति और अनुभूति के साथ-साथ चल रही थी वह उससे मिली हुई थी प्राण की यह मांग, “अभी मैं जो कुछ पा रहा हूँ वह मुझे हमेशा मिलता रहना चाहिये, उसके बिना मैं साधना नहीं कर सकता; अगर यह खो बैठूँ तो मर जाऊंगा।” जब कि सच्ची मनोवृत्ति है, “अगर मैं कुछ समय के लिये इसे खो बैठूँ तो उसका कारण यह होगा कि कोई चीज मेरे अंदर है जिसे बदलना चाहिये ताकि माताजी की चेतना मेरे अंदर, केवल आत्मा में नहीं, बल्कि हर भाग में भर जाये।” निम्नतर शक्तियों के किस्से

अग्रिम

मई १९९१

दुर्बल बिन्दु
तामसिक अ
थे उसके ब
तरह अहंका
मरना ज्यादा
बात नहीं क
है। इतना व
क्योंकि यह
हो सकती;
चाहिये।

तामसिक
काम करने
आलस्य, वे
इतना कम
कुव्यवहत
चीज के फ
कैसे कर
नहीं है, श
पड़ा कार
व्यक्ति में

तामस
तामस् के

मई १९९१

दुर्बल बिन्दु पर आक्रमण किया गया तो उन्होंने प्राण के द्वारा मांगें रखीं और तामसिक अवस्था ले आयीं जिसके कारण तुम जिस चीज से चिपके हुए थे उसके बारे में लगा कि वह खो गयी या पर्दे के पीछे हो गयी है। इस तरह अहंकार की तामसिक प्रतिक्रिया आयी, “जीने का क्या लाभ? मैं मरना ज्यादा पसंद करता हूँ।” यह तो स्पष्ट है कि तुम्हारी समस्त सत्ता यह बात नहीं कहती। यह कहनेवाला निराश प्राण या तामसिक भौतिक का भाग है। इतना काफी नहीं है कि सक्रिय मांगों को तोड़ा और दूर कर दिया जाये; क्योंकि यह भी मांग की एक निष्क्रिय विधि है, “मेरी अपनी मांगें पूरी नहीं हो सकतीं; ठीक है, मैं छोड़ता हूँ, मैं नहीं रहना चाहता।” यह चीज जानी चाहिये।

*

तामसिक अहंकार वह है जो अवसाद, दुर्बलता, जड़ता, आत्म-निन्दा, काम करने के लिये अनिच्छा, जानने या खुलने के लिये अनिच्छा, थकान, आलस्य, बेकारी को सहारा देता है। राजसिक के विपरीत वह कहता है, “मैं इतना कमजोर हूँ, इतना निरानन्द, इतना अभागा, इतना उत्पीड़ित, इतना कुव्यवहृत हूँ—मेरे लिये कोई आशा नहीं है, कोई सफलता नहीं है, मुझे हर चीज के लिये मना कर दिया जाता है, मुझे कोई सहारा नहीं मिलता, मैं यह कैसे कर सकता हूँ। वह कैसे कर सकता हूँ, मेरे अंदर उसके लिये सामर्थ्य नहीं है, क्षमता नहीं है, मैं असहाय हूँ, मुझे मर जाने दो। मैं चुपचाप पड़ा-पड़ा कराहता रहूँ,” आदि आदि। हां ये सब बातें एक ही साथ या एक ही व्यक्ति में नहीं होतीं। मैं इस चीज का सामान्य रूप दे रहा हूँ।

*

तमस् और तामसिक अहंकार एक-दूसरे के अंदर निहित हैं। जब तुम तमस् के आगे झुकते हो तो तामसिक अहंकार में रस लेते हो।

*

जब तक तुम्हारे अंदर पूरी तरह समर्पण की वृत्ति रहे राजसिक अहंकार केवल सुझावों का रूप ले सकता है जो बाहर से आते या अवचेतना से ऊपर उठते हैं। वह प्राण में दबा हुआ था। जब जड़ता उभरी और इच्छा शक्ति पीछे हट गयी तो उसने फिर से वापस आने की कोशिश करनी शुरू कर दी।

*

क्या तुम यह कहना चाहते हो कि तुम्हारे अंदर कभी राजसिक तत्त्व ही नहीं? ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है, जबतक उसका प्राण पूरी तरह दिव्यभावापन्न न हो जाये, तबतक उसमें राजसिक तत्त्व न हो। तुम्हारे अंदर जो प्राणिक सुझाव बराबर आते रहते थे वे राजसिक अहं से अनुरोध नहीं थे क्या थे? जब तुमने काम-वासना, ईर्ष्या, गर्व आदि को निकाल फेंका तो तुम राजसिक अहंकार के सिवा किस चीज को फेंक रहे थे? प्रणाम के समय तुमने जो मांग की या उस समय जो विक्षोभ हुआ वह राजसिक अहंकार के सिवा क्या था? इनमें से कुछ चीजों को तुम सफलता से निकाल सके, कुछ अभीतक प्रतिक्रिया बनाये हुए हैं।

*

सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति को अहंकार के दावे से मुक्त होना चाहिये। लेकिन अहंकार यह कर सकता है कि अनुभूति प्राप्त करने पर गर्व करे और सोचे, "मैं कितना महान् हूँ?" या वह सोच सकता है, "मैं आत्मा हूँ भगवान् हूँ, तो चलो मैं जो मरजी हो कर सकता हूँ क्योंकि मेरे अंदर भगवान् ही तो इच्छा करते हैं। केवल तभी जब आत्मा की अनुभूति अन्य भागों पर नीरव निश्चलता आरोपित कर दे और चैत्य को मुक्त करे तो अहंकार लुप्त हो सकता है। स्वयं अहंकार न सही, उसके बहुत-से टुकड़े और अहंकार के अभ्यास भी बने रह सकते हैं और उन्हें निकालना होता है।

*

मई १९९१

यह स्वप्न प्राण-स्तर पर माताजी से मिलन था। इन स्वप्नों में बहुत-से व्यौर प्रतीकात्मक होते हैं, लेकिन हमेशा यह कहना आसान नहीं होता कि कोई प्रतीक-विशेष क्या अर्थ रखता है, जैसे यहां हाथ की स्थिति है। लेकिन स्वप्न का पिछला हिस्सा काफी स्पष्ट है। वहां मनुष्य मानव प्रकृति में उस अहं-वृत्ति का प्रतीक है जो जब कोई सिद्धि आती है तो मनुष्य के अंदर यह विचार जगाती है, “यह कितनी बड़ी सिद्धि है और मैं कितना बड़ा साधक हूं।” वह औरों को बुलाता है ताकि वे उसे देखें और उसकी सरहना करें—शायद वह सोचता है, स्वप्न के मनुष्य की तरह, “मैंने भगवान् को देख लिया है, वस्तुतः मुझे लगता है कि मैं भगवान् के साथ एक हूं, मैं यह देखने के लिये सब लोगों को बुलाऊंगा।” यह ऐसी वृत्ति है जिसने बहुतों की साधना को नुकसान पहुंचाया है और कई बार साधना को एकदम नष्ट कर दिया है। विचारों में तुम यह वर्णन करते हो कि तुम कोई ऐसी चीज अपने अंदर देखने आये जो कम या अधिक मात्रा में सभी मनुष्यों में होती है, यह कामना कि और लोग तुम्हारे बारे में अच्छी बातें सोचें, तुम्हें उनसे आदर या स्नेह मिले, आदर-सत्कार, पदवी, प्रशंसा मिले। जब कोई इस भाव को साधना के साथ जोड़ देता है तो शुद्ध और सरल रूप से भगवान् के लिये नहीं, इन चीजों के लिये साधना करने की प्रवृत्ति होती है, तब विक्षोभ आता है या स्वयं साधना में बाधा पड़ती है। अगर इसके बावजूद आध्यात्मिक अनुभूति आये तो अनुभूति के दुरुपयोग का डर रहता है जो उसके अहंकार को बढ़ाता है, जैसा स्वप्न के मनुष्य के साथ हुआ। ये सब स्वप्न तुम्हें स्पष्ट और ठोस ज्ञान देने के लिये आये हैं कि ये मानव वृत्तियां क्या हैं ताकि उन्हें निकाल फेंकना तुम्हारे लिये ज्यादा आसान हो जाये, जब वे जाग्रत् अवस्था में आयें तो तुम उन्हें पहचान सको और उनका प्रवेश निषिद्ध कर दो। ये चीजें केवल तुम्हारे अंदर ही नहीं, समस्त मानव प्रकृति में हैं, ये ऐसी चीजें हैं जिनसे तुम्हें पिंड छुड़ाना चाहिये या उनसे सावधान रहना चाहिये ताकि भगवान् के प्रति तुम्हारा समर्पण पूर्ण, निस्स्वार्थ, सत्य और शुद्ध हो।

*

स्वाभाविक रूप से प्रबल अनुभूतियों के साथ उल्लास का भाव आता है या उसके साथ आश्चर्य या चमत्कार का भाव भी आ सकता है, लेकिन इस उल्लास में अहंकारमय भावना नहीं होनी चाहिये।

*

तुम्हारे अपने अंदर जो अहंकार है, जिसके बारे में तुम कह रहे हो, वह एक आदमी के दूसरे आदमी के साथ संबंध में होता है और यह प्रायः सभी स्त्री, पुरुषों में पाया जाता है। इससे पिंड छुड़ाना बहुत कठिन है, लेकिन अगर तुम उसे स्पष्ट रूप से देखो और उसे न रखने का निश्चय कर लो तो पहले उसे नियंत्रण में लाना होगा और फिर उसे प्रकृति से बाहर किया जा सकता है। लेकिन वह अहंकार जिसके कारण लोगों को यहां से जाना पड़ा—अपनी साधना पर गर्व और अपनी अनुभूतियों पर तथाकथित महानता के कारण—वह और ही तरह का है और वह आध्यात्मिक दृष्टि से कहीं अधिक संकटपूर्ण है। तुम्हारे अंदर वह नहीं है और मेरा ख्याल है कि तुम्हारे अंदर उसके आने का भय भी नहीं है।

*

माताजी के साथ होने और उनसे बातचीत करने की अनुभूति उन्हें पर लिखते समय आसानी से हो सकती है और वह सच्ची होती है क्योंकि जब तुम उन्हें अपनी अनुभूतियां लिखते हो तो तुम्हारी सत्ता का कोई भाग सचमुच उनसे मिलता और उनकी ओर खुलता है।

*

हां, अगर ठोस अनुभूति हो तो अहंकार की आदत बहुत कम हो जाती है, लेकिन पूरी तरह से नहीं जाती। वह यंत्र होने के भाव में शरण लेती है

मई १९९१

और—अगर
बनना पसंद
अवस्थाओं
वह अपने—

आध्यात्मिक
भी बढ़कर
है, तो किस
बात आव
अधिक भ
आवधि
प्राण की
चेतना औ
सबको अ
अपेक्षा ह
महानता
आपको पु
अहंकार
चाहिये।

हां,
तो नहीं
होता है
में उठ

मई १९९१

और—अगर चैत्य मोड़ न हो—वह आसानी से किसी ऐसी शक्ति का यंत्र बनना पसंद कर सकती है जो अहंकार की तुष्टि को पुष्ट करता है। ऐसी अवस्थाओं में अहंकार अपने-आपको मजबूत अनुभव कर सकता है यद्यपि वह अपने-आपको मुख्य कर्ता नहीं, यंत्र ही मानता है।

*

आध्यात्मिक प्रगति में यंत्र का अहं कर्ता के अहं जैसा ही, बल्कि उससे भी बढ़कर भयानक हो सकता है। अहं-भाव आध्यात्मिक सिद्धि के विपरीत है, तो किसी प्रकार के अहंकार को कैसे प्रोत्साहन दिया जा सकता है? रही बात आवर्धित अहंकार की, यह मुक्ति और पूर्णता के मार्ग में सबसे अधिक भयंकर बाधा है। कोई बड़ा अहं नहीं होना चाहिये, छोटा भी नहीं।

आवर्धित अहंकार का मतलब है, वह अहं जिसमें सामान्य मन और प्राण की सीमाएं टूट जाती हैं, तुम बहुत अधिक विस्तृत और शक्तिशाली चेतना और असीम क्षमताओं का अनुभव करते हो, लेकिन अगर इन सबको अपने अहंकार की दुम से बांध दो तो तुम साधारण मनुष्य की अपेक्षा हजारगुने अहंकारी बन जाते हो। भगवान् की महानता तुम्हारी अपनी महानता के लिये बहाना या सहारा बन जाती है और महान् अहं अपने-आपको फुला कर केवल पृथ्वी को ही नहीं, आकाश को भी भर देता है। अहंकार के बढ़ने को बहुत सावधानी से देखना और उसपर नजर रखनी चाहिये।

*

हां, ये यंत्र के अहंकार वे छोटे-मोटे चिह्न या रूप हैं—ये बहुत गंभीर तो नहीं परंतु प्रायः चिपचिपे जरूर होते हैं। एक और बड़ी जाति का अहं होता है जो इतना व्यापक तो नहीं है परंतु एक प्रकार के महत्त्वोन्माद के रूप में उठ सकता है, “मैं, मैं ही यंत्र हूं—मैं कितना महान् यंत्र हूं—मेरे द्वारा

सब कुछ हो सकेगा" —तीन चार व्यक्ति हैं जिनमें यह बड़े कष्टदायक रूप में, प्रकट या गुप्त रूप से, हो चुका है। इसका अंत प्रायः इसी रूप में होता है कि वे महान् कार्य करने के लिये यहां से बाहर चले जाते हैं—महान् कार्य जो किसी-न-किसी कारण हो नहीं पाते।

*

निर्वैयक्तित्व अपने-आपमें भगवान् नहीं है। जो लोग निर्वैयक्तिक चेतन में रहने का दावा करते हैं वे ये सब भूलें कर सकते हैं और करते हैं। वह शक्ति वैश्व हो सकती है पर साथ ही गलत शक्ति भी हो सकती है। बहुत से लोग सोचते हैं कि वे निर्वैयक्तिक हैं अतः अहंकार से मुक्त हैं क्योंकि वे किसी ऐसी शक्ति या किसी ऐसी वस्तु की आज्ञा का पालन कर रहे हैं जो उनके व्यक्तित्व से महान् है—लेकिन हो सकता है कि बहुत बार वह शक्ति या वह कुछ भगवान् से इतर कोई और ही चीज हो और उन्हें उनके व्यक्तित्व और अहंकार के अंदर किसी चीज से पकड़े हो।

*

स्वभाव या प्रकृति कार्य करते हैं। भगवान् किसी को कुछ करने के लिये बाधित नहीं करते। भागवत उपस्थिति और सहायता के बिना कुछ भी नहीं कर सकता; स्वभाव या प्रकृति दिव्य शक्ति है और यही चीजों को कार्यान्वित करती है, लेकिन वह हर व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार, हर व्यक्ति की उस इच्छा-शक्ति के अनुसार या उसके द्वारा कार्य करती है जो अज्ञान से भरी होती है—और यह तबतक चलता रहता है जबतक मनुष्य भगवान् की ओर न मुड़े और उनके बारे में सचेतन होकर उनके साथ एक न हो जायें। उसके बाद ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति के अंदर सब कुछ भगवान् की प्रत्यक्ष इच्छा के द्वारा होना शुरू होता है।

*

मानव चेतना में महत्वाकांक्षा और गर्व बहुत स्वाभाविक हैं—सामान्य जीवन में उनका उपयोग भी है—इसलिये यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि शुरू में वे साधना में भी प्रवेश करें और त्यागे जाने पर भी मंडराते रहें। लेकिन उन्हें मार्ग पर आगे बढ़ने से पहले धकेल देना जरूरी है—अन्यथा वे बहुत खतरनाक साथी होते हैं और अभीप्सा तथा सिद्धि दोनों को दूषित कर देते हैं।

*

महत्वाकांक्षा हमेशा प्राण की शक्ति होती है।

*

महत्वाकांक्षा आदि के सुझाव प्राणिक मन में पैदा होते हैं जिसे प्राण का मन भी कह सकते हैं। वहां से वे विचारशील मन की ओर उभरते हैं और उसकी स्वीकृति और मानसिक इच्छा की स्वीकृति की मांग करते हैं। जब इस उभार के कारण विचारशील मन धुंधला पड़ जाता है तो वह उसकी रौ में बह जाता है और अपनी स्वीकृति दे देता है। विचारशील मन (तर्क बुद्धि) को हमेशा अविचलित और ऊंचा रहना चाहिये और प्राण की पकड़ में आये बिना या उसके प्रकाश में बहे बिना यह निर्णय करना चाहिये कि क्या ठीक है।

*

भीतर आध्यात्मिक नम्रता जरूरी है लेकिन मुझे नहीं लगता कि बाहरी नम्रता बहुत वांछनीय है (निश्चित रूप से घमंड या गर्व या दर्प का अभाव औरों के साथ बाहरी व्यवहार में जरूरी है) —वह प्रायः घमंड पैदा करती है और औपचारिक तथा कुछ समय के बाद निष्प्रभाव बन जाती है। मैंने लोगों

को अपने घमंड से पिंड छुड़ाने के लिये ऐसा करते देखा है परंतु मैंने स्थायी परिणाम लाते हुए नहीं देखा।

*

आगे बढ़े हुए साधकों की बात एक ऐसी चीज है जिसे मैंने हमेशा नापसंद किया है। लेकिन लोग यह करते रहते हैं क्योंकि यह उनके प्राणिक अहंकार को पसंद है।

*

अधिकतर मनुष्य पशुओं की तरह प्रकृति की शक्तियों के द्वारा चलाये जाते हैं। जो भी कामनाएं आयें वे उन्हें पूरा करते हैं, जो भी भाव आयें वे उन्हें खुल खेलने देते हैं, जो भी भौतिक आवश्यकताएं हों वे उन्हें पूरा करने की कोशिश करते हैं। इसलिये हम कहते हैं कि मनुष्यों के क्रिया-कलाप और उनके भाव उनकी प्रकृति के आधीन रहते हैं और अधिकतर प्राणिक और भौतिक प्रकृति के। शरीर प्रकृतिका यंत्र होता है—वह अपनी प्रकृति की आज्ञा का पालन करता है या कामना, आवेश आदि की प्राणिक शक्तियों का हुकुम मानता है।

लेकिन मनुष्य के अंदर मन भी होता है और जैसे-जैसे उसका विकास होता है वह अपनी बुद्धि और इच्छा-शक्ति के द्वारा प्राणिक और भौतिक प्रकृति पर नियंत्रण करना सीखता है, यह अधिकार बहुत आंशिक होता है, क्योंकि बहुधा तर्क बुद्धि भौतिक के अज्ञान या प्राणिक कामनाओं द्वारा बहकायी जाती है और वह अपने-आपको उनके पक्ष में रख देती है और अपने विचारों, तर्कों के द्वारा उनकी भूलों और गलतियों को न्याय-संगत सिद्ध करने की कोशिश करती है। अगर तर्क-बुद्धि स्वतंत्र रहे और अपने प्राण तथा शरीर से कहे, “यह न करो” तो भी प्राण और शरीर इस निषेध के बावजूद बहुधा अपनी ही हांकते रहते हैं—मनुष्य की मानसिक इच्छा-शक्ति इतनी मजबूत नहीं होती कि उनपर नियंत्रण कर सके।

मई १९९१

जब लोग साधना करते हैं तो उनके अंदर एक उच्चतर शक्ति काम करती है—चैत्य और आध्यात्मिक—और उन्हें अपनी प्रकृति को चैत्य सत्ता और उच्चतर आध्यात्मिक आत्मा या भगवान् के प्रभाव में रखना होता है। केवल प्राण और शरीर ही नहीं बल्कि मन को भी दिव्य सत्य सीखना और दिव्य विधान की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। लेकिन निचली प्रकृति के कारण और उसकी लगातार उनपर पकड़ के कारण, शुरू में और एक लंबे समय तक वे अपनी प्रकृति को पुरानी लीक पर चलते रहने से रोकने में असमर्थ होते हैं, चाहे वे जानते भी क्यों न हों, भले उन्हें अंदर से आदेश क्यों न मिले कि उन्हें क्या करना और क्या न करना चाहिये। लगातार साधना द्वारा, उच्चतर आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक प्रकृति में प्रवेश करने से ही इस कठिनाई पर विजय पायी जा सकती है; लेकिन सबसे अधिक शक्तिशाली और अच्छे-से-अच्छे साधकों को भी इसमें बहुत समय लगता है।

*

रही बात असुविधाओं की, तुम्हें उन्हें समता के प्रशिक्षण के रूप में लेना चाहिये। अगर तुम योग के सच्चे भाग में प्रवेश करना चाहते हो तो असुविधाओं को सह सकना सबसे पहली आवश्यकताओं में से एक है।

*

हां, यह ऐसी चीज है जो बहुतों में आती है; इसे अतिरंजित करने और प्राणिक प्रवृत्ति का प्रमुख अंग बना देने पर यह ऐसे लोगों की असफलता और यहां से चले जाने का कारण बनी है जो अपने-आपको महान् साधक समझते हैं—उन्होंने इस वृत्ति के बहाने प्राणिक अहंकार को बढ़ावा देकर उसे बढ़ा-चढ़ा दिया। चूंकि तुम जानते हो कि यह चीज हास्यास्पद है अतः तुम्हें इससे पिंड छुड़ाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। इसमें एकमात्र

सत्य यह है कि ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो अपने-आपको इस तरह उद्धारी करता है कि शक्ति उसकी भौतिक सत्ता में प्रवेश करके उसे बदल दे, वह इस आत्म-उद्घाटन द्वारा परम शक्ति की विजय में योगदान देता है—लेकिन यह बात प्रत्येक के साथ लागू होती है किसी एक व्यक्ति के साथ नहीं।

*

उचित वृत्ति यह देखना है कि पृथक् सत्ता के रूप में, अहं के रूप में मनुष्य का कुछ भी महत्त्व नहीं है और अपनी कामनाओं, अहंकार, प्रतिष्ठा इत्यादि पर आग्रह करना अज्ञान है। मनुष्य का महत्त्व है केवल एक आत्म के रूप में, भगवान् के एक अंश के रूप में—दूसरों से अधिक नहीं बल्कि उतना ही महत्त्व है जितना अन्य समस्त आत्माओं का मूल्य परम आत्मा के लिये है।

*

साधकों के अंदर यह एक व्यापक बीमारी फैल गयी है—ईर्ष्या तथा द्वेष की भावनाओं के साथ तुलना करना—कुछ लोगों में तो यह विद्रोह और आत्म-प्रधानता को स्थापित करने की प्रवृत्ति अपना लेती है, कुछ और लोगों में आत्महीनता और अवसाद की। स्वभावतः, इन भावनाओं के लिये यह कोई स्थान नहीं है और इनसे उत्पन्न निर्णय सत्य से कोसों दूर होते हैं। प्रत्येक साधक की अपनी गतिविधि होती है, भगवान् के साथ अपना निज संबंध होता है, साधना के व्यापक कार्य में अपना निजी स्थान होता है और दूसरों के साथ तुलना गलत मानदण्ड ले आती है। साधक को अपने आंतरिक गतिविधि के सत्य पर अर्थात् 'स्वधर्म' पर अपना आधार स्थापित करना चाहिये।

*

मई १९९१

बहुत-से लोगों में एक प्रारंभिक स्थिति होती है जो मन तथा उच्चतर प्राण से शासित होती है और जिसमें वे बहुत अच्छी तरह पथ पर अग्रसर होते हैं, क्योंकि मन और उच्चतर प्राण में ऐसे तत्त्व हैं जो इतने सबल होते हैं कि प्रथम अनुभूतियों या प्राथमिक प्रगति के समय सत्ता के अन्य तत्त्वों को नियंत्रण में रखें। लेकिन एक समय आता है जब व्यक्ति को अपनी सत्ता के निम्नतर भागों को हाथ में लेना होता है तब सभी प्राणिक कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। अगर आरंभिक प्रगति या अनुभूतियों ने गर्व या अहंकार पैदा कर दिया हो या कहीं पर कोई गंभीर दोष हो तो व्यक्ति तब तक इन कठिनाइयों से मुक्ति नहीं पा लेता जबतक कि अहंकार को या तो दूर नहीं किया जाता या वह टूट नहीं जाता अथवा दोष को सुधार नहीं लिया जाता। 'क' को अपनी धर्मपरायणता का गर्व हो गया और वही उसके रास्ते में बुरी तरह से बाधक हुआ; उसमें एक दोष यह भी है कि उसका मन संकीर्ण और हठी है और वह केवल अपने ही विचारों से चिपका रहता है मानों केवल वे ही सत्य हों... इसी कारण वह प्रत्येक से कलह करता और समझता है कि वह तो ठीक है और अन्य लोग बहुत बुरे और दुष्ट हैं, वह अपने दोषों और अपनी भूलों को नहीं देख पाता... वह एक अच्छा और कुशल कार्यकर्ता है लेकिन जबतक वह इस अनमनीयता तथा अहंकार को बनाये रखेगा तब तक वह साधना में प्रगति नहीं कर सकता।

*

तुम्हारे अंदर क्षमताएं और यौगिक तत्त्व हैं लेकिन उनके साथ-साथ है प्रबल आत्माभिमान तथा आत्म-परायणता का भाव जो पूर्णता के पथ पर रोड़ा बना खड़ा है और यही गंभीर बाधा है। जब तक साधक के अंदर यह भाव रहता है तब तक अपने अंदर दिव्य सत्य को अभिव्यक्त करने का उसका प्रयास व्यर्थ रहेगा क्योंकि वह उसे उन मानसिक और प्राणिक रचनाओं में बदल देगा जो सत्य को विकृत करतीं, निष्फल अर्ध-सत्य में

बदल देतीं, यहांतक कि स्वयं सत्य को भूल-भ्रांति का स्रोत बना देती हैं।

*

हां—आत्म-समर्थन गलत गतिविधि को बने रहने देता है क्योंकि वह उसे मानसिक आश्रय प्रदान करती है। आत्म-समर्थन हमेशा अहंकार तथा अज्ञान का चिह्न होता है। जब मनुष्य की चेतना विशालतर हो जाती है तो वह जानता है कि चीजों को देखने का प्रत्येक का अपना तरीका होता है और वह उसी तरीके से अपना समर्थन पाता है और इसी कारण किस्म-झगड़े में दोनों दल यह विश्वास करते हैं कि वे सत्य के पक्ष में हैं। केवल तभी जब मनुष्य अहंकार-रहित चेतना द्वारा ऊपर से देखता है, वह वस्तु के सभी पक्षों को तथा साथ ही उनके यथार्थ सत्य को भी देखता है।

*

लेकिन अपने दोषों को स्वीकार न करना बहुत प्रचलित मानव दुर्बलता है, यद्यपि ऐसे साधक में उसे नहीं रहना चाहिये जिसकी प्रगति विशेष रूप से इस बात पर निर्भर है कि वह अपने अंदर की उन चीजों को स्वीकार करे जिन्हें बदलना है। ऐसी बात नहीं है कि स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त है पर यह आवश्यक तत्त्व है। निश्चित रूप से एक प्रकार का घमंड या मिथ्याभिमान ही उसे शक्ति तथा प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक समझता है। ऐसे लोग केवल दूसरों के सामने अपने दोषों को अस्वीकार नहीं करते बल्कि स्वयं अपने-आप से भी अपने दोषों को छिपाते हैं या फिर अगर वे एक आंख से उन्हें देखने के लिये बाध्य भी होते हैं तो दूसरी आंख उससे फेर लेते हैं। या फिर वे शब्दों, बहानों और औचित्यों का एक जाल बुन लेते हैं और जो कुछ वास्तव में है उससे भिन्न कोई चीज बनाने की कोशिश करते हैं। 'क्ष' का यह कहना कि "यदि मुझे अपने दोष स्वीकार करने पड़ें तो मैं जाना अधिक पसंद करूंगा", उसके स्वभाव को पूरी तरह से दर्शाता है—योग के पथ पर यही चीज उसकी मुख्य बाधा रही है।

*

मई १९९१

प्रकृति की केवल यही आदत—अपने बारे में चिंता करना और अपने दोषों का ही राग अलापते रहना—तुम्हें शांत होने से रोकती है। अगर तुम इसे बाहर फेंक दो तो शांत होना आसान हो जायेगा। नम्रता आवश्यक है लेकिन निरंतर आत्म-हीनता का भाव रखना सहायता नहीं पहुंचाता; अत्यधिक आत्माभिमान और आत्म-हीनता दोनों ही गलत मनोवृत्तियां हैं। बिना बढ़ा-चढ़ा कर अपने दोषों को स्वीकार करना उपयोगी है लेकिन एक बार स्वीकार कर लेने के बाद उन्हीं के बारे में सोचते-विचारते रहना अच्छा नहीं है; तुम्हारे अंदर यह विश्वास होना चाहिये कि भागवत शक्ति सब कुछ बदल सकती है और तुम्हें शक्ति को कार्य करने देना चाहिये।

*

यह प्राणिक संवेदनशीलता न अच्छी है न बुरी। यह विकास के क्रम में इसी प्रकार आती है। कुछ लोग सचेतन या प्रत्यक्ष रूप से अन्य लोगों के प्रति खुलने में अक्षम होते हैं क्योंकि वे असंवेदनशील होते हैं। दूसरी ओर बहुत अधिक खुल जाना भी कष्टप्रद होता है।

*

यह अहंकार के स्वभाव पर निर्भर करता है। कुछ अहंकारी लोग बहुत कठोर चमड़ीवाले होते हैं अतः एकदम से संवेदनशील नहीं होते, कुछ अन्य अत्यधिक संवेदनशील होते हैं।

*

अत्यधिक संवेदनशील होना अहंकार का परिणाम या लक्षण है।

*

बहुत से साधकों के लिये संवेदनशीलता एक अत्यधिक दुराग्रही बाधा रही है। इसे दूर करने के दो उपाय हैं—माताजी के ऊपर चैत्य विश्वास और उसके साथ-साथ आनेवाला समर्पण का भाव, अर्थात् “जो कुछ वे चाहते हैं वही मेरे लिये उत्तम है”, और यह विशालता जिसका तुम अब अनुभव कर रहे हो—यह सच्ची आत्मा की, सच्चे मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ता की भी विशालता है जिससे इस तरह की चीजें धूल की भाँति झड़ जाती हैं क्योंकि उसके लिये इनका कोई मूल्य नहीं होता।

करने लायक बस यही कार्य है—विशालता, शांति और नीरवता में स्थायी रूप से निवास करना और अहंकार को उसके अंदर विलीन होने तथा आसक्तियों को झड़ जाने देना।

*

असंवेदनशील चेतना में सत्ता का किसी प्रकार का रूपांतर नहीं हो सकता।

*

कामना-वासनाओं का योग में कोई स्थान नहीं है, वे उसकी सहायक नहीं हो सकतीं, वे तो केवल बाधाएं हो सकती हैं। जबतक कामना तथा अहंकार बने रहते हैं तबतक भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण नहीं हो सकता और न ही योग में कोई सिद्धि प्राप्त हो सकती है। ये प्राण की क्रियाएं हैं और इससे भिन्न और कुछ नहीं हो सकतीं।

अहंकार-रहित शक्ति एक ऐसी शक्ति है जो स्वार्थपूर्ण प्रयोजनों के प्राणिक कामनाओं के लिये अथवा व्यक्ति के अपने मन के विचारों के क्रियान्वित करने के लिये कार्य नहीं करती बल्कि केवल भगवान् की सेवा के लिये तथा भगवान् के यंत्र के रूप में ही अपना अस्तित्व रखती है।

*

मई १९९९

सब कुछ भगवान् का है—कोई अहंभाव या कामना नहीं होनी चाहिये—होने चाहियें केवल भगवान् और उनका प्रकाश, ज्ञान, शक्ति, आनंद तथा क्रिया। लेकिन यह सब ऊपर से आना चाहिये, मिश्रित निम्नतर वैश्व-शक्तियों से नहीं।

अहं का बोलबाला

(किसी व्यक्ति के यह पूछने पर कि किसी रोग को दूर करने के लिये क्या करना चाहिये, क्या हमें अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना चाहिये या केवल इस विश्वास में निवास करना चाहिये कि यह अच्छा हो जायेगा या पूरी तरह दिव्य 'शक्ति' पर निर्भर करना चाहिये, श्रीमाताजी ने उत्तर दिया) : "एक ही चीज करने के ये इतने सारे तरीके हैं . . . । परंतु तुम जो कुछ चाहो और तुम्हारा प्रयास चाहे जो कुछ हो, तुम्हें, यथाशक्ति प्रयत्न करते हुए, अपने ज्ञान का प्रयोग करते हुए या अपनी शक्ति को प्रयुक्त करते हुए भी, यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम 'भागवत कृपा' पर निर्भर करता है।"

परंतु सबसे पहले तुम्हें इसकी इच्छा करनी होगी, मैं समझती हूं कि यह बहुत महत्वपूर्ण है ! कोई एक पद्धति ऐसी नहीं है जिसका अनुसरण किया जाये . . . । मैं यह चीज पढ़ती हूं और साथ ही अपने-आप से पूछती हूं कि कितने लोग इसे सुनकर संतुष्ट होंगे। संसार में समस्त जड़वाद और प्रत्यक्षवाद ठीक इसी कारण निर्मित हुआ है कि लोग भागवत 'कृपा' को बिलकुल बीच में आने देना नहीं चाहते। यदि वे निरोग हो जाते हैं तो वे यह कहना चाहते हैं कि "सच पूछो तो स्वयं मैंने अपने-आपको रोगमुक्त किया है", यदि वे कोई प्रगति करते हैं, वे यह सोचना चाहते हैं कि "वास्तव में स्वयं मैंने प्रगति की है", यदि वे किसी चीज का संगठन करते हैं, वे यह

घोषणा करना चाहते हैं कि “यथार्थ में मैं स्वयं यह संगठन कर रहा हूँ। और बहुत, बहुत-से दूसरे लोग जो अन्य भाव से करने की कोशिश कर रहे हैं, यदि वे अपने अंदर नजर दौड़ाते हैं तो, कितने कम अवसरों पर सहज-स्वाभाविक रूप में, सच्चाई के साथ देखते हैं (उस तरह नहीं जैसे व्यक्ति कोई बात इसलिये कहता है कि वह जानता है कि यह बात कहनी चाहिए अथवा जैसे व्यक्ति कोई बात इसलिये सोचता है कि उसी तरह सोचने का फैशन हो गया है), सहज-स्वाभाविक रूप में, सच्चाई के साथ, अपने हृदय से, वे जानते हैं कि वास्तव में स्वयं उन्होंने वह कार्य नहीं किया है बल्कि दिव्य शक्ति ने किया है। जब वे कुछ प्रगति कर लेते हैं, जब अपने अंदर किसी चीज को बदल लेते हैं, जब वे कुछ सीख लेते हैं, तब, वह सब हो जाता है, सहजभाव से, कोई इच्छा किये बिना, कुछ सोचे बिना अपने-आप से यह कहने की आवश्यकता के बिना कि “हमें इस प्रकार सोचना चाहिये”, सहज-स्वाभाविक ढंग से वे जानते हैं कि दिव्य शक्ति के बिना कुछ भी संपन्न न हुआ होता। अपने अंदर देखो, यह बहुत मजेदार बात है, बहुत मजेदार है, दिन में कितनी बार तुम सोचते हो (अपने-आप से यह कहे बिना), “मैंने यह किया है”, “मैं उसे संपन्न करने में सफल हुआ हूँ”, “इस प्रयास में मैंने सफलता पायी है”, “उसमें मैं असफल हो गया हूँ”, और जब तुम कोई अच्छा प्रयास कर चुकते हो, जब तुम कोई परिणाम प्राप्त कर लेते हो, तुम्हें चिंतन करने के लिये, या उससे अधिक, अपने-आप से यह कहने के लिये थोड़े-से समय की आवश्यकता होती है कि “यदि दिव्य शक्ति ने मुझे सहायता न की होती तो शायद मैं पूरा करने में मैं समर्थ न हुआ होता।” परंतु सहज-स्वाभाविक बात है “ओह ! मैंने सफलता पायी है”, सच है न ? वास्तव में मन का एक ऐसा है जिसने शिक्षा पायी है, जिसने सीखा है, चिंतन किया है, समझा है जो स्वस्थ है और सचमुच यह अनुभव करता है कि यथार्थ में बात तो ऐसी ही है, पर यह मन का केवल एक भाग है, और यह सर्वदा सक्रिय होता, कभी-कभी इसे अवश्य बुलाना चाहिये, इसकी सलाह लेनी चाहिये “तब सबसे उत्तम मनोभाव क्या है ?” “मुझे क्या सोचना-विचार

चाहिये ?
सबको, य
कहते हैं,
संभवतः
वहां दिव्य
होता।”
है जब म
अंगुली
प्रारंभ में
से अपने-
है, “इसे
बधाई देत
क्षमता है
तनिक भी
छीन लिया
की है, कि
के साथ व
कर दिये
अंगों की
(लगभग
करने के
प्राण-शक्ति
अधिक नि
होती। अ
लेता है।
कुछ करने
खिलाने क
पर यह स

मई १९९१

चाहिये ?" मैं समझती हूँ कि जिन लोगों ने योगमार्ग ग्रहण किया है उन सबको, यदि वे सच्चे हैं, यदि वे एक क्षण विचार करते हैं, अपने-आप से कहते हैं, "मुझे यह बात मालूम नहीं थी, पर मैंने यदि सफलता पायी है तो, संभवतः मैं इसी कारण सफल हुआ था कि मुझे सहायता करने के लिये वहाँ दिव्य शक्तियाँ मौजूद थीं, अन्यथा मैं सफलता पाने में समर्थ न हुआ होता।" यह अच्छी तरह जानी-समझी बात है। परंतु एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य जानता है कि यदि ये शक्तियाँ न होतीं तो वह अपनी एक अंगुली भी न उठा पाया होता। यह अनुभव पीछे आता है...। परंतु प्रारंभ में कितनी बार, यदि मनुष्य सोचता है, यदि वह बिलकुल सरल ढंग से अपने-आपको देखता है, वह अपने-आपको यह कहते हुए पकड़ लेता है, "इसे मैंने किया है!" और तब, वह कभी-कभी स्वयं अपने-आपको बधाई देता है, कहता है, "आखिरकार मैं भी कुछ कर सकता हूँ, मुझमें भी क्षमता है!" मैं और आगे बढ़ रही हूँ: कितने मनुष्य कोई काम करने में तनिक भी समर्थ होंगे, यदि महज अपने-आपसे यह कहने का सुख उनसे छीन लिया जाये कि, "मैंने यह किया है, मैंने इसे सिद्ध किया है, मैंने प्रगति की है, कितने अच्छे ढंग से मैंने एक खेल खेला है?" कितने लोग सच्चाई के साथ कोई कार्य करने में सक्षम हो सकते हैं यदि इस सुख से वे वंचित कर दिये जायें? ऐसे व्यक्तियों से मैं परिचित थी जिनका मन सत्ता के बाकी अंगों की अपेक्षा बहुत अधिक विकसित था, उन्होंने बहुत अच्छी तरह (लगभग आवश्यकता से अधिक अच्छे रूप में) समझ लिया था, वे ध्यान करने के लिये बैठ जाते और उनकी समस्त शक्ति समाप्त हो जाती, समस्त प्राण-शक्ति एक प्रकार की शांति में विलीन हो जाती, वह अप्रिय नहीं, बहुत अधिक निश्चल होती। उस स्थिति में अब कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। अब हिलने-डुलने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, मनुष्य स्वप्न लेता है... पेड़ के नीचे, हाथ पर हाथ रखकर, मनुष्य अपने लिये सब कुछ करने का भार, यहांतक कि यदि उसे खाने की आवश्यकता हो तो उसे खिलाने का भार भी, भगवान् पर छोड़ देता है। यह शायद बहुत अच्छा है, पर यह सूचित करता है कि यंत्र अभी तैयार नहीं है; वह वास्तव में अभी

भगवान् की सेवा में नहीं नियुक्त है, वह अपने अहं की सेवा में रत है, और जब अहंभाव हटा लिया जाता है तो वह उसके बाद कुछ भी नहीं करता अतएव, जबतक मनुष्य अहंभाव में निवास करता है, यह भ्रम तुमसे करने के लिये आवश्यक होता है; यह कार्य को जारी रखने के लिये जरूरी होता है जबतक कि मनुष्य पूर्ण रूप से रूपांतरित नहीं हो जाता, अथवा, हालात में, जबतक कि सच्ची चेतना नहीं स्थापित हो जाती।

मैंने यह बात कही है और इसे फिर दुहरा रही हूँ (श्रीमाताजी अपने पुस्तक लेकर पढ़ती हैं) : “तुम चाहे जो कुछ भी करो, चाहे जिस कि प्रक्रिया का उपयोग करो, और चाहे उस प्रक्रिया के अंदर तुम्हें एक महान् कौशल और शक्ति भी क्यों न प्राप्त हो गयी हो, तुम्हें उसका फल भगवान् के हाथों में ही छोड़ देना चाहिये। तुम सर्वदा ही कोशिश कर सकते हो पर तुम्हारे प्रयास का फल तुम्हें देना या न देना भगवान् पर निर्भर है। यह आकर तुम्हारी व्यक्तिगत शक्ति समाप्त हो जाती है; यदि परिणाम प्राप्त होता है तो वास्तव में उसे ‘भागवती शक्ति’ ले आती है न कि तुम्हारी शक्ति।”^१ हां, तो यही वह भावना है जो लगभग सभी धर्मों में सिखायी जाती रही है, जिसने मनुष्यों को नास्तिक बना दिया है, इतना अधिक इसे उनको क्रोध होता है—विद्रोह का क्रोध होता है : “क्या ! यह सब करनेवाला मैं नहीं हूँ !”

और यह “मैं”, यदि तुम केवल यह जान जाते कि कितना बड़ा है यह ! कैसे यह समस्त स्थान ही घेरे रखता है . . . बस, यही चीज है समस्त जड़वाद का आधार है।

श्रीमातृवाणी खण्ड ४ :

^१ वार्तालाप (१९२९)

फूलों के बारे में

क्या फूलों में सौंदर्य का बोध है ?

सीधे तौर पर वहां एक चेतन जीवन है; प्राण-तत्त्व वहां विद्यमान है, और यह प्राण-तत्त्व ही वह चीज है जो फूलों को सौंदर्य का बोध प्रदान करता है। परंतु यह शायद उस अर्थ में व्यक्तिभावापन्न नहीं है जिस अर्थ में हम इसे समझते हैं, बल्कि यह जाति का बोध है और जाति सर्वदा उसे अनुभव करने की चेष्टा करती है। मैंने चैत्य उपस्थिति और प्रकंपन के प्रथम मूल-रूप को उद्भिद् जीवन में देखा है, और वास्तव में जिस प्रस्फुटन को हम फूल कहते हैं वह चैत्य उपस्थिति का प्रथम प्राकट्य होता है। चैत्य केवल मनुष्य में व्यक्तिभावापन्न होता है, पर वह मनुष्य से पहले भी विद्यमान था; परंतु यह उसी प्रकार की व्यक्तिभावापन्न अवस्था नहीं है जैसी कि मनुष्य में होती है, यह कहीं अधिक तरल होती है। यह एक शक्ति के, चेतना के रूप में प्रकट होती है, न कि किसी व्यक्तित्व के रूप में। उदाहरण के लिये, गुलाब को ले लो; इसके आकार, रंग, सुगंध की महान् पूर्णता एक प्रकार की अभीप्सा तथा चैत्य आत्मदान को प्रकट करती है। सूर्य का प्रथम स्पर्श आने पर सुबह के समय गुलाब को खिलते हुए देखो, वह अभीप्सा-रूप में अपूर्व आत्मदान की प्रतिमूर्ति होता है।

प्रत्येक पुष्प का अपना विशिष्ट अर्थ होता है, होता है न ?

ठीक वैसा नहीं जैसा कि हम इसे मन से समझते हैं। जब कोई किसी पुष्प को कोई सुनिश्चित अर्थ प्रदान करता है तब उसके मन से एक भावना निर्गत होती है। पुष्प इस भावना को उत्तर दे सकता, इस भावना के स्पर्श से प्रकंपित हो सकता तथा अर्थ को स्वीकार कर सकता है, परंतु पुष्प में मानसिक चेतना से मिलती-जुलती कोई चीज नहीं होती। उद्भिद् जगत् में चैत्य का प्रारंभ हो जाता है, पर वहां मानसिक चेतना का प्रारंभ नहीं होता।

पशुओं में बात दूसरी होती है; वहां मानसिक जीवन रूप लेना आरंभ करता है और उनके लिये वस्तुओं का एक अर्थ होता है। परंतु पुष्पों में छोटे-छोटे बच्चों की गतिविधि जैसी कोई चीज होती है—यह न तो संवेदन और अनुभूति होती है, बल्कि दोनों की कुछ चीजें होती हैं; यह सहजात होती है, बहुत विशिष्ट प्रकंपन होता है। अतएव, कोई यदि उसके संपर्क में हो, यदि कोई उसका अनुभव करे तो उसपर एक ऐसी छाप पड़ती है कि एक विचार के द्वारा रूपांतरित किया जा सकता है। बस, इसी तरह कि फूलों और पेड़-पौधों को अर्थ प्रदान किया है—प्रकंपन के साथ एक प्रकार का तादात्म्य होता है, जिस गुण का वह प्रतिनिधित्व करता है उसका बोध प्राप्त होता है और, धीरे-धीरे, एक प्रकार के सामीप्य के द्वारा (कभी-कभी यह अचानक आता है, कभी-कभी इसमें देर लगती है), ये प्रकंपन (जो प्राणिक-भावात्मक श्रेणी के होते हैं) पास-पास आ जाते हैं और मानसिक विचार का प्रकंपन भी आ जाता है, और, यदि उस समय पर्याप्त समझ हो तो मनुष्य प्रत्यक्ष रूप में यह देख लेता है कि पौधे का क्या अर्थ है।

कुछ देशों में (विशेषकर यहां) कुछ विशेष पौधे पूजन-अर्चन और भक्ति के माध्यम के रूप में व्यवहृत होते हैं। कुछ पौधे विशिष्ट अवसरों पर प्रदान किये जाते हैं। और मैंने यह बहुधा देखा है कि यह तादात्म्य पौधों के स्वभाव से बिल्कुल सामंजस्य रखता था, कारण स्वाभाविक रूप में, बिना कुछ जाने, मैंने वही अर्थ प्रदान कर दिया जो धार्मिक उत्सवों में दिया गया था। वास्तव में स्वयं फूल में ही प्रकंपन विद्यमान था...। क्या उसका उपयोग व्यवहार किया गया था उस व्यवहार के कारण वह प्रकंपन आया था अथवा वह बहुत दूर से, किसी अति गहराई से, चैत्य जीवन की प्रारंभिक अवस्था से आया था? यह कहना कठिन है।

‘माताजी ने कई फूलों के आध्यात्मिक नाम दिये हैं।

रथ की कहानी

सूर्य के प्रकाश से आलोकित एक सड़क है जो चढ़ाई पर है और एक खड़े पर्वत की चोटी की ओर जा रही है। इस सड़क पर एक बड़ा भारी रथ चल रहा है, जिसको छः मजबूत घोड़े बड़ी कठिनाई से धीरे-धीरे खींच रहे हैं।

रथ मंद गति से पर लगातार आगे बढ़ रहा है। इतने में एक आदमी आता है, इस परिस्थिति का अवलोकन करता है, वह रथ के पीछे चला जाता है और उसको पीछे से ठेलने लगता है अथवा उसको ठेलकर पहाड़ पर पहुंचा देने की चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी आता है और उससे कहता है कि भले आदमी, तुम क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो? क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनत का कोई फल होगा? तुम्हारे लिये यह असंभव कार्य है, इसको करने में घोड़ों को भी कठिनाई हो रही है।

इस दृश्य-दर्शन का अर्थ समझने की चाबी छः घोड़ों के रूपक में है। घोड़े शक्ति के प्रतीक हैं और छः संख्या दिव्य सृष्टि का चिह्न है; अतः छः घोड़ों का अर्थ हुआ दिव्य सृष्टि की शक्तियां। रथ आत्मसाक्षात्कार का, जिस वस्तु को उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, चोटीतक पहुंचाना है, उस ऊंचाईतक पहुंचाना है जहां कि दिव्य-प्रकाश का निवास है, उसका प्रतीक है।

यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तियां दिव्य हैं, किंतु इस आत्मप्राप्ति को पूर्ण करने का कार्य इनके लिये भी कष्टसाध्य है; कारण इनको महान् विरोध का सामना और प्रकृति के अधोगामी आकर्षण के विरुद्ध युद्ध करना पड़ता है। अब बेचारा मानवप्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञान से प्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियों की जरा-सी संपत्ति है, और समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है। उसके लिये तो सबसे उत्तम काम यह है कि वह रथ में जाकर आराम से बैठ जाये और घोड़ों के कार्य में अपनी अनुमति देता रहे।

एक तरुण साधक का श्रीअरविंद और माताजी के साथ पत्र-व्यवहार

आज मैं उदासी का अनुभव कर रहा हूं, लेकिन मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता।

तब तुम्हें उदासी को केवल झाड़ फेंकना होगा।

९ जनवरी १९३४

—माताजी

‘हमारा योग और उसका उद्देश्य’ पुस्तक में श्रीअरविंद ने लिखा है, “जो भगवान् से मांग करते हैं भगवान् उन्हें वही देते हैं जो वे मांगते हैं।” क्या यह सच है ?

इसका यह अर्थ नहीं कि कोई कुछ भी मांगे वह उसे हमेशा देते हैं—बल्कि यह कि वे केवल वही देते हैं जिसकी व्यक्ति मांग करते हैं—वे उससे अधिक कुछ नहीं पा सकते।

और फिर : “लेकिन जो अपने-आपको उन्हें दे देते हैं और किसी चीज की मांग नहीं करते उन्हें वे सभी चीजें देते हैं जिनकी उन्होंने अन्यथा मांग की होती या जिनकी उन्हें आवश्यकता होती और इसके साथ-साथ वह स्वयं को और अपने प्रेम के सहज वरदानों को भी देते हैं।” लेकिन शांति, चेतना इत्यादि के लिये अभीप्सा करना जरूरी नहीं है क्या ?

अभीप्सा और मांगना एक चीज नहीं है।

९ जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

मई १९९१

३५

माताजी, क्या यह सच नहीं है, कि प्राण शीघ्र ही आपको समर्पित हो जायेगा ?

यवहार

इसका कोई

हां, अगर वह अपनी अभीप्सा में निष्कपट हो तो वह शीघ्र ही बदल सकता है।

११ जनवरी १९३४

—माताजी

“निष्कपट अभीप्सा” का क्या अर्थ है ?

—माताजी

वह अभीप्सा जो किसी भी अहंकार या स्वार्थपरता भरे हिसाब-किताब से मिली न हो।

१२ जनवरी १९३४

—माताजी

लिखा है,
तो वे मांगते

मेरे और 'ग' के बीच प्रेम के बारे में आपकी क्या राय है ?

हैं—बल्कि
—वे उससे

केवल भागवत उपस्थिति पर आधारित प्रेम ही अमिश्रित रह सकता है और साधना में कोई बाधा नहीं डालता।

१७ जनवरी १९३४

—माताजी

और किसी
नकी उन्होंने
और इसके
नों को भी
भीप्सा करना

आज मैंने इस विचार से कुछ पत्रिकाएं पढ़ीं कि वे मन के विकास में सहायता पहुंचाती हैं। लेकिन क्या वे आपके ख्याल से उपयोगी हो सकती हैं ?

यह इस पर निर्भर है कि उनमें क्या होता है ?

१७ जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

—श्रीअरविंद

प्रेम से साधक का मतलब है अपने ही संगी साधक के साथ मित्रता का गहरा नाता।

उनमें साधारणतः कहानियां, इतिहास, विज्ञान, कविता होती है।
लेकिन मेरे ख्याल से उन्हें न पढ़ना ही ज्यादा अच्छा है।

मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता कि तुम्हें इतिहास, विज्ञान, इत्यादि लेख क्यों नहीं पढ़ने चाहियें। तुम कहानियों को छोड़ सकते हो क्योंकि वे बहुधा मानसिक रूप से विकसित या विकसनशील चरित्र से नहीं आतीं।

१८ जनवरी १९३४

—श्रीअरवि

क्या आपके विचार से मेरे और 'ग' के बीच का प्रेम चैत्य हो सकता है ?

संभवतः उसमें चैत्य तत्त्व है, लेकिन एकमात्र वही नहीं है।

१८ जनवरी १९३४

—माताजी

लेकिन क्या ऐसे पारस्परिक प्रेम का अनुभव करना संभव है जो भागवत उपस्थिति पर आधारित हो ?

यह संभव है।

१९ जनवरी १९३४

—श्रीअरवि

मेरे ख्याल से ज्यादा अच्छा होगा अगर मेरे और 'ग' के बीच प्रेम न हो क्योंकि वह भागवत उपस्थिति पर आधारित नहीं है।

उसे, कुछ भी हो, प्राणिक मिलावट से मुक्त रखना चाहिये।

आपके ख्याल से यह प्रेम हानिकर है क्या ?

यह उसे मिलावट से मुक्त रखने पर निर्भर है।

१९ जनवरी १९३४

—श्रीअरवि

मई १९९९

मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा और 'ग' का परस्पर प्रेम मिलावट से मुक्त है। इसलिये मैं इसे छोड़ रहा हूँ। क्या यह अच्छा है ?

इतना उग्र होने की आवश्यकता नहीं है, उसे अपने-आप मिलावट से शुद्ध होने दो।

१९ जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

... अतः मैं 'घ' के लिये किसी विकर्षण का अनुभव नहीं करता।

विकर्षण हमेशा बुरी चीज है और यह आकर्षण का दूसरा पहलू है।

१९ जनवरी १९३४

—माताजी

मैंने 'ह' को व्यायाम करने से मना किया क्योंकि उसका शरीर कमजोर है।

किसी व्यक्ति से यह कहना कि वह कमजोर है कभी अच्छा नहीं है, यह उसे मजबूत बनाने का तरीका नहीं है—विपरीत है !

२० जनवरी १९३४

—माताजी

ऐसा लगता है कि मैं लोगों की मदद करने पर जोर देता हूँ और मैं सचमुच मदद करना चाहता हूँ, लेकिन अब मुझे पता है कि यह बहुत अच्छी चीज नहीं है, मैंने यह बंद कर दिया है। अगर संभव हो तो आपस में एक-दूसरे की मदद करना अच्छा नहीं है क्या ?

दूसरों की मदद करने का विचार अहं का सूक्ष्म रूप है। केवल भागवत शक्ति ही मदद कर सकती है। तुम उसका यंत्र बन सकते हो, लेकिन पहले तुम्हें उपयुक्त और निःस्वार्थ यंत्र बनना सीखना होगा।

२० जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

अग्निशिखा

मधुर मां ! यह बताइये कि 'घ' के प्रति इस आसक्ति से पीछा छुड़ाने के लिये मुझे क्या करना चाहिये ?

सबसे अच्छी चीज है कि उसके बारे में सोचना बंद कर दो।

२० जनवरी १९३४

—माताजी

जब मैं यह मानता हूँ कि मेरे अंदर कोई गड़बड़ है, कोई आसक्ति इत्यादि, तो मैं उसे बहुत गहराई से अनुभव करता हूँ। मेरे अंदर कौन-सा भाग यह अनुभव करता है ?

जो तुम्हारे अंदर सचेतन है।

२२ जनवरी १९३४

—माताजी

आज कुछ थकान आयी।

उसे खदेड़ दो।

२३ जनवरी १९३४

—माताजी

मैं उसे कैसे खदेड़ सकता हूँ ? और किस चीज से—क्या इच्छा, अभीप्सा की अग्नि से ?

हां, दोनों अच्छे हैं।

२३ जनवरी १९३४

—माताजी

सोसायटी समाचार

श्री गोपाल भट्टाचार्य ८ से १३ फरवरी तक सिलीगुड़ी में रहे। वहां उन्होंने स्थानीय शाखाओं का संगठन और पुनर्नवीकरण करने में स्थानीय सदस्यों की सहायता की। वहां के सदस्यों के साथ विचार-विनिमय किया और कार्यकारिणी की बैठक में भाग लिया और उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय में

मई १९११

“श्रीअरविंद और आजका जगत्” तथा “सावित्री” पर भाषण दिये।

१७ फरवरी को उन्होंने कोननगर (पं० बं०) में श्रीअरविंद की पैतृक भूमि में श्रीअरविंद-भवन का शिलान्यास किया। वहां श्रीअरविंद की समाधि की रेत भी पधरायी गयी है।

बंगलोर में श्रीअरविंद-भवन का एक नया परिसर उठ रहा है। केंद्रीय भवन का पहला खंड पूरा हो गया है। विद्यालय-निर्माणका काम चल रहा है। एक पुस्तकालय भी बन रहा है। माताजी और श्रीअरविंद के ग्रंथ तथा आश्रम की बनी चीजें भी उपलब्ध हैं। विद्यालय में सर्वांगीण शिक्षा पर जोर दिया जा रहा है, भारतीय तथा यूरोपीय संगीत और नृत्य की शिक्षा भी दी जा रही है। कोरियाई आत्मरक्षा के वर्ग भी हो रहे हैं।

२७ फरवरी को सोसायटी के केंद्रों के लगभग ३० सदस्यों ने एक सम्मेलन में भाग लिया जिसमें श्री जट्टी और दिल्ली के विजय पोद्दार ने भी हिस्सा लिया; पांडिचेरी के श्री देसाई भी उपस्थित थे, उसमें यह निश्चय किया गया कि अखिल भारतीय पत्रिका का कन्नड़ संस्करण भी निकाला जाये। जो लोग अंग्रेजी या हिंदी पत्रिका की जगह कन्नड़ पत्रिका लेना चाहें वे अपनी सदस्यता की संख्या देते हुए सोसायटी के सदस्यता-विभाग को सूचना दे दें।

सोसायटी की भड़ूच शाखा में हर रविवार को सवेरे नौ बजे माताजी और श्रीअरविंद की पुस्तकों का पाठ होता है और अंत में सम्मिलित ध्यान होता है।

घोषणा

अध्यापकों, माता-पिता और शिक्षा में रस लेनेवालों के लिये ४ से १५ जून तक पांडिचेरी में शिक्षा-शिविर होगा। जो इसमें भाग लेना चाहते हैं वे श्री महादेविया, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी को पत्र लिखें। शिविर का कोई शुल्क नहीं होगा लेकिन रहने-खाने का खर्च अपने-आप वहन करना होगा। रहने की व्यवस्था के लिये पहले से स्थान आरक्षित करवा लें और प्रति व्यक्ति के लिये ५० रु० पेशगी भेज दें।

*Selfishness kills the soul; destroy it. But
take care that your altruism does not kill
the souls of others.*

Sri Aurobindo

Assam Tea Warehousing Corporation

*Registered and approved Warehouse
at Gauhati (Assam)*

H.O.: 8, Camac Street, Room No. 7
Shantiniketan Building
CALCUTTA - 700 017

ह
हैं जो
प्रयत्न
शारीर
अध्याप
सा
सकती

Phone: (01592) 2887

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

झुन्झुनू (राजस्थान)-३३३००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवम् शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

Registered with the Registrar of Newspapers for India
No. R. N. 18135/70

REGD. No. M. 8731

दूसरों पर नियंत्रण रखने के लिये स्वयं अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण
पाना अनिवार्य शर्त है।

— श्रीमा



With Best Wishes from :

MRS. KOYAL DEORAH CHARITABLE TRUST

28, VARSHA, 69/B, NEPEANSEA ROAD

BOMBAY - 4000 006

1. परिचय
 2. विषय
 3. उद्देश

40171

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

जून १९९१

विषय-सूची

सन्देश	श्रीमाताजी	१
सम्पादकीय : सुतसोम !	अनुबेन	२
दैनन्दिनी		३
एक साधिका के नाम माताजी के पत्र		१०
सम्बेदनशीलता	श्रीमाताजी	२६
भरोसा और विश्वास	श्रीअरविन्द	३०
अहंकार का महत्त्व	श्रीमाताजी	३३
शक्ति को खींचना	श्रीमाताजी	३५
स्फुट वचन	श्रीअरविन्द	३७
विचारमाला और सूत्रावली	श्रीअरविन्द	३९
तरुण साधक का पत्र-व्यवहार		४०
मुखपृष्ठ का चित्र — भगवान् के लिये किया गया निःस्वार्थ कार्य		
प्रगति का निश्चित उपाय		
(माताजी द्वारा दिया गया फूल का आध्यात्मिक अर्थ)		

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवीन्द्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२



अद्भुतस्वप्ने प्रति जागृहि

संदेश

Do not take the sorrows of life for what they seem to be; they are in truth a way to greater achievements.

—The Mother

जीवन के दुःख-दर्दों को उसी रूप में न लो जैसे वे दीखते हैं;
सबमुच वे महानतर उपलब्धियों के तरीके हैं।

—माताजी

‘संपादकीय’ :

सुतसोम !

देश के विभाजन और आज़ादी के समय जो विभीषिका देखी गयी, मानव का जो नग्न तांडव दिखायी दिया उसके उपरान्त इन चालीस वर्षों में राष्ट्र की अवस्थाओं में से गुजरा है उनमें वर्तमान अवस्था सबसे अधिक अस्त-व्यस्त भयावह और मनुष्य-बुद्धि को दिङ्मूढ़ करनेवाली है। जहां कहीं दृष्टि दौड़ने हमें अंधकार और घना अंधकार दीख रहा है; चाहे शिक्षा के क्षेत्र में, व्यापार में या प्रशासकीय क्षेत्र में; हर क्षेत्र में धांधली और भ्रष्टाचार का बोलबाला है आशा की हल्की-सी किरण भी कहीं नजर नहीं आती। इस स्थिति में एक अत्यंत प्राचीन गाथा की याद हो आयी।

जातक में एक अत्यंत उज्ज्वल चरित्र की यह कहानी हमें थोड़ा बहुत आश्वासन देती है।

भूतकाल में इंद्रप्रस्थ में कोरव्य नाम का एक राजा था। उसके महल में एक सुंदर, स्वस्थ बालक ने जन्म लिया। वह इतना सुंदर था कि उसका नाम रखा गया सुतसोम। यह बालक जितना सुंदर और बुद्धिमान था उतना ही उदात्त-चरित भी। राजा कोरव्य ने अपने बालक को शिक्षा प्राप्त करने के लिये तक्षशिला भेजा। वहां भी अपनी प्रतिभा से वह आचार्य का न केवल प्रिय-पात्र ही बना बल्कि उसे अन्य विद्यार्थियों को पढ़ाने का भार भी दिया गया। शिक्षा समाप्त कर सुतसोम इंद्रप्रस्थ लौटा और उसकी कीर्ति सारे जंबूद्वीप में फैल गयी। सुतसोम के मित्रों और विद्यार्थियों में वाराणसी-नरेश ब्रह्मदत्त का बेटा ब्रह्मदत्त कुमार भी था। कालांतर में वह वाराणसी के सिंहासन पर बैठा। वह सुख-चैन में इतना डूब गया कि धीरे-धीरे उसका विवेक लुप्त हो गया।

वाराणसी महाराज की सबसे बड़ी कमजोरी थी उनकी लोलुपता। उन्हें तरह-तरह के मांस का बहुत ही शौक था। बिना मांस के वे खा ही नहीं सकते थे। एक दिन राजा के लिये लाया गया मांस उनके कुत्ते खा गये। रसोईय बेहद घबराया और जब उसे और मांस नहीं मिला तो फांसी पर लटके हुए

१९९९

राज से उसने मांस काटा और पका कर उसे परोसा। इस नवीन भोजन का स्वाद पाते ही राजा अति प्रसन्न हो उठा और उसने एकांत में रसोइये से कहा कि अब से यही मांस उसकी थाली में आया करे। नर-मांस का नाम सुनने पर भी वह नहीं घबराया और उसने उसीकी मांग की। रसोइया छिपकर लोगों की हत्या कर राजा को मनपसंद भोजन परोसता रहा। अंत में जब बात प्रकट हो गयी तो मंत्रियों ने राजा से प्रार्थना की कि इस जघन्य कार्य से दूर रहें। राजा ने राज्य छोड़ने की तैयारी की और अपना राज्य और परिवार छोड़कर खाना पकाने का एक बर्तन और अपने रसोइये को लेकर एक जंगल में आ बसा। जंगल से चलते बटोहियों को मारकर वह भोजन करता।

एक दिन एक मनुष्य ने राजा के तलुओं पर नागफणी फेंक दी। विवश होकर वह शिकार नहीं कर सका तब निग्रोध के वृक्ष के नीचे लेटे-लेटे उसने वृक्ष देवता से प्रार्थना की, “अगर मैं एक सप्ताह के अंदर स्वस्थ हो जाऊंगा तो हे वृक्ष देवता, आपको एक सौ एक राजाओं के रक्त से तृप्त करूंगा।”

सचमुच एक सप्ताह में यह राजा, जो अब कल्माषपाद कहलाता था, स्वस्थ हो गया, उसने माना कि यह वृक्ष देवता की कृपा से हुआ है जब कि वह सामान्य रूप से ही स्वस्थ हो गया था।

कल्माषपाद की यह अवस्था देखकर उस जंगल में रहनेवाले एक यक्ष को दया आयी और उसने उसे एक ऐसा मंत्र दिया जिसके बल से वह वायुवेग से दौड़ने लगा। इस नयी विद्या के बल पर कल्माषपाद ने कई राजाओं को पकड़कर निग्रोध के वृक्ष की शाखाओं पर हथेलियों में कील ठोककर लटका दिया। इन राजाओं की दारुण अवस्था देखकर निग्रोध देवता द्रवित हो गये और एक दिन आकाशवाणी में बोले, “हे कल्माषपाद, मैं तभी तृप्त होऊंगा जब तुम सुतसोम की बलि चढ़ाओ।” इस घोषणा का कारण यह था कि वृक्ष देवता ने देखा कि इन बंदी राजाओं को बचाने का और कल्माषपाद को उबारने का काम केवल सुतसोम ही कर सकता है। वृक्ष देवता की वाणी सुनकर कल्माषपाद प्रसन्न हो गया। वह जानता था कि उसका पुराना मित्र और आचार्य इंद्रप्रस्थ का राजकुमार है। उसको यह मालूम था कि शुभ दिनों पर सुतसोम एक विशेष उद्यान में स्नान करने जाता है, वह ऐसे एक शुभ दिन के पहले ही आधी

रात को उद्यान में जाकर छिप गया और सुबह की प्रतीक्षा करने लगा।

इंद्रप्रस्थ में, सुतसोम अपने महल से निकला ही था कि एक ब्राह्मण ने उसे रोकना चाहा; उसने कहा, “राजन्, मैं बहुत दूर से तुम्हें चार गाथाएं सुनने आया हूँ।” सुतसोम बोला, “कविवर, मैं स्नान से लौटकर आपकी गाथा अवश्य सुनूंगा, आप प्रतीक्षा करें।” ब्राह्मण के विश्राम की व्यवस्था करके वह आगे बढ़ गया। चतुरंग सेना से घिरा हुआ सुतसोम उद्यान में पहुंचा। वह सरोवर में प्रवेश करने ही वाला था कि कल्माषपाद एक चीख मारकर बाहर निकल आया, उसकी चीख से सारी सेना घबरा गयी। सुतसोम को एक झटके से अपने कंधे पर उठाकर स्तब्ध खड़े सैनिकों, हाथी और घोड़ों को लांघता हुआ कल्माषपाद रथों को ठुकराता हुआ जंगल की ओर भाग निकला। निग्रोध के आस-पास आकर उसने सुतसोम को कंधे से नीचे उतारा और कहा, “आज तुम्हारी बलि चढ़ाकर मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करूंगा।” सुतसोम कल्माषपाद की कुख्याति सुन चुका था इसलिये उसे समझने में देर न लगी। उसने नरभक्षी से कहा, “मेरी तुमसे एक प्रार्थना है, सुनोगे?” नरभक्षी सुतसोम का धीर-स्थिर मुख देखकर आश्चर्य में पड़ गया। उसने कहा, “हे सुतसोम, क्या कारण है कि तुम अन्य शिकारों की तरह न घबराये हुए हो, न ही रोते हो?” सुतसोम बोला, “मुझे मालूम है कि एक-न-एक दिन मृत्यु होगी ही, अगर आज ही मृत्यु हुई तो उसमें दुःखी होने की क्या बात है! मैंने कोई दुष्कृत्य नहीं किया है, मैंने सत्कार्य ही किये हैं। मैंने माता-पिता की सेवा की है फिर मुझे मृत्यु का डर क्यों हो? तुम एक समय मेरे मित्र रह चुके हो, शिष्य भी, इसलिये एक प्रार्थना है, “मैं जब स्नान करने आ रहा था तब एक गरिष्ठ ब्राह्मण को उसकी गाथाएं सुनकर पुरस्कार देने का वचन दे आया था। मैं अपने वचन को पूरा करके शीघ्र तुम्हारे सामने आ जाऊंगा।” कल्माषपाद हो, करके हंस पड़ा। उसने कहा, “सुतसोम, मृत्यु के जबड़े से निकलकर ऐसा मूर्ख कौन होगा कि फिर उसी दिशा में लौटे?” सुतसोम बोला, “हे मित्र, तुम मुझे अच्छी तरह जानते हो, मैं कभी असत्य नहीं बोलता। मुझपर भरोसा करो, मैं अवश्य लौटूंगा।” नरभक्षी को भरोसा था कि अगर सुतसोम लौटकर न भी आये तो वह उसे फिर से पकड़ लायेगा इसलिये उसने उसे जाने दिया।

अग्निशिखा

जून १९९१

लगा।

ब्राह्मण ने उसे
गाथाएं सुना
पकी गाथा
करके व
पहुंचा। वह
मारकर बाहर
के एक झंढे
को लोभित
ला। निशेध
और कहा,
"सुतसोम
र न लगी।
" नरभक्षी
कहा, "हे
हुए हो, न
मृत्यु होगी
! मैंने कोई
सेवा की है
हो, शिष्य
एक गरीब
या था। मैं
माषपाद हो,
कलकर ऐसा
हे मित्र, तुम
परोसा करो,
टकर न भी
दिया।

सुतसोम को सकुशल आया हुआ देखकर प्रजा हर्ष से पागल हो उठी, सेना की जान में जान आयी। सुतसोम ने अलंकार धारण करके राज-सिंहासन ग्रहण किया। ब्राह्मण को बुलाया और उससे चार गाथाएं सुनाने का आग्रह किया। ब्राह्मण ने सुतसोम को आशीर्वाद देने के बाद कहा, "महाराज, मेरी एक-एक गाथा सौ मुद्राओं की है, अब सुनिये, —

"सत्पुरुषों के साथ एक बार का समागम भी रक्षा करता है, असत्पुरुषों के साथ दीर्घकालीन संगति भी रक्षा नहीं करती। मनुष्य को चाहिये कि सत्पुरुषों के ही साथ रहे, सत्पुरुषों की ही संगति करे, सत्पुरुषों का सधर्म जानने से भला ही होता है, बुरा नहीं। सुचित्रित राज-रथ पुराने पड़ जाते हैं, शरीर जरा को प्राप्त हो जाता है, किंतु सत्पुरुषों (बुद्धों) का धर्म जरा को प्राप्त नहीं होता। संत जन सत्पुरुषों से ऐसा कहते हैं। आकाश दूर है, पृथ्वी दूर है, समुद्र का दूसरा किनारा और भी दूर है। हे राजन्! सत्पुरुषों तथा असत्पुरुषों का धर्म इससे भी दूर, बहुत दूर है।"

इन गाथाओं को सुनकर सुतसोम प्रसन्न हो गया और उसने कहा, "हे ब्राह्मण! मैं आपको सौ नहीं हजार मुद्राएं एक-एक गाथा के लिये देता हूं क्योंकि वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।" यह कहकर उसने चार हजार मुद्राएं ब्राह्मण को दान में दे दीं और वह सुतसोम के गुणगान करता हुआ वहां से चला गया। सुतसोम ने माता-पिता को प्रणाम किया और कहा, "आज्ञा दीजिये, अब मैं नरभक्षी के पास लौट जाना चाहता हूं।" माता-पिता ने बहुत समझाया लेकिन उसने उनकी एक न सुनी।

कल्माषपाद सुतसोम को अपने सामने देखकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने सुतसोम से पूछा, "हे मित्र, किस बल पर तुम फिर से मेरे सामने, मृत्यु के सामने आ गये?" सुतसोम बोला, "हे मित्र, मैं सत्य के बल पर और जिन गाथाओं को सुनकर उन्हें अपने जीवन में उतारता रहा हूं उनके बल पर मृत्यु-भय से मुक्त हूं।" कल्माषपाद बहुत ही उत्सुक होकर बोला, "हे मित्र, तू मुझे भी जो गाथाएं अभी सुनकर आया है सुना, उनसे मुझे लाभ होगा।" सुतसोम ने चारों गाथाएं कल्माषपाद को सुना दीं। उन्हें सुनकर नरभक्षी के हृदय में सद्भावना का संचार हुआ, साथ ही उसे डर भी लगा, उसने सोचा कि इस

सत्यवादी, सत्पुरुष का अगर मैं भक्षण करूंगा तो मेरे सिर के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। यह सुतसोम मेरे लिये हलाहल के बराबर है इसलिये इसे न मासे मैं ही भला है। उत्साह में आकर वह बोला, “मित्र, तुम मेरे आचार्य रह चुके हो। आज फिर से तुमने आचार्य-पद संभाला। मैं तुम्हें चार वर देना चाहता हूँ। मांगो।” सुतसोम बोला, “मैं पहला वर यही चाहता हूँ कि तुझे सौ वर्ष तक नीरोग देख पाऊँ।” नरभक्षी के हृदय में हलचल मच गयी, “ओह! मेरे जैसे पापी के लिये भी इसके हृदय में शुभ-चिन्ता है।” उसके नेत्रों से आंसू बहने लगे। इतने में सुतसोम फिर से बोला, “हे मित्र, मैं निग्रोध पर लटके हुए सौ राजाओं की जीवन-भिक्षा मांगता हूँ और तीसरा वर यह मांगता हूँ कि उन्हें तुम उनके राज्यों में पहुंचा दो। चौथा वर मांगते हुए सुतसोम हिचकिचा रहा था और नरभक्षी अंग-अंग से कांप रहा था क्योंकि उसने समझ लिया था कि अब सुतसोम उसे नरभक्षण से रोकेगा। दोनों मित्रों में चर्चा होती रही कि अंत में आंखों में आंसू भरकर नरभक्षी बोला, “आचार्य, नर-मांस मेरा प्रिय भोजन रहा है जिसके लिये मैंने राज्य त्यागा, समृद्धि छोड़ी, परिवार छोड़ा, लेकिन आज वचनबद्ध होकर मैं उस अतिप्रिय भोजन को भी छोड़ रहा हूँ।” सारे जंगल के देवता अंतरिक्ष से साधु-साधु कहने लगे। सुतसोम ने कल्माषपाद की सहायता की और सब राजाओं को नीरोग करके उनके राज्यों में पहुंचा दिया। अंत में वाराणसी जाकर कल्माषपाद की प्रजा और उसके परिवार को समझा कर उसे पुनः वाराणसी के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। इस तरह सुतसोम ने जंबूद्वीप के कई राजाओं से दृढ़ मित्रता प्राप्त की और अपने पुण्य मित्र का भी उद्धार किया।

वही पुराना जंबूद्वीप जो आज भारत कहलाता है एक नहीं अनेक नरभक्षियों से भर गया है। निश्चय ही भारत मां बांझ नहीं हो गयी है। उसकी कोख से अनेक सुतसोम उत्पन्न होकर केवल उसका ही नहीं, मानवजाति का उद्धार करेंगे। हम उनके स्वागत की तैयारी करें।

—अनुवर्त

दैनन्दिनी

1. बहुत कम, बहुत ही कम, बल्कि नगण्य संख्या में ऐसे लोग हैं जो मंदिर या गिरजाघर में सच्ची धार्मिक भावना से जाते हों, यानी जो भगवान् से कुछ मांगने या किसी चीज की याचना करने की जगह अपने-आपको समर्पित करने, कृतज्ञता अर्पित करने, या अभीप्सा करने के लिये जाते हों। हजारों में शायद एक ही ऐसा हो।
2. हृदय की गहराइयों में केंद्रित और नीरव भक्ति जो सेवा-कार्यों और आज्ञाकारिता में प्रकट होती है, चीखती, चिल्लाती और रोती-बिलखती भक्ति से कहीं अधिक शक्तिशाली, अधिक सच्ची और अधिक दिव्य है।
3. ब्रह्म सारे विश्व में विद्यमान हैं; प्रत्येक वस्तु, चाहे वह कितनी ही निर्जीव हो, जीवन का कोई भी रूप, चाहे वह कितना ही धिनौना क्यों न हो, भगवान् की उपस्थिति से लबालब भरा हुआ है।
4. भगवान्-गुरु का शिष्यत्व, भागवत-पिता के प्रति संतान-भाव, भगवान्-मां की कोमलता, दिव्य मित्र के हाथ में हाथ धरना, अपने सखा और खेल के साथी के साथ हंसी-खेल, भागवत-प्रभु के प्रति आनंदपूर्ण दास्य भाव, हमारे दिव्य प्रेमी का उल्लासपूर्ण प्रेम; ये मानव शरीर में जीवन के सात परमानंद हैं। क्या तुम इन्हें इंद्रधनुषी और चरम संबंध की इकाई में जोड़ नहीं सकते? फिर तुम्हें स्वर्ग की आवश्यकता नहीं रहेगी और तुम अद्वैतवादी की मुक्ति के परे चले जाओगे।
5. सभी देवताओं में हमें उसी भगवान् को देखना है जिसकी हम अपने हृदय से और पूरी सत्ता से पूजा करते हैं। वे सब उनकी दिव्यता के रूप हैं।
6. कृतज्ञता के आनंद के जैसा आनंद तुम्हें कोई और चीज नहीं दे पाती। तुम किसी पक्षी को गाते हुए सुनते हो, एक सुंदर पुष्प को देखते हो, शिशु की ओर निहारते हो, उदारता का कोई कार्य देखते हो, एक सुंदर वाक्य पढ़ते हो, सूर्यास्त देखते हो, ऐसी कोई भी चीज हो सकती है; और तत्क्षण तुम्हारे अंदर यह जाग उठता है, इसी तरह का भाव—इतना

गहरा, इतना तीव्र — कि जगत् भगवान् को अभिव्यक्त कर रहा है, कि जगत् के पीछे कोई ऐसी चीज है जो भागवत है।

७. जब हमारे विचार भगवान् की ओर मुड़ें और हम अपने-आपको उन्हें दे दें तब सब कितना सुंदर, भव्य, सरल और शांत हो जाता है !
८. हम केवल स्वाधीन भारत नहीं, महान् भारत चाहते हैं। राष्ट्रों के बीच अपना उचित स्थान ग्रहण कर भारत मानवजाति के जीवन को वह देगा जो वही दे सकता है। मनुष्य जिस महानतम ज्ञान और अत्यंत विपुल समृद्धि को पा सकता है वे उसे विरासत में प्राप्त हैं; मानवजाति जिसका प्रतीक्षा कर रही है, वह भारत के पास है।
९. दिव्य और शाश्वत मां के आगे आत्म-समर्पण चाहे कितना भी कठिन हो पर वहीं हमारा एकमात्र सार्थक उपाय और एकमात्र चिरस्थायी शरण है।
१०. जैसे एक अंधकारमय पथ है वैसे ही एक सूर्यालोकित पथ भी है और वही ज्यादा अच्छा है — ऐसा पथ जिसपर मां पर पूर्ण विश्वास रखकर किसी से डरे बिना, किसी चीज के लिये दुःखी हुए बिना तुम आगे बढ़ते जाते हो। अभीप्सा की जरूरत है किंतु वह प्रकाशपूर्ण श्रद्धा, विश्वास और आनंद से भरी हुई अभीप्सा हो सकती है। अगर विपत्तियां आयें तो उनका सामना भी मुस्कान से किया जा सकता है।
११. मैं यूरोपीय जीवन के बर्बर आराम और भारी-भरकम दिखावे को संस्कृति का नाम नहीं दे सकता। जो मनुष्य अपनी आत्मा में मुक्त नहीं होते और अपने नियत कार्यों में उदात्त भाव से लयबद्ध नहीं होते, वे सुसंस्कृत नहीं हो सकते।
१२. सौंदर्य क्या है ? स्वयं भगवान्, जो अपने आनंद की शक्ति के द्वा जगत् में पूर्ण अभिव्यक्ति की खोज में हैं।
१३. जहां घमासान संघर्ष हो, वहीं आत्मा के वीर को रहना चाहिये। यह अमृत-पुत्र का सर्वोच्च चुनाव है।
१४. जो आत्मा विश्व के साथ एक हो गयी है उसीको पृथ्वी पुकारती है क्योंकि उसे उस आत्मा की सबसे अधिक आवश्यकता है।
१५. एक शिशु की भांति बने रहो, अपने-आपको श्रीमां को अर्पण करो, उन्हें

अग्निशिखा
जून १९९१

- अपना भार वहन करने दो तब तुम्हारे लिये कोई खतरा न रहेगा ।
१६. स्कावटों और विरोधों से डरे बिना साहसिक कार्य सुंदरम् और सत्यम् के लिये युद्ध करता है ।
१७. अपने अंदर जियो, हृदय की गहराई में, तब कोई भी, किसी भी चीज में तुम्हें परेशान करने की शक्ति न होगी ।
१८. भगवान् को जिया जा सकता है, उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती ।
१९. जिस पूर्णता को तुम्हें चरितार्थ करना है, इस जीवन में आवश्यक रूप से नहीं, वह पूर्णता भगवान् हैं ।
२०. भगवान् कहीं दूर नहीं हैं । वे हमारे अंदर गहराई में हैं और भावों और विचारों से परे हैं ।
२१. व्यवस्था के लिये अनुशासन अनिवार्य शर्त है ।
२२. अगर तुम जीवन में कुछ चरितार्थ करना चाहो तो तुम्हें अपने-आपको अनुशासित करना पड़ेगा ।
२३. हमारे अंतरतम केंद्र में एक स्वाधीन, विशाल और जानकार सत्ता विद्यमान है जो हमारे खोजने की प्रतीक्षा में है ।
२४. असांजस्य के बाह्य कारणों की अपेक्षा आंतरिक कारणों की ओर देखो ।
२५. केवल पूर्ण विश्वास और कृतज्ञता में अपने-आपको समर्पित करने से ही कठिनाइयों को पार किया जा सकता है ।
२६. कठिनाइयां संभावनाओं का संकेत हैं ।
२७. अगर हम कठिनाइयों को प्रगति करने का सार्थक उपाय मान लें तो उनकी कटुता लुप्त हो जायेगी और उन्हें सहन करना आसान होगा ।
२८. अपनी समस्याएं भगवान् के सुपुर्द कर दो । वे तुम्हें सब कठिनाइयों से बाहर ले आयेंगे ।
२९. धरती पर कठिन घड़ियां आती हैं ताकि वे मनुष्य को अपने छोटे व्यक्तिगत अहम् से निकलने के लिये बाधित करें और मनुष्य सहायता और प्रकाश के लिये पूरी तरह भगवान् की ओर मुड़े ।
३०. जिनका हृदय शुद्ध है और जिनमें दृढ़ श्रद्धा है, उनके लिये बुरी-से-बुरी पराजय भी वह गुप्त मार्ग है जो उन्हें अंतिम विजय की ओर ले जाता है ।

एक साधिका के नाम माताजी के पत्र

हम पृथ्वी के इतिहास के एक संक्रमणकालीन क्षण में हैं। यह शाश्वत काल में केवल एक क्षण है लेकिन मानव जीवन की तुलना में यह मुहूर्त लंबा है। जड़-भौतिक अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिये तैयार करने के लिये बदल रहा है, परंतु मानव शरीर काफी नमनशील नहीं है और प्रतिरोध करता है; इसी कारण अबोधगम्य अवस्थाओं और रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और चिकित्साशास्त्र के लिये एक समस्या बन गयी है।

इसका उपाय है कार्यरत दिव्य शक्तियों के साथ ऐक्य और विश्वास तथा शांतिभरी ग्रहणशीलता जो कार्य को ज्यादा सरल बना देंगे।

१८ नवंबर, १९७१

जो आजकल प्रगति करना चाहते हैं उनके लिये बहुत विशेष अवसर है क्योंकि रूपांतर शुरू होता है नयी शक्तियों की क्रिया की ओर चेतना के खुलने से। इस तरह व्यक्तियों को भागवत प्रभाव के प्रति अपने-आपको खोलने का अनोखा और अद्भुत अवसर प्राप्त है।

२० नवंबर, १९७१

व्यक्तिगत जीवन का प्रयोजन है भगवान् को खोजने और उनके साथ एक होने का आनंद। जब तुम यह बात समझ लो तो तुम सभी कठिनाइयों को पार करने की शक्ति पाने के लिये तैयार होते हो।

२२ नवंबर, १९७१

निम्न प्रकृति पर विजय बाह्य सफलता की अपेक्षा अधिक गहरा और स्थायी आनंद देती है।

२४ नवंबर, १९७१

१९९९

श्रीअरविंद ने हमें कुछ अद्भुत चीजें बतलायी हैं जिन्हें भविष्य धरती पर लायेगा और प्रोत्साहन दिया है कि हम अपने-आपको उसके लिये तैयार करें।

२७ नवंबर, १९७१

हर एक के अंदर अपने अहंकार होते हैं और सभी अहंकार एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। आदमी स्वतंत्र सत्ता तभी बन सकता है जब वह अहंकार से पंछा छुड़ा ले।

स्वतंत्र होने के लिये तुम्हें पूरी तरह केवल भगवान् का ही होना चाहिये।

३ दिसंबर, १९७१

जीवन की कठिन घड़ियों में हर एक का अत्यावश्यक कर्तव्य है भगवान् के प्रति समग्र, अप्रतिबंध आत्म-निवेदन में अपने अहंकार पर विजय पाना। तब भगवान् तुमसे वही करवायेंगे जो तुम्हें करना चाहिये।

४ दिसंबर, १९७१

परम प्रभो, अनंत प्रज्ञा !

इस संकटमय घड़ी में जब अहंकार टकरा रहे हैं और अपने अधिकार पर डटे हैं, केवल तेरी शरण में ही सुरक्षा है !

वर दे कि हमारे अंदर कोई भी चीज तेरी इच्छा की परिपूर्ति में बाधक न हो।

वर दे कि हम तेरी इच्छा की परिपूर्ति में सचेतन और प्रभावकारी सहयोगी बनें।

५ दिसंबर, १९७१

धरती पर कठिन घड़ियां मनुष्यों को अपने तुच्छ निजी अहंकार को जीतने और सहायता तथा प्रकाश की ओर मुड़ने के लिये बाधित करने के लिये आती हैं। मनुष्यों की बुद्धिमत्ता अज्ञानमय है, केवल भगवान् जानते हैं।

७ दिसंबर, १९७१

अग्निप्रिया

जून १९९९

हमारी मानव चेतना में ऐसी खिड़कियां हैं जो शाश्वत में खुलती हैं। लेकिन मनुष्य साधारणतः इन खिड़कियों को सावधानी से बंद रखते हैं। हमें उन्हें पूरी तरह खोल देना और शाश्वत को आजादी से अपने अंदर आने देना चाहिए ताकि वह हमें रूपांतरित कर सके।

खिड़कियां खोलने के लिये दो शर्तें जरूरी हैं :

१. तीव्र अभीप्सा।
२. अहंकार का उत्तरोत्तर विलय।

जो सचाई के साथ काम में लगते हैं उनके लिये भागवत सहायता निश्चित है।

८ दिसंबर, १९७१

व्यष्टिगत सत्ता को बनाने के लिये अहंकार जरूरी था, इसलिये उसका नाश कठिन है। इसका एक बहुत अच्छा यद्यपि ज्यादा कठिन तरीका है, उसे रूपांतरित करके भगवान् का यंत्र बनाना।

जो अहंकार परिवर्तित और पूरी तरह भगवान् को निवेदित हो जाते हैं वे विशेष रूप से शक्तिशाली और प्रभावी यंत्र बन सकते हैं।

प्रयास कठिन है और एक संपूर्ण और दृढ़ सचाई की मांग करता है लेकिन जिनमें प्रबल इच्छाशक्ति, तीव्र अभीप्सा और निष्कंप सचाई हो उनके लिये हाथ में लेने योग्य है।

जैसे-जैसे क्रिया आगे बढ़ती है, हर व्यक्ति के लिये तरकीब क्रियान्वित होती जाती है क्योंकि हर अहंकार का अपना स्वभाव होता है और हर एक को विशेष तरकीब की जरूरत होती है। सबके लिये जो गुण अनिवार्य हैं वे हैं संपूर्ण अध्यवसाय और सचाई। अपने-आपको धोखा देने के लिये जरा-सी वृत्ति सफलता को असंभव बना देती है।

९ दिसंबर, १९७१

तुम्हारे लिये शुरू करने का सबसे अच्छा तरीका है अपनी चैत्य सत्ता को खोजो, और उसे अपनी सभी आंतरिक गतिविधियों का साक्षी बनाकर उसमें

अग्रिमि
जून १९९१

हैं। लेकिन एकप्र होओ, तुम्हें जो कुछ करना और नहीं करना चाहिये उसका निर्णायक बनओ और अपनी बाह्य प्रकृति को उसके निर्णय के आधीन बनाने की कोशिश करो।
११ दिसंबर, १९७१

चैत्य सत्ता दिव्य उपस्थिति का व्यक्तिगत कोष है।
वह सभी विचारों के परे हमारे अंदर की गहराई में पायी जाती है।
११ दिसंबर, १९७१

चैत्य के संदेश मानसिक रूप में नहीं आते। वे भाव या तर्क-वितर्क नहीं होते। उनका अपना स्वभाव होता है, मन से एकदम अलग, एक ऐसे भाव की तरह जो अपने-आपको समझता और क्रिया करता है।
अपनी प्रकृति के अनुसार चैत्य निश्चल, स्थिर, प्रकाशमय, समझदार, उदार, विस्तृत और प्रगतिशील होता है। वह सदा समझने और प्रगति करने का प्रयास करता है।

मन वर्णन करता और व्याख्या करता है।

चैत्य देखता और समझता है।

१३ दिसंबर, १९७१

चैत्य धरती पर अपने उत्तरोत्तर जीवनों में प्रगतिशील रूप के बारे में सचेतन होता है इसलिये उसे अपने पिछले जीवनों की महत्वपूर्ण घटनाओं की याद होती है।

चैत्य ने पृथ्वी पर अपने इन भौतिक जीवनों में जितना अधिक भाग लिया उसकी स्मृतियां उतनी ही अधिक और यथार्थ होंगी।

१४ दिसंबर, १९७१

मनुष्यों के बीच में अकेलेपन का अनुभव करना इस बात का चिह्न है कि तुम अपनी सत्ता के अंदर भगवान् की उपस्थिति के साथ संपर्क पाने की

आवश्यकता अनुभव कर रहे हो। अतः तुम्हें नीरवता में एकाग्र होना चाहिये और सभी मानसिक क्रियाओं के परे भीतर की गहराइयों में प्रवेश करके अपने चेतना की गहराइयों में भागवत उपस्थिति को खोज निकालना चाहिये।
१६ दिसंबर, १९७१

एक ऐसा क्षण आता है जब भागवत उपस्थिति के बिना जीवन असह्य हो उठता है। अतः अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो तो तुम प्रकाश में उठ आओगे।
१७ दिसंबर, १९७१

भगवान् के साथ सचेतन सायुज्य का क्षण, चाहे जितना भी प्रबल प्रतिरोध क्यों न हो, उसे छिन्न-भिन्न कर सकता है।
१८ दिसंबर, १९७१

नीरवता में अधिकतम ग्रहणशीलता रहती है और निश्चल-नीरवता में बड़े-से-बड़ा कार्य किया जाता है।

आओ, हम नीरव होना सीखें, ताकि प्रभु हमारा उपयोग कर सकें।
१९ दिसंबर, १९७१

जब हम अपनी चेतना से समस्त पराजयवाद को निकाल फेंकेंगे तो हम सिद्धि की दिशा में एक बहुत बड़ी छलांग लगायेंगे।

भागवत कृपा में अपनी श्रद्धा को पूर्ण करके हम अवचेतना के पराजयवाद पर विजय पा सकेंगे।
२० दिसंबर, १९७१

भौतिक जगत् के दुःख-दैन्य को समाप्त करने के लिये, जो अवचेतन निराशावाद के कारण हैं, भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य और संपूर्ण अभिव्यक्ति ही अनन्य उपाय हैं। केवल भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य में ही चेतना का

पराजय आने
जीवन का स
२१ दिसंबर,

यह जान
सचेतन ऐक्य
एकमात्र
सभी प
ज्ञानना।

२२ दिसंबर

प्रभो, मे
में अपन
२४ दिसंबर

अपनी
सकते हैं व
के लिये स
करता है वि
है, क्योंकि
बिना अपने

अगर
आनंद का
जायेंगे। ते
हर एक
तुम्हारे अंद

कृ. १९९१

शाश्वत आनंद में आविर्भाव हो सकता है। और यह सचेतन ऐक्य ही पार्थिव जीवन का सच्चा लक्ष्य है।

२१ दिसंबर, १९७१

यह जानना कि हम क्यों जीते हैं : भगवान् की खोज और उनके साथ सचेतन ऐक्य।

एकमात्र इसी उपलब्धि पर एकाग्र होने की अभीप्सा करना।

सभी परिस्थितियों को इस लक्ष्य तक पहुंचने के साधन में रूपांतरित करना जानना।

२२ दिसंबर, १९७१

प्रार्थना

प्रभो, मेरे अंदर तुम्हें जानने की तीव्र इच्छा जागे।

मैं अपना जीवन तुम्हारी सेवा के लिये अर्पित करने की अभीप्सा करती हूँ।

२४ दिसंबर, १९७१

अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये जो अच्छी-से-अच्छी चीज हम कर सकते हैं वह है अपने अंदर समस्त अहंकार पर विजय पाना और इस रूपांतर के लिये सतत प्रयास करना। मानव अहं इस कारण अपदस्थ होने से इंकार करता है कि और लोग रूपांतरित नहीं हुए हैं। लेकिन वही दुर्भावना का किला है, क्योंकि हर एक का कर्तव्य है और लोग क्या करते हैं उसकी परवाह किये बिना अपने-आपको रूपांतरित करना।

अगर लोग जानें कि यह रूपांतर, अहंकार का लोप सतत शांति और आनंद का एकमात्र मार्ग है तो वे आवश्यक प्रयास करने के लिये तैयार हो जायेंगे। तो उनके अंदर यह विश्वास जागना चाहिये।

हर एक से बार-बार कहना चाहिये : अपने अहंकार को लुप्त कर दो तो तुम्हारे अंदर शांति का राज्य होगा।

भगवान् की सहायता हमेशा सच्ची अभ्युत्थान को उत्तर देती है।
२५ दिसंबर, १९७१

मनुष्य अपने जीवन में जैसी मनोवृत्ति अपनाते हैं उसके अनुसार उन्हें चार वर्गों में बांटा जा सकता है :

१—वे जो स्वयं अपने लिये जीते हैं। वे हर चीज के बारे में अपने संबंध में ही सोचते हैं और उसीके अनुसार कार्य करते हैं। मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या इसी तरह की है।

२—ऐसे लोग जो अपना प्रेम किसी और मनुष्य को देते और उसीके लिये जीते हैं। परिणाम-स्वरूप हर चीज स्वभावतः उस व्यक्ति पर निर्भर होती है जिसे प्रेम के लिये चुना जाता है।

३—ऐसे लोग जो अपना जीवन मानवजाति की सेवा के लिये अर्पित करते हैं मानवजाति की किसी ऐसी सेवा द्वारा जो निजी संतोष के लिये न होकर, बिना हिसाब-किताब के और कार्य से किसी निजी लाभ की आशा किये बिना, सचमुच दूसरों के लिये उपयोगी हो।

४—ऐसे लोग जो अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को देते हैं और केवल उन्हींके लिये और उन्हींके द्वारा जीते हैं। इसका मतलब होता है भगवान् को पाने के लिये आवश्यक प्रयास करना, उनकी इच्छा के बारे में सचेतन होना और ऐकांतिक रूप से उनकी सेवा के लिये कार्य करना।

पहली तीन श्रेणियों में आदमी स्वभावतः दुःख-दैन्य और निराशा के स्वाभाविक नियम के आधीन होता है।

केवल अंतिम वर्ग में—अगर तुम उसे पूरी सचाई के साथ चुनो और अखूट धीरज के साथ उसके पीछे लगे रहो तो तुम पूर्ण परिपूर्ति और सतत प्रकाशमान शांति की निश्चिति पाते हो।

२६ दिसंबर, १९७१

सुखी होने के लिये मत जियो, भगवान् की सेवा करने के लिये जियो। तब तुम जो सुख भोगोगे वह सभी आशाओं से बढ़कर होगा।

२८ दिसंबर, १९७१

अग्निशिखा

सू. ११९१

र उन्हें चा

अपने संबंध

बहुत बढ़े

उसीके लिये

भर होती है

प्रर्पित करते

न होकर,

किये बिना,

और केवल

भगवान् के

चेतन होना

निराशा के

चुनो और

और सतत

जियो। तब

हम पृथ्वी के इतिहास के एक निर्णायक मुहूर्त में हैं। वह अतिमानस के अने की तैयारी कर रहा है और इस कारण जीवन की प्राचीन पद्धति अपना रूप खोती जा रही है। हमें इसकी नयी मांगों के बावजूद साहस के साथ प्रकृति के मार्ग पर आगे बढ़ते चलना है। जो तुच्छताएं एक समय सही जा सकती थीं वे अब नहीं सही जा सकतीं। जो आनेवाला है उसे ग्रहण करने के लिये हमें अपने-आपको विस्तृत करना चाहिये।

११ दिसंबर, १९७१

सृष्टि का परिणाम है चेतना का व्योरेवार गुणन।

जब समग्र की दृष्टि और सभी व्योरों की दृष्टि एक सक्रिय चेतना में मिलकर एक हो जायेंगी तो सृष्टि अपनी प्रगतिशील पूर्णता प्राप्त कर लेगी।

८ जनवरी, १९७२

देश और काल में किन्हीं दो मनुष्यों की एक-सी चेतना नहीं होती और इन सभी चेतनाओं का योगफल भागवत चेतना की एक आंशिक और घटी हुई अभिव्यक्ति होती है।

इसीलिये मैंने “प्रगतिशील पूर्णता” कहा, क्योंकि व्योरे की चेतना की अभिव्यक्ति अनंत और अविरत होती है।

१ जनवरी, १९७२

पहली शर्त है कि अपने निजी हितों को लक्ष्य न बनाओ।

पहले गुण जिनकी जरूरत है वे हैं : बहादुरी, साहस और अध्यवसाय।

और फिर इस बारे में सचेतन होना कि तुम्हें जो जानना चाहिये उसकी तुलना में तुम कुछ भी नहीं जानते। तुम्हें जो करना चाहिये उसकी तुलना में तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें जो होना चाहिये उसकी तुलना में तुम कुछ भी नहीं हो।

तुम्हारी प्रकृति में जिस चीज की कमी है उसे प्राप्त करने के लिये, जो अभीतक तुम नहीं जानते उसे जानने के लिये, जो अभीतक तुम नहीं कर सकते उसे करने के लिये एक अपरिवर्तनशील संकल्प होना चाहिये।

अग्निशिखा

जून १९९९

निजी कामनाओं के अभाव से आनेवाली ज्योति और शांति में तुम्हें सदा प्रगति करते रहना चाहिये ।

तुम अपना कार्यक्रम बना सकते हो :

“हमेशा अधिक अच्छा और आगे !”

और केवल एक ही लक्ष्य हो : भगवान् को जानना ताकि उन्हें अभिव्यक्त कर सको ।

दृढ़ बने रहो और तुम आज जो नहीं कर सकते उसे कल कर पाओगे ।
११ जनवरी, १९७२

माताजी, क्या अपने अंदर रोगमुक्त करने की क्षमता विकसित करना संभव है ?

सिद्धांत रूप में, सचेतन रूप से, दिव्य शक्ति के साथ एक होने से सब कुछ संभव है ।

लेकिन उपाय खोजना होगा और यह व्यक्ति और स्थिति पर निर्भर है ।

पहली शर्त है ऐसी भौतिक प्रकृति जो औरों से ऊर्जा खींचने की जगह ऊर्जा देती है ।

दूसरी अनिवार्य शर्त है यह जानना कि ऊपर से, अक्षय, निर्वैयक्तिक स्रोत से ऊर्जा को कैसे खींचा जाये ।

१२ जनवरी, १९७२

इस तरीके से तुम जितना अधिक खर्च करते हो उतना अधिक पाते हो, और एक ऐसा बरतन बनने की जगह जो अपने-आपको देकर खाली कर लेता है, एक अक्षय धारा बन जाते हो ।

दृढ़ अभीप्सा द्वारा ही तुम सीखते हो ।

१३ जनवरी, १९७२

सुखी तथा सफल जीवन के लिये सच्चाई, नम्रता, अध्यवसाय और प्रगति

अग्निशिखा

जून १९९१

तुम्हें सदा

के लिये कभी न बुझनेवाली प्यास जरूरी हैं। सबसे बढ़कर यह कि तुम्हें विश्वास हो कि प्रगति की संभावना असीम है। प्रगति यौवन है; तुम सौ वर्ष की उम्र में भी युवक हो सकते हो।

१४ जनवरी, १९७२

अभिव्यक्त

पाओगे।

जब शरीर बढ़ती हुई पूर्णता की ओर सतत प्रगति करने की कला सीख ले तो हम मृत्यु की अनिवार्यता पर विजय पाने के पथ पर अग्रसर होंगे।

१६ जनवरी, १९७२

सित करना

अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य उद्देश्य मान लिया जाये तो बहुत-सी कठिनाइयों को अपना समाधान मिल जायेगा।

बूढ़ा होने से बचने का सबसे अच्छा उपाय है प्रगति को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना।

१८ जनवरी, १९७२

भर है।

की जगह

सदा सीखना, बौद्धिक नहीं मनोवैज्ञानिक रूप से, स्वभाव में प्रगति करना, अपने अंदर गुण पैदा करना और दोष ठीक करना ताकि हर चीज हमें अज्ञान और अक्षमता से मुक्त करने के लिये अवसर हो सके—तब जीवन बहुत अधिक रुचिकर और जीने योग्य बन जाता है।

२७ जनवरी, १९७२

क पाते हो,

कर लेता

श्रीअरविंद धरती पर अतिमानसिक जगत् की घोषणा करने आये। उन्होंने केवल अभिव्यक्ति की यह घोषणा ही नहीं की बल्कि आंशिक रूप से अतिमानसिक शक्ति को मूर्त रूप भी दिया और हमारे आगे उदाहरण रखा कि हमें अपने-आपको इस अभिव्यक्ति के लिये तैयार करने के लिये क्या करना चाहिये। जो सबसे अच्छी चीज हम कर सकते हैं वह यह है कि उन्होंने हमसे जो कुछ कहा है उस सबका अध्ययन करें, उनके उदाहरण का अनुसरण करने की कोशिश करें और अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिये तैयार करें।

और प्रगति

इससे जीवन को अपना सच्चा अर्थ मिलता है और यह हमें सभी वि-
बाधाओं को जीतने में सहायता देगा।

आओ, हम नयी सृष्टि के लिये जियें और हम युवा रहते और प्रगति करते
हुए अधिकाधिक मजबूत बनते जायेंगे।

३० जनवरी, १९७२

वे ऊर्जाएं जिनका उपयोग मनुष्य प्रजनन के लिये करते हैं और जिनका
उनके जीवनो में इतना अधिक महत्त्व है, उनका, इसके विपरीत उदात्तीकरण
करके प्रगति और उच्चतर विकास के लिये उपयोग होना चाहिये ताकि नयी
जाति के आगमन की तैयारी हो। लेकिन उससे पहले प्राण और भौतिक को
समस्त कामनाओं से मुक्त होना चाहिये अन्यथा मुसीबत का सामना समझो।

३१ जनवरी, १९७२

पहली चीज जो भौतिक चेतना को समझनी चाहिये वह यह है कि जीवन
में हमें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वे सब इस तथ्य से आती
हैं कि हमें जिस सहायता की आवश्यकता है उसके लिये हम ऐकांतिक रूप से
भगवान् पर निर्भर नहीं रहते।

केवल भगवान् ही हमें वैश्व प्रकृति की यांत्रिकता से मुक्त कर सकते हैं।
और यह मुक्ति नयी जाति के जन्म और विकास के लिये अनिवार्य है।

पूर्ण विश्वास और कृतज्ञता के साथ अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के
अर्पण करने से ही कठिनाइयों पर विजय मिलेगी।

१ फरवरी, १९७२

जीवन में शांति और आनंद के लिये आवश्यक शर्त है पूरी सच्चाई के
साथ वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं। लगभग सभी मानव दुर्गतियां इस
तथ्य से आती हैं कि हमें प्रायः हमेशा यह विश्वास होता है कि हम भगवान् की
अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि हमें क्या चाहिये और जीवन को हमें
क्या देना चाहिये। अधिकतर मनुष्य चाहते हैं कि दूसरे मनुष्यों को उनकी

प्रत्याशाओं
पुष्टि करने
कामनाओं
आता है उ
कर देते हैं
चैत्य

साथ एक
कामनाओं
४ फरवरी

हर ए
की सहाय
उपलब्ध

५ फरवरी

हमारी
हमारी चे
सभी तु
के लिये

६ फरवरी

अतः

सर्वशक्ति

बाकी

७ फरवरी

जब

था। स

जून १९९१

प्रत्याशाओं की पुष्टि करनी चाहिये और परिस्थितियों को उनकी कामनाओं की पुष्टि करनी चाहिये—इसीलिये वे कष्ट भोगते और दुःखी रहते हैं।

कामनाओं के लोप से जो शांति और निश्चल आनंद प्राप्त होता है वह तभी आता है जब हम अपने-आपको पूरी सच्चाई के साथ भागवत इच्छा के अर्पण कर देते हैं।

चैत्य सत्ता इस बात को निश्चय के साथ जानती है; इसलिये अपने चैत्य के साथ एक होकर हम उसे जान सकते हैं, लेकिन पहली शर्त है अपनी कामनाओं के आधीन न होना और उन्हें अपनी सत्ता का सत्य न मान बैठना।

४ फरवरी, १९७२

हर एक के लिये पहली आवश्यकता है उसका अपना रूपांतर और जगत् की सहायता करने का सबसे अच्छा तरीका है अपने-आप भगवान् को उपलब्ध करना।

५ फरवरी, १९७२

हमारी सत्ता की गहराइयों में, चिंतन की नीरवता में एक ज्योतिर्मयी शक्ति हमारी चेतना में एक विशाल और ज्योतिर्मयी शांति की बाढ़ ले आती है जो सभी तुच्छ प्रतिक्रियाओं पर अभिभूत होती है और हमें भगवान् के साथ ऐक्य के लिये तैयार करती है—जो वैयक्तिक जीवन का एकमात्र प्रयोजन है।

६ फरवरी, १९७२

अतः जीवन का प्रयोजन और उद्देश्य दुःख और संघर्ष नहीं, एक सर्वशक्तिमान् और सुखी उपलब्धि है।

बाकी सब कुछ दुखद भ्रम है।

७ फरवरी, १९७२

जब पहले मानवजाति की रचना हुई तो अहंकार एक करनेवाला उपकरण था। सत्ता की विभिन्न अवस्थाएं अहं के चारों ओर वर्गीकृत थीं लेकिन अब

जब अतिमानसिकता के जन्म की तैयारी हो रही है, अहंकार को लुप्त होना और चैत्य सत्ता को स्थान देना होगा जो भागवत हस्तक्षेप द्वारा मानव सत्ता में भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हो रही है।

चैत्य अमर है और चैत्य द्वारा धरती पर अमरता को प्रकट किया जा सकता है।

तो अब महत्त्वपूर्ण काम है अपने चैत्य को पाना, उसके साथ एक होना और उसे अहंकार का स्थान लेने देना। अहंकार या तो परिवर्तित होने या लुप्त हो जाने के लिये बाधित होगा।

८ फरवरी, १९७२

पथ पर मनुष्य जो पहली चीज सीखता है वह यह है कि देने का आनंद पाने के आनंद से कहीं अधिक बढ़कर है।

तब तुम धीरे-धीरे सीखते हो कि अपने-आपको भूल जाना निर्विकार शांति का स्रोत है। बाद में इस आत्म-विस्मृति में तुम भगवान् को पाते हो और वही सदा बढ़ते रहनेवाले आनंद का स्रोत हैं।

श्रीअरविंद ने एक दिन मुझसे कहा था कि अगर मनुष्य यह जान लें और उन्हें इसपर विश्वास हो जाये तो वे सबके सब योग करना चाहेंगे।

९ फरवरी, १९७२

मानव चेतना इतनी ज्यादा भ्रष्ट है कि मनुष्य भगवान् के प्रति सच्चे समर्पण से प्राप्त होनेवाले ज्योतिर्मय आनंद की अपेक्षा अहंकार के दुःख-दैन्य और उसके अज्ञान को अधिक पसंद करते हैं। उनका अंधापन इतना अधिक है कि वे परीक्षण करने से भी इंकार करते हैं और दुःख-दैन्य से पिंड छुड़ाने के लिये प्रयास करने की अपेक्षा उसके आधीन होना ज्यादा पसंद करेंगे।

वे इतने अंधे हैं कि अपने-आपको भगवान् के अर्पित करने की जगह वे भगवान् को अपने अहंकार का दास बनाने से भी संकोच न करेंगे—यदि ऐसी बात संभव हो सके।

१० फरवरी, १९७२

परम
सकें और
११ फरवरी

हम
"परम
कर सकें
बनने के
में सचेतन
के साथ
परम
१४ फरवरी

जो ल
तीन मुख
१—
२—
साथ सम
३—
करना।
दूसरे
१—
२—
३—
बनाते र
अधि
चीजों से
हैं। अ
ग्रहणशी

जून १९९१

परम प्रभो, हमें नीरव होना सिखला। इस नीरवता में हम तेरी शक्ति पा सकें और तेरी इच्छा को समझ सकें।

११ फरवरी, १९७२

हम भगवान् के सच्चे सेवक बनना चाहते हैं।

“परम प्रभो, पूर्ण चेतना, केवल तुम ही जानते हो कि हम क्या हैं; हम क्या कर सकते हैं, हम जैसे तुम्हारी सेवा करना चाहेंगे उस तरह करने के योग्य बनने के लिये हमें क्या प्रगति करनी चाहिये। हमें अपनी संभावनाओं के बारे में सचेतन बनाओ, साथ ही हमारी कठिनाइयों के बारे में भी ताकि हम निष्ठा के साथ तुम्हारी सेवा करने के लिये उनपर विजय पा सकें।”

परम सुख है भगवान् के सच्चे सेवक बनने में।

१४ फरवरी, १९७२

जो लोग हमेशा प्रगति करते रहना चाहते हैं उनके लिये प्रगति करने के तीन मुख्य मार्ग हैं :

१—अपनी चेतना के क्षेत्र को विस्तृत करना।

२—हम जो कुछ जानते हैं उसे ज्यादा अच्छी तरह और ज्यादा पूर्णता के साथ समझना।

३—भगवान् को पाना और उनकी इच्छा के प्रति अधिकाधिक समर्पण करना।

दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हुआ :

१—यंत्र की क्षमताओं को सदा समृद्ध करते रहना।

२—इस यंत्र की क्रियाशीलता को सदा बिना रुके पूर्ण बनाते रहना।

३—इस यंत्र को भगवान् के प्रति अधिकाधिक ग्रहणशील और आज्ञाकारी बनाते रहना।

अधिकाधिक चीजों को समझना और करना सीखना। अपने-आपको ऐसी चीजों से शुद्ध करना जो तुम्हें भगवान् के प्रति संपूर्ण समर्पण करने से रोकती हैं। अपनी चेतना को भागवत प्रभाव के प्रति अधिकाधिक सचेतन और ग्रहणशील बनाना।

हम कह सकते हैं : अपने-आपको अधिकाधिक विस्तृत करना, अपने-आपको अधिकाधिक गहरा बनाना, अपने-आपको अधिकाधिक पूर्ण रीति में अर्पित करना ।

१५ फरवरी, १९७२

जिसे सामान्यतः निष्ठा कहा जाता है वह है सतर्कता के साथ अपने दिने हुए वचनों को पूरा करना । लेकिन एकमात्र सच्ची दृढ़ निष्ठा है भगवान् के प्रति निष्ठा—और हम सबको सच्चे और अविच्छिन्न प्रयास के साथ इसी निष्ठा को पाना चाहिये ।

जब सारी सत्ता, अपने सभी भागों और सभी क्रियाओं में समस्त सच्चाई के साथ कह सके :

“तुम जो चाहो, तुम जो चाहो ।”

तब तुम सच्ची निष्ठा के मार्ग पर होते हो ।

१७ फरवरी, १९७२

धरती पर जीवन तत्त्वतः प्रगति का क्षेत्र है लेकिन जो कुछ प्रगति करनी है उसके लिये जीवन कितना संक्षिप्त है !

अपनी तुच्छ कामनाओं को संतुष्ट करने में अपना समय बरबाद करना निरि मूर्खता है । सच्चा सुख तभी मिल सकता है जब तुम भगवान् को पा लो ।

१९ फरवरी, १९७२

परम प्रभो ! ऐसी पूर्णता जो हमें बनना है, ऐसी पूर्णता जिसे हमें अभिव्यक्त करना है ।

यह शरीर तुम्हारे द्वारा ही जीवित है और बारंबार तुमसे कहता है :

“जो तुम चाहो, जो तुम चाहो ।”

उस दिन तक जब वह स्वतः ही जान सकेगा कि तुम्हारी इच्छा क्या है क्योंकि उसकी इच्छा पूरी तरह तुम्हारी इच्छा के साथ एक होगी ।

२३ फरवरी, १९७२

जून १९९१

वर दो कि मैं तुम्हारी उपस्थिति के बारे में सचेत हो सकूँ।
१ मार्च, १९७२

प्रभो! हम अनुनय करते हैं कि हमारे अंदर कोई चीज तुम्हारी उपस्थिति को अस्वीकार न करे और हम वही बन सकें जो तुम हमें बनाना चाहते हो; वर दो कि हमारे अंदर सब कुछ तुम्हारी इच्छा का अनुमोदन करे।
१२ मार्च, १९७२

प्रभो, हमें अपने चिंतन की नीरवता प्रदान करो, ऐसी नीरवता जो तुम्हारी प्रभावी उपस्थिति से भरपूर हो।
१३ मार्च, १९७२

वर दो कि हमारी नीरवता तुम्हारी उपस्थिति से भर जाये और हम उसके बारे में पूरी तरह सचेतन हों।

वर दो कि हम जान सकें कि तुम ही हमारा जीवन हो, हमारी चेतना और हमारी सत्ता हो, और तुम्हारे बिना सब कुछ भ्रांति है।
१४ मार्च, १९७२

वर दो कि हम तुम्हारी शाश्वत चेतना के साथ एकात्म हो सकें ताकि हम सचमुच जान सकें कि अमरता क्या है।
१६ मार्च, १९७२

अमरता की तैयारी के लिये शरीर की चेतना को अपने-आपको पहले शाश्वत चेतना के साथ एकात्म करना चाहिये।
१७ मार्च, १९७२

एक पंद्रह वर्ष की लड़की ने पूछा, “सत्य क्या है?”
मैंने उत्तर दिया, “परम प्रभु की इच्छा!”

यह चिंतनात्मक ध्यान के लिये विषय है।

१८ मार्च, १९७२

जिस सत्य को जानने के लिये मनुष्य ने व्यर्थ खोज की है वह नयी जाति, कल की जाति, अतिमानव का जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

सत्य के अनुसार जीना उसका जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

आओ हम नयी सत्ता के आने की तैयारी के लिये अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करें। मन को निश्चल-नीरव होना चाहिये, उसका स्थान सत्य चेतना—व्यौरों की चेतना के साथ समस्वर समग्र की चेतना ले ले।

१९ मार्च, १९७२

—माताजी

संवेदनशीलता

वह कौन-सी मनोवैज्ञानिक कठिनाई है जिसका सबसे अच्छा अध्ययन मैं अनुभव द्वारा कर सकता हूँ ?

हममें से प्रत्येक के अंदर एक कठिनाई अन्य सभी कठिनाइयों की अपेक्षा अधिक केंद्रीय होती है; यह, संसार में हमें जो भूमिका निभानी है, उसके साथ संबंध रखती है, यह उस प्रकाश की छाया की तरह है, ऐसी छाया की तरह जो जैसे-जैसे प्रकाश अधिक तीव्र, अधिक उज्ज्वल, अधिक प्रबल होता जाता है और सारी सत्ता में फैल जाता है वैसे-वैसे क्रमशः क्षीण होती हुई विलीन हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति की जो एक विशेष कठिनाई होती है, उसीपर, मुझे लगता है कि उसे अपना समस्त ध्यान और प्रयास केंद्रित करना चाहिये, क्योंकि अगर हम अपना निरीक्षण करना जानें तो देखेंगे कि यह उन दूसरी कठिनाइयों का स्रोत है जो हमारे रास्ते में बाधक बन सकती हैं।

जून १९९१

तो आज शाम, मैं इसी प्रकार की कठिनाई के विषय में संक्षेप में कुछ कहूँगी।

कुछ लोगों में अतिशय संवेदनशीलता होती है जो उस समय सबसे अधिक तीव्र हो जाती है जब वह बाहरी रूप में प्रकट नहीं होती। यह संवेदनशीलता भावनात्मक तथा संवेगात्मक प्रकार की होती है।

यह प्रायः एक परा-स्नायविक तत्त्व से आती है जो बहुत अधिक बौद्धिकता से रंजित होता है लेकिन जितना अधिक बौद्धिक होता है उस अनुपात में काफी आध्यात्मिक नहीं होता।

यह विकास-क्रम की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति आत्म-समर्पण के लिये प्रस्तुत होता है क्योंकि वह अपने बारे में सचेतन होता है; लेकिन साथ ही व्यक्तित्व के कर्म तथा बौद्धिकता के अपने विकास के कारण प्रत्येक वस्तु को अपने संबंध में रखकर देखने की आदत बना लेता है और फलस्वरूप व्यक्तित्व के भ्रम को अपनी चरम सीमा तक ले जाता है।

अतः कभी-कभी उसके लिये स्वयं को काम करते हुए, अनुभव करते, सोचते-विचारते हुए न देखना बहुत कठिन हो जाता है और परिणाम-स्वरूप उसमें सहजता का अभाव होता है जो कपट तक जा पहुँचता है।

सत्ता इस उत्कट संवेदनशीलता में रस लेती है; वह एक ऐसा नाजुक यंत्र है जो छोटे-से-छोटे स्पंदन का भी आश्चर्यजनक रूप से प्रत्युत्तर देता है, अतः अपने-आपको बहिर्मुख करने और अपने-आपको भूलने के स्थान पर—जैसा कि उसे करना चाहिये—वह अपनी ही ओर अभिमुख हो उठता है, अपना निरीक्षण और विश्लेषण करने लगता है और प्रायः अपने-आपको ही ध्यान का विषय बना लेता है।

इस तरह साधी हुई, भावुक संवेदनशीलता उत्तरोत्तर बढ़ती, सूक्ष्म और परिष्कृत होती जाती है। और चूँकि जीवन में कष्ट के अवसर हर्ष के अवसरों की अपेक्षा अधिक आते हैं, भाव की इन सूक्ष्म गतियों का अनुभव तथा अध्ययन करने की आवश्यकता व्यक्ति के अंदर दुःख के प्रति एक सुकाव, एक रुचि उत्पन्न कर देती है। यह वास्तव में एक गुह्य पथभ्रष्टन है जो दुःख के द्वारा अपनी आत्मा की खोज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह अहं का एक परिष्कृत किंतु अत्यंत हानिकारक रूप है।

दुःख सहने की इस आवश्यकता के व्यावहारिक परिणाम पूरी तरह से संकटपूर्ण हो जाते हैं अगर तुम उसके साथ यह अंतःस्फूर्त लेकिन फिर भी अयथार्थ अनुभव सम्मिलित कर लो कि तुम्हें जो कार्य संपन्न करना है, तुम्हारे जीवन का जो लक्ष्य है वह है दूसरों के दुःख-दर्द को अपनी ओर खींचना, अपने ऊपर ले लेना और उन्हें सामंजस्य में परिवर्तित करना।

वस्तुतः, एक ओर यह ज्ञान ही अपूर्ण है क्योंकि तुम यह नहीं जानते कि दूसरों को सांत्वना देने का, इस जगत् से थोड़े-से दुःख-दर्द को दूर करने का केवल एक उपाय यह है कि किसी भी भावुकता को, चाहे वह कितनी भी कष्टप्रद क्यों न लगे, अपने अंदर दुःख न पैदा करने दो, अपनी शांति और धीरता भंग न करने दो। दूसरी ओर कार्य को संपन्न करने का भाव अपने-आपमें व्यक्तित्व के भ्रम के द्वारा विकृत हो गया है। उचित विचार यह नहीं है कि तुम अपने ऊपर समस्त दुःख-कष्ट खींच लो, यह है भी असंभव, बल्कि यह है कि अन्य लोगों के समस्त दुःख-कष्ट के साथ एकात्म हो जाओ जिससे तुम उस कष्ट और उन व्यक्तियों के अंदर प्रकाश और प्रेम के बीज बन सको जो एक गंभीर समझ, आशा, विश्वास तथा शांति को जन्म देगा।

जबतक यह भली-भांति समझ में न आ जाये, सत्ता में उत्सर्ग के लिये रुचि व्यक्ति में उठती रहती है; और हर बार जब ऐसा अवसर आता है—चूंकि तुम इस विषय की ओर से अनासक्त नहीं हो, चूंकि तुम इस उत्सर्ग को कामना करते हो—यह भावप्रवण तथा असंगत चीज बन जाती है और मूर्खतापूर्ण भूलों का कारण बन जाती है जिनके कभी-कभी विनाशकारी परिणाम होते हैं। यदि क्रिया करने से पहले तुम्हें सोचने का अभ्यास है फिर भी पहले से तुम्हारा सोचना अनिवार्य रूप से पक्षपातपूर्ण होगा क्योंकि वह दुःख-दर्द के लिये तुम्हें जो अनुराग है, अपने ऊपर कष्टपूर्ण बलिदान आरोपित करने के अवसर की जो कामना है, उससे विकृत होता है।

अतः सचेतन रूप से हो या न हो, दूसरों की भलाई के लिये आत्मोत्सर्ग करने की जगह तुम त्याग के सुख के लिये आत्मोत्सर्ग करते हो जो एकदम से मूर्खतापूर्ण है और इससे किसीको लाभ नहीं होता।

किसी
को तबतक
संभव हो
परिणाम उ
हो—वृद्धि
यह आव
अभिरुचि
वह त
तटस्थता
इससे
व्यक्तियों
जिस तत्त्
अपरिष्क
नहीं है।
लेकि
है, उनके
क्षमता उ
वस्तु
प्रशंसा।
अत
संकेत है
है।
अत
अपने त
समझन
औ
के लि
लाभदा

जून १९९१

किसी भी कार्य को तबतक अच्छा नहीं माना जा सकता, किसी भी कार्य को तबतक हाथ में नहीं लेना चाहिये जबतक कि हम उसके तात्कालिक तथा संभव हो तो दूर के परिणाम भी न जान लें और जबतक यह न लगे कि ये परिणाम अंत में पृथ्वी की सुख-शांति में—चाहे जितनी थोड़ी मात्रा में क्यों न हो—वृद्धि करेंगे। लेकिन इस बात का ठीक-ठीक निर्णय कर सकने के लिये यह आवश्यक है कि यह निर्णय किसी भी तरीके से किसी भी व्यक्तिगत अभिरुचि से विक्षुब्ध न हो और इसका अर्थ है आत्म-तटस्थता।

वह तटस्थता नहीं जो अनुभव करने की क्षमता को नष्ट कर दे, बल्कि ऐसी तटस्थता जो दुःख भोगने की प्रवृत्ति का उन्मूलन कर दे।

इससे तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि अभी के लिये मैं असंवेदनशील व्यक्तियों को गिनती में नहीं ले रही, जिन्हें इस कारण कष्ट नहीं होता क्योंकि वे जिस तत्त्व के बने हैं, वह अनुभव करने के लिये अभीतक बहुत अधिक अपरिष्कृत, बहुत अधिक अनगढ़ है, जो दुःख-दर्द झेलने के लिये तैयार तक नहीं है।

लेकिन जिन लोगों ने संवेदनशीलता को बहुत अधिक विकसित कर लिया है, उनके लिये यह कहा जा सकता है कि उनकी दुःख-दर्द सहन करने की क्षमता उनकी अपूर्णता का ही ठीक-ठीक माप है।

वस्तुतः, सत्ता में सच्चे चैत्य जीवन की अभिव्यक्ति है शांति, प्रफुल्ल प्रशांति।

अतः किसी भी तरह का दुःख-दर्द हमारे किसी कमजोर बिंदु का पूल्यवान् संकेत है, उस बिंदु का जो हमसे महानतर आध्यात्मिक प्रयास की मांग करता है।

अतः दुःख-दर्द के प्रति अपने इस आकर्षण को दूर करने के लिये हमें अपने दुःख-कष्ट के विभिन्न कारणों की मूढ़ता और तुच्छ अहं-भावनाओं को समझना चाहिये।

और आत्मदान की इस अतिशय तथा हास्यास्पद कामना से छुटकारा पाने के लिये—जो बहुत बार अपने निजी लाभ के लिये ही होती है, किन्हीं लाभदायक परिणामों के लिये नहीं—हमें यह समझना चाहिये कि अगर हम

अपनी संवेदनशीलता द्वारा समस्त मानव दुःखों से संपर्क रखें तो साथ-साथ हमें इतना सतर्क और विवेकशील होना चाहिये कि जैसे ही ये दुःख-दर्द अपने हम उन्हें विलीन कर दें; स्पष्टदर्शियों के लिये ये दुःख-दर्द कोरी कल्पना हैं।

क्योंकि, इस दृष्टिकोण से, मनुष्यों की सहायता करने का एकमात्र तरीका है उनके दुःख-दर्दों के सम्मुख एक ऐसी निर्विकार और प्रफुल्ल प्रशान्ति उपस्थित की जाये जो निर्वैयक्तिक परम प्रेम की उच्चतम मानव अभिव्यक्ति होगी।

अंततः इस तरह के मामले में जैसा कि मैंने अभी आपके सामने प्रस्तुत किया है, और किसी भी मामले की अपेक्षा, यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि सच्ची निर्वैयक्तिकता केवल काम करते समय अपने-आपको भूल जाने में ही नहीं है बल्कि यह भी भूल जाने में है कि हम अपने-आपको भूल रहे हैं।

संक्षेप में, सच्चे रूप में निर्वैयक्तिक बनने के लिये हमें यह अनुभव करना बंद कर देना चाहिये कि हम निर्वैयक्तिक हैं।

तब कार्य को अपनी समस्त पूर्णता में एक विशाल हृदय की सहजता के साथ संपन्न किया जा सकता है।

२८ मई, १९१२

—माताजी

भरोसा और विश्वास

अगर कोई भगवान् को पाना चाहे तो भगवान् स्वयं उसके हृदय की शुद्धि का कार्य अपने ऊपर ले लेंगे और साधना को विकसित करेंगे तथा आवश्यक अनुभूतियां प्रदान करेंगे; अगर व्यक्ति के अंदर भगवान् पर भरोसा और विश्वास तथा समर्पण करने की इच्छा हो तो इस तरह से हो सकता है और होता भी है। क्योंकि इस तरह भगवान् द्वारा ग्रहण करने का अर्थ है केवल अपने प्रयासों के ऊपर निर्भर रहने के बजाय अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप देना और इसका अर्थ है भगवान् पर भरोसा तथा विश्वास रखना और उत्तरोत्तर आत्म-दान करना। यही वस्तुतः साधना का वह सिद्धांत है जिसका

अभिप्राय
जून १९११साथ-साथ
व-दर्द आये
नल्पना है।
तरीका है
ते उपस्थित
होगी।मने प्रसूत
वार्य है कि
जाने में हो
रहे हैं।
भव करना

सहजता के

—माताजी

शुद्धि का
आवश्यक
रोसा और
ता है और
है केवल
के हाथों
खना और
है जिसका

स्वयं मैंने पालन किया और मेरे ख्याल से यही योग की केंद्रीय प्रक्रिया है। मैं समझता हूँ कि यह वही चीज है जिसे श्रीरामकृष्ण ने अपने रूपक में बिल्ली के बच्चे की पद्धति बतलाया था। लेकिन सभी इसको एकाएक नहीं अपना सकते; इसतक पहुंचने में उन्हें समय लगता है—यह तब सबसे अधिक विकसित होती है जब मन और प्राण शांत हो जाते हैं।

समर्पण से मेरा तात्पर्य है मन और प्राण का यह आंतरिक समर्पण। निःसंदेह, बाहरी समर्पण भी होता है : उन सभी चीजों का त्याग जो आत्मा या साधना की आवश्यकता के साथ टकराती हों, अर्पण, भगवान् के पथ-प्रदर्शन का अनुसरण, अगर तुम उस स्थिति में पहुंच चुके हो तो प्रत्यक्ष रूप में या फिर चैत्य के द्वारा या गुरु के पथ-प्रदर्शन द्वारा। मैं यह कह सकता हूँ कि प्रायोपवेशन (दीर्घकाल तक उपवास) का समर्पण से कोई वास्ता नहीं : यह बहुत ही कठोर, मेरे ख्याल से अतिशय कठोर प्रकार की, बहुधा खतरनाक प्रकार की तपस्या का रूप है।

आंतरिक समर्पण का मर्म है भगवान् पर भरोसा तथा विश्वास। तुम यह मनोभाव अपना लेते हो : “मैं बस भगवान् को चाहता हूँ और किसी चीज को नहीं। मैं अपने-आपको पूरी तरह उन्हें दे देना चाहता हूँ और चूंकि मेरी अंतरात्मा यही चाहती है, अतः इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि मैं उन्हें पा लूँ और चरितार्थ कर लूँ। मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं मांगता और यह कि मेरे अंदर होनेवाली उनकी क्रिया मुझे उनके पास ले जाये, उनकी वह क्रिया चाहे गुप्त हो या प्रकट, प्रच्छन्न हो या अभिव्यक्त। मैं अपने समय और अपने तरीके पर आग्रह नहीं करता; वे सब कुछ स्वयं अपने समय तथा अपने तरीके से करें; मैं उनपर विश्वास बनाये रखूंगा, उनकी इच्छा स्वीकार करूंगा, उनके प्रकाश, उपस्थिति और हर्ष के लिये निरंतर अभ्युत्सा करता रहूंगा, उनपर निर्भर रहते हुए तथा कभी भी आशा छोड़े बिना सभी कठिनाइयों और विलंबों के पार जाऊंगा। वर दे कि मेरा मन शांत हो जाये और उनपर भरोसा रखे और वे इसे अपने प्रकाश की ओर खोल दें; वर दे कि मेरा प्राण शांत हो जाये और केवल उन्हींकी ओर मुड़े और वे उसे अपनी शांति और हर्ष की ओर खोल दें। सब कुछ उनके लिये हो और मैं स्वयं उन्हींके लिये। चाहे कुछ भी हो मैं इस

अभीप्सा तथा आत्म-दान के भाव को बनाये रखूंगा और पूरे भरोसे के साथ बढ़ता रहूंगा कि यह संपन्न हो जाये।”

इस वृत्ति में मनुष्य को विकसित होना चाहिये; निश्चित रूप से एकाएक इसे पूर्ण नहीं बनाया जा सकता—मानसिक तथा प्राणिक गतियां रास्ते में आती हैं लेकिन अगर तुम इसके लिये संकल्प बनाये रखो, तो वह सत्ता में विकसित होगी। फिर बाकी रह जाता है जब पथ-प्रदर्शन स्वयं को अभिव्यक्त करे तो व्यक्ति अपनी मानसिक तथा प्राणिक गतिविधियों को हस्तक्षेप न करने दे और उसका अनुसरण करे।

मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि यही एकमात्र पथ है और यह कि साधना अन्यथा की नहीं जा सकती—दूसरे बहुत-से पथ हैं जिनसे तुम भगवान् तक पहुंच सकते हो। लेकिन यही वह एकमात्र पथ है जिसे मैं जानता हूं कि इसके द्वारा—प्रकृति की तैयारी के पहले ही—भगवान् द्वारा अपने ऊपर ली गयी साधना एक अनुभवगम्य तथ्य बन जाती है। दूसरे तरीकों में भागवत क्रिया का समय-समय पर अनुभव किया जा सकता है, लेकिन अधिकतर वह तबतक परदे के पीछे ही रहती है जबतक सब कुछ तैयार न हो जाये। कई साधनाओं में भागवत क्रिया को स्वीकारा नहीं जाता, सब कुछ तपस्या द्वारा करना आवश्यक होता है। अधिकतर तपस्याओं में दोनों चीजें मिली-जुली होती हैं—तपस्या अंत में प्रत्यक्ष सहायता तथा हस्तक्षेप का आह्वान करती है। सब कुछ भगवान् कर रहे हैं यह भाव और अनुभूति उस योग से संबद्ध है जो समर्पण पर आधारित होता है। लेकिन चाहे जिस किसी पथ का अनुसरण किया जाये, एकमात्र करने लायक कार्य है निष्ठावान् रहना और अंत तक जाना।

भगवान् के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है,—हृदय तथा प्रकृति शुद्ध किये जा सकते हैं, आंतरिक चेतना प्रबुद्ध की जा सकती है, आवरण हटाये जा सकते हैं,—अगर तुम अपने-आपको भरोसे तथा विश्वास के साथ भगवान् को दे सको, अगर तुम पूरी तरह से तुरंत ऐसा न भी कर सको, फिर भी तुम जितना अधिक यह कर सको, उतना ही अधिक आंतरिक सहायता तथा पथ-प्रदर्शन प्राप्त होगा तथा तुम्हारे अंदर भगवान् की अनुभूति बढ़ती जायेगी।

जून १९९१

अगर संदेहशील मन कम सक्रिय हो जाये तथा विनम्रता तथा समर्पण का संकल्प बढे तो ऐसा करना पूरी तरह से संभव हो सकता है। तब बस इसके सिवाय और किसी शक्ति तथा तपस्या की आवश्यकता नहीं होती।

—श्रीअरविंद

अहंकार का महत्त्व

मधुर मां, हम अपने अहंकार से इतने आसक्त क्यों हैं ?

जैसा कि मैंने अभी कहा, शायद इसलिये कि अभी तुम्हें उसकी बहुत जरूरत है, है न ? एक सचेतन, व्यक्तित्ववाली सत्ता बनने के लिये, तुम्हें अहंकार की जरूरत होती है; इसीलिये वह मौजूद है। जब तुम अपने व्यक्तित्व को काफी अच्छी तरह पा लो, तुम सचेतन स्वतंत्र सत्ता बन जाओ जिसकी अपनी वास्तविकता हो तब अहंकार की कोई जरूरत न रहेगी, और तब अहंकार को दूर करने के लिये प्रयत्न किया जा सकता है। दुर्भाग्यवश, अधिकतर लोग जैसे ही वास्तविक व्यक्ति बनते हैं, उनके अंदर महत्त्व और अपनी क्षमता का ऐसा भान पैदा हो जाता है कि फिर वे अहंकार से छुटकारा पाने के बारे में सोचते भी नहीं। लेकिन हां, यह और ही बात है।

यहां मैं तुम्हें सोने नहीं देती। मैं समय-समय पर तुम्हें सच्ची चीज के बारे में याद दिलाती रहती हूं। लेकिन तुम सब अभी बहुत छोटे हो। और ऐसा व्यक्ति बनने के लिये कुछ वर्षों की जरूरत होती है, गहरी आंतरिक रचना के वर्षों की जरूरत होती है, जो अपने लिये सोच सके, जो अपनी इच्छा के बारे में सचेतन हो, जो अपनी प्रकृति के बारे में सचेतन हो, अपने जीवन का प्रयोजन जानता हो और मानव-समूह से स्वतंत्र हो। कुछ समय की जरूरत होती है। कुछ बच्चे बहुत छोटी अवस्था में शुरू करते हैं। अगर कोई बहुत छोटी अवस्था में शुरू करे, तो बीस वर्ष तक होते-होते वह भली-भांति निर्मित हो जाता है। लेकिन इसके लिये तुम्हें बहुत छोटी अवस्था में शुरू करना

चाहिये, और सचेतन रूप से, बहुत सचेतन रूप से। तुम्हें अपने अंदर की गतिविधियों, उनका औरों के साथ संबंध, यथार्थ रूप में अपनी स्वाधीनता की अवस्था, वास्तविक व्यक्तित्व, यह जानने का कि तुम्हारे आवेग कहां से आते हैं, दूसरी गतिविधियां कहां से आती हैं, कि वे बाहर के संक्रमण हैं या कोई ऐसी चीज है जो स्वयं तुम्हारे अंदर से उठती है—इन सब बातों का अवलोकन करना चाहिये। एक जरा-सी सचेतन सत्ता को, जरा-सी सचेतन सत्ता को निश्चित रूप देने के लिये अपने अंदर की समस्त गतिविधियों का, यथार्थ अध्ययन जरूरी है। लेकिन जब तुम, कह सकते हैं, द्रव की तरह जीते हो, यानी, तुम्हें यह भी पता नहीं होता कि तुम्हारे अंदर क्या हो रहा है, तुम्हें कुछ थोड़ा-सा अस्पष्ट पता होता है, अगर तुम सौ में से निम्नानवे बार अपने-आपसे पूछो : “मैंने ऐसा क्यों सोचा ? मैंने ऐसा क्यों अनुभव किया ?” या फिर : “मैंने ऐसा क्यों किया ?” तो लगभग हमेशा एक ही उत्तर होता है : “मुझे नहीं मालूम, ऐसा ही आया था, बस।” यानी, आदमी जरा भी सचेतन नहीं होता।

जब तुम औरों के साथ होते हो, तो क्या तुम यह जान पाते हो कि कौन-सी चीज तुम्हारे अंदर से आती है, और कौन-सी औरों से ? उनकी जीवन-पद्धति, उनके विशेष स्पंदन किस हद तक तुम्हारे ऊपर कार्य करते हैं ? तुम इसके बारे में कुछ भी नहीं जानते। तुम एक प्रकार की “लगभग” चेतना में रहते हो जो आधी जागी, आधी सोयी होती है, एक ऐसी चीज जो बहुत अस्पष्ट होती है, जहां चीजों को पकड़ने के लिये तुम्हें इस तरह टटोलना पड़ता है। क्या तुम्हारे अंदर यथार्थ, स्पष्ट और ठीक-ठीक धारणा है कि तुम्हारे अंदर क्या चल रहा है, और तुम्हारे अंदर क्यों चल रहा है ? और फिर, यह : उन स्पंदनों का पता है जो तुम्हारे अंदर बाहर से आते हैं और जो तुम्हारे अंदर से उठते हैं ? और फिर, जो औरों से आता है क्या उस सबको बदल सकते हैं ? नयी दिशा दे सकते हैं ? तुम एक प्रकार की धुंधली तरलता में रहते हो, छोटी-मोटी चीजें अचानक तुम्हारी चेतना में रूप ले लेती हैं, तुमने उन्हें बस, क्षण-भर के लिये पकड़ लिया है; और यह इस तरह स्पष्ट है, मानों कोई प्रक्षेपक था, परदे पर कोई चीज गुजर रही थी जो एक सेकेंड के लिये स्पष्ट हो गयी : और अगले ही

क्षण हर चीज
क्योंकि तुम
हो। वह य
तुम दिन-प्र
चीजें जो तु
ठीक च
ही नहीं छो
इसके लिये
तो यह

आ
को

क

हां, यदि त
तुम अपने
उन्हें पहच
जो भोजन
निगल ज
सकते।
की पुकार
शक्तियों

जून १९९१

भ्रमिशिखा

अंदर को
धीनता को
गं से ओते
हैं या कोई
अवलोकन
सत्ता को
ग, यथार्थ
जीते हो,
तुम्हें कुछ
ने-आपसे
या फिर:
है: "मुझे
वेतन नहीं

क्षण हर चीज अस्पष्ट, अयथार्थ हो गयी। लेकिन तुम्हें इसका पता नहीं है, क्योंकि तुमने कभी अपने-आपसे पूछा तक नहीं, क्योंकि तुम इसी तरह जीते हो। वह यहां रुकता है, यहां शुरू होता है, और यहीं समाप्त होता है। बस। तुम दिन-प्रतिदिन, मिनट-प्रति-मिनट, वही करते हो जो करते जाते हो, वही वोजें जो तुम किया करते हो, बस इसी तरह... ऐसे हो जाता है।

ठीक चीज आयेगी। वह आकर रहेगी। वह अवश्य आयेगी। मैं तुम्हें यूँ ही नहीं छोड़ दूंगी... थोड़ा-बहुत झकझोरूंगी—मैं तुम्हें जरा झकझोरूंगी। इसके लिये जो कुछ जरूरी होगा वह करूंगी।
तो यह लो।

—श्रीमातृवाणी, खंड ६ से

शक्ति को खींचना

आपने लिखा है: “भागवत शक्तियों को जबरदस्ती खींचने की कोशिश न करो।”

प्रश्न और उत्तर १९२९ (१४ अप्रैल)

क्या कोई उग्रता से भागवत शक्तियों को खींच सकता है?

हां, यदि तुम बहुत जोर से बुलाओ। अगर तुम बहुत जोर से अभीप्सा करो तो तुम अपने अंदर बहुत सारी शक्तियों को खींच सकते हो, लेकिन तुम्हारे अंदर उन्हें पहचानने की, उन्हें आत्मसात् करने की शक्ति न होगी। यह वही बात है जो भोजन के साथ होती है। जब तुम हाथ में जो कुछ हो वह एक साथ निगल जाते हो तो अजीर्ण हो जाता है; गला रुंध जाता है, तुम उसे नहीं सह सकते। तो यदि तुम तेजी से जाना चाहो तो तुम जल्दी करते हो, एक प्रकार की पुकार भेंजते हो, अपनी ओर बहुत अधिक शक्तियों को खींचते हो, ऐसी शक्तियों को जो, अन्यथा, कम तेजी से आतीं।

जरा-सी छिपी हुई महत्वाकांक्षा ही काफी है . . . । ऐसे लोग हैं जो योग करने के लिये नहीं, परिणाम पाने के लिये, शक्तियां पाने के लिये किसी-न-किसी चीज को जानने के लिये करते हैं ।

तो इसका मतलब हुआ कि वे निष्कपट नहीं हैं ? तब फिर भगवान् प्रत्युत्तर कैसे देते हैं ?

तुम्हारा ख्याल है कि भगवान् में छोटा-सा मानव विवेक है ? तुम्हें भगवान् अपने मानव विचारों को प्रक्षिप्त नहीं करना चाहिये ।

अगर तुम सच्चे नहीं हो तो तुम्हारी अपनी चेतना पर परदा पड़ जाता है । उदाहरण के लिये, एक आदमी को लो जो झूठ बोलता है, उसकी चेतना पर परदा पड़ जाता है और कुछ समय बाद वह सत्य और मिथ्या में फर्क नहीं कर सकता । वह बिब देखता है और उन्हें सत्य कह लेता है । जो दुष्ट है वह अपनी अभीप्सा खो बैठता है, समझने, अनुभव करने और उपलब्ध करने की सारी संभावना खो बैठता है । यही दंड है ।

आदमी परदे डालता है । अपने और भगवान् के बीच बाधाएं खड़ी करता है । इस प्रकार आदमी अपने-आपको दंड दे लेता है । भगवान् पीछे नहीं हटते, आदमी अपने-आपको उन्हें पाने में असमर्थ बना लेता है । भगवान् इस तरह पुरस्कार और दंड नहीं बांटा करते । यह ऐसा बिल्कुल नहीं है ।

जब आदमी कपटी होता है, जब उसमें अशुभ भावना होती है, जब वह विश्वासघातक होता है तो वह तुरंत अपने-आपको दंड दे लेता है । कपटी लोग अपनी थोड़ी-सी वह चेतना भी खो बैठते हैं जो यह बता सकती कि वे दुष्ट हैं । वे मानों निश्चेतन बन जाते हैं । और उनका अंत ऐसे होता है कि वे किसी विषय में कुछ भी नहीं जानते ।

—श्रीमातृवाणी, खंड ५ से

स्फुट वचन

(श्रीअरविंद के वचन)

जिस कालविन^१ ने शाश्वत नरक के अस्तित्व का प्रतिपादन किया, उसने भगवान् को नहीं जाना, बल्कि उनके एक भयावह छद्मवेश को ही उनका शाश्वत सत्य बना दिया। यदि कोई नित्य नरक हो तो वह केवल नित्य आनन्दोल्लास का ही एक निवासस्थान हो सकता है; क्योंकि भगवान् आनन्द हैं और उनके आनन्द की शाश्वतता के अतिरिक्त दूसरी कोई शाश्वतता है ही नहीं।

*

दांते^२ ने जब यह कहा कि भगवान् के पूर्ण प्रेम ने ही शाश्वत नरक की सृष्टि की थी तो संभवतः वह जितना जानता था उससे कहीं अधिक ज्ञान की बात लिख गया; क्योंकि यदा-कदा प्राप्त होनेवाली झांकियों के द्वारा मुझे यह धारणा हो गयी है कि कोई एक नरक है जहां हमारी अंतरात्मा युगों तक असह्य आनंद का उपभोग करती है तथा मधुर और भयंकर रुद्र की एकांत गोद में मानों चिर दिन लोटा करती है।

*

जगद्गुरु भगवान् का शिष्य बनना, जगत्पिता भगवान् का पुत्र होना, जगन्माता भगवान् का स्नेह पाना, दिव्य सुहृद् का हाथ पकड़े रहना, अपने दिव्य सहचर तथा बाल-सखा के साथ हंसना-खेलना, प्रभु भगवान् की आनन्दपूर्वक सेवा करना, अपने दिव्य प्रेमी से उल्लास के साथ प्रेम करना—मानव शरीर में जीवन के ये सात प्रकार के आनंद हैं। क्या तू इन सबको एक ही सर्वोत्तम और सतरंगी संबंध के अंदर युक्त कर सकता है ?

^१ सोलहवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध सुधारक और लेखक।

^२ इटली के सर्वश्रेष्ठ कवि।

तब तुझे किसी स्वर्ग की आवश्यकता न रहेगी और तू अद्वैतवादी की मुक्ति को भी अतिक्रम कर जायेगा।

*

यह संसार बदलकर स्वर्ग की प्रतिमूर्ति कब बनेगा ? जब समूची मानव-जाति बालक और बालिकाएं बन जायेगी और उनके साथ-साथ स्वयं भगवान् भी कृष्ण और काली के रूप में प्रकट होंगे, जो उस दल के सबसे अधिक प्रसन्न बालक और सबसे अधिक शक्तिशाली बालिका होंगे और स्वर्ग के बगीचे में एक संग खेलेंगे। सामी अदन (सेमेटिक ईडन) काफी अच्छा था, पर आदम और हौवा इतनी बड़ी उम्र के थे और स्वयं उनके भगवान् भी इतने अधिक वृद्ध और कठोर और गंभीर थे कि सर्प के प्रस्ताव का प्रतिरोध न कर सके।

*

सामियों ने एक ऐसे भगवान् की कल्पना करके मनुष्यजाति को व्यथित किया जो कठोर और महाप्रतापी राजा है, नियमनिष्ठ विचारकर्ता है और जिसका हास्य-उल्लास से कोई सरोकार नहीं। परंतु हम लोग, जिन्होंने कृष्ण को देखा है, यह जानते हैं कि वह एक बालक है जो खेलने का बड़ा शौकीन है तथा एक बच्चा है जो शरारत और सुखदायी खिलखिलाहट से भरा रहता है।

*

जो भगवान् हंस नहीं सकता वह इस हास्यजनक विश्व का निर्माण भी न कर पाता।

विचारमाला और सूत्रावली

भगवान् ने मेरी आंखें खोल दी थीं; क्योंकि मैंने अशिष्ट में कुलीनता, धृणित में मोहकता, विकलांग में परिपूर्णता और वीभत्स में भी रमणीयता देखी।

*

ईसाइयों और वैष्णवों ने क्षमा की प्रशंसा की है, पर, जहांतक मेरा प्रश्न है, मैं पूछता हूं, मुझे क्या और किसे क्षमा करना होगा ?

*

भगवान् ने एक मानवीय हाथ से मेरे ऊपर आघात किया; तो क्या मैं यह कहूँ "हे भगवान् ! मैं तेरी धृष्टता के लिये तुझे क्षमा करता हूँ ?"

*

भगवान् ने एक प्रहार के द्वारा मेरा मंगल किया। क्या मैं यह कहूँ : "हे सर्वशक्तिमान्, मैं इस अपकार और निष्ठुरता के लिये तुझे क्षमा करता हूँ पर फिर से ऐसा न करना ?"

*

जब मैं किसी दुर्भाग्य पर रोता-पीटता हूँ और उसे अशुभ कहता हूँ, अथवा जब मैं ईर्ष्यालु और हताश होता हूँ तब मैं जानता हूँ कि मेरे अंदर फिर से वही चिरंतन मूढ़ जागृत हो गया है।

—श्रीअरविंद

एक तरुण साधक का श्रीअरविंद और माताजी के साथ पत्र-व्यवहार

आज मैं 'ग' के साथ बेचैनी का-सा अनुभव कर रहा हूँ, मानों मुझे क
बहुत अच्छा नहीं लगा। भला क्यों ?

प्राण का उतार-चढ़ाव—केवल चैत्य प्रेम ही निर्विघ्न रहता है।

क्या मैं अबतक भौतिक चेतना में रह रहा हूँ ?

हर एक रहता है—जबतक शरीर है।

२३ जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

मेरी समझ में नहीं आता कि व्यक्ति को औरों से प्रेम क्यों करना
चाहिये। क्या यह कहीं अधिक अच्छा नहीं कि यह प्रेम भागवत मां के
अर्पण हो ?

एक ऐसा प्रेम है जिसमें संवेग बढ़ती हुई ग्रहणशीलता और विकसनशील ऐक्य
में भगवान् के प्रति मुड़ता है। वह भगवान् से जो कुछ प्राप्त करता है उसे
मुक्त रूप से बदले में बिना कुछ मांगे दूसरों पर बहा देता है। अगर तुम यह
करने में समर्थ हो तो वह प्रेम करने का सबसे ऊँचा और सबसे संतोषजनक
तरीका है।

२३ जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

इस प्रेम को पाने के लिये मुझे क्या करना चाहिये ?

पहले तुम्हें इसे निरंतर रूप में चाहना होगा।

१४ जनवरी १९३४

—श्रीअरविंद

(बुलेटिन अगस्त-८२)

Phone: (01592) 2887

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

मुन्डुनू (राजस्थान)-३३३ ००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील हैं। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवम् शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

मानसिक तनाव व शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति के लिये
सारे परिवार की सुरक्षा का प्राकृतिक साधन

“योगी रसायन” (रजि०)

निर्माता

योगी फार्मेसी प्रा० लि०

लक्सर रोड, हरिद्वार—२४९४०४

(आयुर्वेदिक अनुसंधान एवं निर्माण में अग्रणीय)

for India

M. 8731

ये

सुन्द

4112

4112

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

जुलाई १९२१

विषय-सूची

सन्देश

सम्पादकीय : १ नेता कौन ?

२ अर्घ्य

दैनन्दिनी

श्रीअरविन्द और माताजी के साथ एक

युवा साधक का पत्र-व्यवहार

श्रीअरविन्द की शिक्षा और साधना-पद्धति

अन्तर्भास क्षमता और एकाग्रता

मानसिक ईमानदारी

नशे, बुरे विचारों से शरीर को हानि

सोसायटी समाचार

श्रीमाताजी

अनुबेन

"

श्रीमातृवाणी से

श्रीमातृवाणी से

श्रीमातृवाणी से

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००२



उद्बुध्यस्वाप्ने प्रति जागृहि

सन्देश

Life on earth is essentially a field for progress.
But how brief life is for all the progress that
has to be made !

To waste one's time seeking the satisfaction
of one's petty desire is sheer folly. True
happiness is possible only when one has found
the Divine.

The Mother

तात्त्विक रूप से पृथ्वी पर जीवन प्रगति करने के लिये एक
क्षेत्र है। लेकिन जितनी प्रगति करनी है उसके लिये जीवन
कितना अल्पकालिक है !

कामनाओं की संतुष्टि ढूढ़ने में समय गंवाना निरी मूर्खता है।
जब हम भगवान् को पा लें तभी सच्चा सुख संभव होता है।

—श्रीमां

‘संपादकीय’ : (१)

नेता कौन ?

हम ज्यादातर अंग्रेजी हुकूमत को भारत पर शासन करने के लिये काफी बुरा भला कहते हैं, लेकिन श्रीअरविंद, जिनकी दृष्टि प्रत्येक विषय में गहरी पैरुन है, कहते हैं कि अगर अंग्रेजी शासन से बहुत-सी हानियां हुई तो वहां उसने कुछ लाभ भी पहुंचाया। अंग्रेजी हुकूमत के पहले सारा भारत छोटे-छोटे राजवाड़ों, बड़ी रियासतों और जाने-माने राजघरानों में बंटा हुआ था। वैदिक काल में जिस आर्यावर्त की एकता और अपूर्वता के गुण-गान गाये गये थे उनका किसी को भी ख्याल न था। अंग्रेजों को इसी विभाजित आर्यावर्त ने कर्म मौका दिया जो उन्हें यहां स्थापित कर सका, फिर भी इसीको शायद विधि का विधान कहते हैं कि छोटे से इंग्लैंड ने अपनी शिक्षा द्वारा भारतीयों में स्वतंत्रता की ज्वाला को भड़काया। शताब्दियों के बाद पुराना आर्यावर्त मानों जाग उठा और प्रत्येक भारतीय सोचने लगा कि भारत एक है, अविभाज्य है।

अब भारत स्वाधीन है। जिन्होंने उसके लिये संघर्ष किया, बलिदान दिये, भारतमाता की सेवा में सर्वस्व निछावर किया ताकि भारत स्वाधीन हो सके, उनका स्वप्न चरितार्थ हो चुका है, लेकिन अंग्रेज जो कर गये थे; मतलब जे एकता उनके रहते हमारे मानस में आयी थी, वह कपूर की तरह उड़ गयी। इसका परिणाम क्या है ? आज हम अपने-आपको बंगाली, मराठी, उड़िया, गुजराती जैसे खेमों में बांटकर देखते हैं और इसीको देखकर स्वाधीनता के बीस वर्ष बाद ही किसी कवि ने लिखा था —

कोई पूरब, कोई पश्चिम, कोई उत्तर दक्षिण वासी ।

बीस साल के बाद न मिलता कहीं कोई भी भारतवासी ।

और अब अवस्था शायद उन्नीस होने की जगह इक्कीस हो गयी है।

यह सब देखकर एक विख्यात लेखक की कहानी याद आयी। एक घने जंगल, अति विशाल, ऐसा घना कि दिन में भी सूर्य की रश्मियां घुस न पायें। एक दिन इस जंगल में दो शिकारी आये। सारे दिन शिकार की खोज में

जुलाई १९९१

भटकते रहे। शाम को एक बरगद के नीचे बैठकर बातें करने लगे। एक शिकारी बोला, “बाप रे! कितना भयंकर जंगल है।” दूसरे ने कहा, “हां भाई, हम तो भटक ही गये थे। अच्छा हुआ यह बरगद दिखायी दिया वरना दो दिनों तक इसीमें रास्ता ढूंढते रहते।” कुछ देर सुस्ताकर वे चले गये। बरगद सोचने लगा, “जंगल कौन-सा प्राणी है?” थोड़ी देर बाद तलैया में पानी पीने के लिये शेर आया। बरगद ने पूछा, “क्यों भाई शेर, जंगल किस प्राणी का नाम है? अभी दोपाये आये थे, वे तो किसी से नहीं डरते फिर भी जंगल से डर रहे थे।” शेर गुर्राया, “कौन है जंगल? मैं देखूं उसे, भेज देना मेरे पास।” बरगद ने कुछ दूर खड़े बांस के वृक्ष से पूछा, “क्यों भाई बांस, तुमने जंगल देखा है?” बांस बोला, “नहीं, आप बाज़ से पूछिये, बहुत दूर आता-जाता है।” तभी बाज़ दिखायी दिया, बांस ने बाज़ से पूछा, “बाज़ बहादुर, आपने जंगल देखा है, बड़ा भयंकर, खूंखार प्राणी है।” बाज़ ने पंख फड़फड़ाकर कहा, “मैंने उसका नाम नहीं सुना; फिर भी देखूंगा।” इस तरह सारे जंगल में कोलाहल मच गया। जंगल के पशु-पक्षी और वृक्ष सभी चिंतित हो उठे।

कहानी तो आगे चलती है लेकिन उसका यह अंश ही हमारे लिये उपयोगी है। हम भी जंगल के प्राणियों की तरह इतने विशाल देश को टुकड़ों में देखकर चिंतित होते रहते हैं, आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, कभी-कभी ऐसा लगता है कि एक होते हुए भी हम टुकड़ों में विभक्त हैं। जंगल के प्राणियों को अंत में अपनी ताकत का पता लग ही गया था परंतु हमें अभी भारत के गौरव का, उसके महत्त्व का बिलकुल ज्ञान नहीं है। अगर है भी तो केवल काल्पनिक है अन्यथा भारत आज वीरान-सी स्थिति में न होता।

वर्तमान के बारे में केवल ऊहापोह करने से कोई लाभ न होगा। हमें इस भूलभुलैया में से बाहर निकलना ही है। उपाय क्या है? श्रीअरविंद के जैसे कवि और मनीषी बरसों पहले उसका उपाय दे गये हैं। हमें केवल उस उपाय के अनुसार चलना होगा। जो मार्ग वे दिखा गये हैं, सरल नहीं है किंतु वही हमारे लिये मुक्ति-मार्ग है।

वन्देमातरम् में वे लिखते हैं :

कोई योग्य नेता नहीं ?

“अपने अंदर जो शक्ति है उसे अनुभव करो, उसे आगे लाने की कोशिश करो ताकि तुम जो भी करो वह तुम्हारा कार्य न हो, उस ‘सत्य’ का कार्य हो जो तुम्हारे अंदर उपस्थित है। यह कोशिश करो कि तुम्हारा प्रत्येक मुहूर्त जिसमें तुम जीते हो वह उसकी उपस्थिति से आलोकित हो, कि तुम्हारा प्रत्येक विचार उसी प्रेरणा के स्रोत से प्रेरित हो, कि तुम्हारी प्रत्येक क्षमता, तुम्हारा प्रत्येक गुण तुम्हारे अंदर विद्यमान उस अमर ‘शक्ति’ की सेवा में अर्पित हो। तब तुम यह न कहोगे, जैसा कि मैंने तुममें से कइयों को कहते सुना है कि लोग इस विचार को अपनाने में बड़े शिथिल हैं, कि लोग काम धीरे-धीरे करते हैं, कि तुम्हारे पास योग्य नेता नहीं हैं और सभी बड़े-बड़े लोग अलग-अलग बातें कहते हैं, लेकिन उनमें से एक भी दिखाये गये पथ पर लोगों को चलाने के लिये आगे नहीं आता। तब तुम्हें औरों से कोई शिकायत नहीं होगी क्योंकि तब तुम्हें नेता की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। नेता स्वयं तुम्हारे अंदर विद्यमान हैं। अगर तुम उन्हें पा लो और उनकी आवाज पर कान दो तब तुम देखोगे कि लोग तुम्हारी बात को अनसुनी नहीं कर पाते, क्योंकि लोगों के अंदर एक ऐसी आवाज होगी जो अपने-आपको सुनाकर रहेगी। वह आवाज और वह शक्ति तुम्हारे अंदर विद्यमान है। अगर तुम उसे अपने अंदर अनुभव करो, अगर तुम उसकी उपस्थिति में जियो, अगर तुम स्वयं वह बन जाओ तो तुम देखोगे कि तुम्हारा एक शब्द दूसरों में जवाबी आवाज जगायेगा, कि तुम जिस मत का उपदेश दोगे वह फैल जायेगा और सब उसको ग्रहण करेंगे और कुछ ही देर में . . . एक पूरे राष्ट्र को बदलना, उसे नया प्राण और हृदय देना और समस्त भारतीय जनता के सामने उसे प्रस्तुत करना . . . तुम एक ऐसा आंदोलन देखोगे जिसे कोई बाधा रोक नहीं सकेगी, तुम एक महान् विकास देखोगे जिसका प्रतिरोध कोई शक्ति नहीं कर पायेगी। तुम राष्ट्र में अवतार का जन्म देखोगे और अगर तुमने अपने अंदर भगवान् को स्वीकारा है, अगर तुमने अपने अंदर उस ‘शक्ति’ को ग्रहण किया है तो तुम देखोगे कि भगवान् भारत को बहुत ही कम समय में बदल देंगे, क्योंकि ‘शक्ति’ पहले ही प्रकट हो

चुकी है ३

अपना का

परिपक्व

जबतक स

हमारे

असंभव से

है इसलिये

जब र

शक्ति वि

निराशा के

होती है।

लगता है

“मुझे

को, जो त

सकता हूँ

कि बद से

में किसी

यह अनुभ

संभावना उ

और ज्वात

से काम

जुलाई १९११

चुकी है और अपनी घोषणा कर रही है। एक बार घोषणा करने के बाद वह अपना काम अधिकाधिक तेजी से करती जायेगी। वह अपना काम दिव्यता के परिपक्व बल से करती रहेगी जबतक समस्त संसार यह न देख ले और जबतक समस्त संसार 'उन्हें' न समझ पाये।"

हमारे पूर्वज असंभव को संभव बनाते आये हैं, हम उनकी संतान भी इस असंभव से दीखते कार्य को संभव कर दिखायेंगे। भागवत प्रेम हमारी घुट्टी में है इसलिये यह असंभव-सा दीखता कार्य हमारे लिये आसान है, है ना ?

(२)

अर्घ्य

बड़े शौक से सुन रहा था ज़माना

तुम्हीं सो गये दास्तां कहते-कहते।

जब राष्ट्र के किसी नेता की आकस्मिक मृत्यु हो जाती है तो राष्ट्र की प्राण-शक्ति विक्षुब्ध होकर या तो उग्र और आक्रामक रूप ले लेती है या दुःख और निराशा के गहरे गर्त में डूब जाती है। दोनों अवस्थाएं राष्ट्र के लिये हानिकर होती हैं। इस समय श्रीअरविंद का वर्षों पहले लिखा हुआ संदेश इतना सटीक लगता है मानों वह इसी स्थिति के लिये लिखा गया हो।

"मुझे खेद है कि वर्तमान समय के लिये, कम-से-कम तुम संवाददाताओं को, जो वर्तमान स्थिति पर विलाप कर रहे हैं, मैं केवल ठंडा दिलासा ही दे सकता हूँ। परिस्थितियां खराब हैं, ज्यादा खराब होती जा रही हैं और संभव है कि वद से बदतर भी हो जायें—और इस वर्तमान समय में घबराये हुए संसार में किसी भी विरोधाभासी घटना की संभावना है। उन संवाददाताओं के लिये यह अनुभव करना सबसे अच्छी चीज है कि यह सब जरूरी था क्योंकि कई संभावनाओं को उभरना था और हमें उनसे पिंड छुड़ाना था, अगर एक नये और ज्यादा अच्छे संसार का जन्म होना है तो इन्हें बाद के लिये स्थगित करने से काम न चलता। यहां यह चीज ऐसी है जैसे योग में होता है, जहां कई

अग्निशिखा

जुलाई १९

चीजों को, जो सत्ता में सक्रिय या छिपी हुई हों, प्रकाश में लाया जाता है ताकि उनके साथ संघर्ष करके उन्हें बाहर फेंक दिया जाये या गहराइयों में छिपी हुई चीज को विशुद्ध करने के उद्देश्य से बाहर निकाला जाये। वे लोग इस लोकोक्ति को भी याद कर सकते हैं कि उषा के पहले रात अधिक अंधेरी होती है और यह भी कि उषा का आगमन अवश्यंभावी है, लेकिन उन्हें यह याद रखना चाहिये कि हम जिस नये संसार के आगमन की कल्पना करते हैं वह पुराने संसार की संरचना में नहीं बनेगा और न केवल उसका सांचा ही भिन्न होगा बल्कि यह भी कि उसे अन्य उपायों से आना होगा, बाह्य उपायों से नहीं, आंतरिक उपायों से—इसलिये सबसे अच्छा तरीका यह है कि बाहर के शोचनीय घटनाएं घट रही हैं उनमें अधिक व्यस्त न रहकर वे अपने-आप आंतरिक रूप से विकसित होते जायें ताकि वे नये संसार के लिये तैयार हो, फिर उसका रूप चाहे कैसा भी क्यों न हो।”

जुलाई १८, १९४८

तो इस संदेश को याद रखकर हमें भी शांत रहकर दिवंगत नेता के लिये शांति का आवाहन करना चाहिये। इससे नेता की परलोक-यात्रा अधिक सफल हो जाती है। विलाप करके या मारपीट करके हम उनकी अन्य जगतों की यात्रा में बाधाएं डालते हैं।

हमारा सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि हम राष्ट्र के चरित्र का गहराई से अध्ययन करें और यह देखने की कोशिश करें कि भारत जैसे प्राचीन और सुसंस्कृत राष्ट्र में यह जंगल का शासन कैसे आ गया है? हमें पूरी कोशिश करनी चाहिये कि यह बर्बरता राष्ट्र के स्वभाव से निर्मूल हो जाये।

यह सच है कि जो नेता सच्चे देश-प्रेमी हैं वे तो जाकर सीधे राष्ट्र के व्यक्तित्व में घुल-मिल कर उसे अधिक जाज्वल्यमान बना देते हैं। अगर हम अपने नेता और अपने राष्ट्र के लिये प्रेम है तो हमें भगीरथ बनकर सारे राष्ट्र में शांति की गंगा का आवाहन करना चाहिये। यही हमारा दिवंगत नेता का सर्वश्रेष्ठ अर्घ्य होगा।

अग्रिमि

जुलाई १९९१

हमें यह न भूलना चाहिये कि नेता भी एक मनुष्य है इसलिये मर्त्य है, लेकिन राष्ट्र अमर है। किसी कवि ने भारत के बारे में कहा है :

यह चमन यूँ ही रहेगा और लाखों जानवर
अपनी-अपनी बोलियाँ सब बोलकर उड़ जायेंगे।

अगर हम अपने नेता के आदर्शों के अनुसार राष्ट्र के जीवन को गढ़ना चाहते हैं तो हमें वर्षों के प्रयास के लिये तैयार रहना चाहिये और अपनी सारी शक्तियों को इस रचनात्मक कार्य में लगा देना चाहिये। इससे दिवंगत आत्मा प्रसन्न होगी और राष्ट्र का कल्याण होगा।

क्यों न हम इस शुभ कार्य में आज से ही लग जायें ?

—अनुबेन

— — * — —

मुझे अपने पड़ोसी से प्यार करना चाहिये, पर इसलिये नहीं कि वह हमारे पड़ोस में रहता है, —क्योंकि आखिर पड़ोस में और दूर में क्या रखा है ? और न इसलिये कि धर्म मुझे यह सिखाते हैं कि वह मेरा भाई है, —क्योंकि उस भ्रातृत्व की जड़ कहाँ है ? बल्कि इसलिये कि वह स्वयं मेरी आत्मा है। पड़ोस और दूरी शरीर को प्रभावित करते हैं पर हृदय उनसे परे चला जाता है। भ्रातृत्व रक्त का या देश का, धर्म या मानवता का होता है, पर जब स्वार्थ अपनी परिपूर्ति के लिये मचलता है तब इस भ्रातृत्व का क्या हाल होता है ? जब मनुष्य भगवान् में निवास करता है और अपने मन, हृदय और शरीर को उनकी विश्वव्यापी एकता की प्रतिमूर्ति में बदल देता है केवल तभी उस गभीर, निःस्वार्थ एवं दुर्धर्ष प्रेम को पाना संभव होता है।

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

जुलाई

१. निश्चय ही, अपने-आपमें अधिक न डूबे रहना हमेशा लाभदायक होता है।
२. साहसी बनो और अपने विषय में इतना अधिक न सोचो। तुम अपने तल्लीनता का केंद्र अपने तुच्छ अहं को बनाते हो इसलिये तुम दुःख और असंतुष्ट हो। अपने-आपको भूलना ही इन सब रोगों की महान् औषधि है।
३. मैं हमेशा तुम्हारे हृदय में रहती हूँ।
४. एक दिन में कितनी चीजें, कितने विचार, कितने संवेदन, कितनी क्रिया शुद्ध रूप से भगवान् की ओर अभीप्सा में मुड़ी होती हैं ? कितनी ? तुम्हें लगता है कि सारे दिन में एक भी हो तो उसे सुनहरे अक्षरों में लिखा जा सकता है।
५. भगवान् पीछे नहीं हटते, आदमी उन्हें पाने में अपने-आपको असमर्थ बना लेता है।
६. संसार में एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जो कुछ नयी चीज नहीं लाता, क्योंकि संसार निरंतर बढ़ता जाता है। अगर मनुष्य इस विषय में सचेत हो तो उसके लिये हमेशा सीखने लायक कोई नयी चीज रहती ही है।
७. ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो अपने अंदर शाश्वत सत्य को लिये हुए न हो, वरना उसका अस्तित्व ही न होता।
८. विश्व में यदि सत्य न होता तो वह एक सेकेंड के हजारहवें हिस्से के लिये भी न टिक सकता।
९. प्रगति का अंत कहीं नहीं है—कभी कोई अंत नहीं है। तुम कहीं पूर्ण विराम नहीं लगा सकते।
१०. मोमबत्ती जलाने, घुटने टेकने और हाथ जोड़ने की जगह अपने हृदय में ज्योति जगाओ और उसकी ओर अभीप्सा करो जो अधिक सुख अधिक सत्य, अधिक उदात्त है।

जुलाई १९९१

११. श्रीअरविंद के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये हम इससे अच्छा कुछ नहीं कर सकते कि उनकी शिक्षा का सजीव प्रदर्शन बनें।
१२. उनकी कृपा हमेशा उन लोगों के साथ रहती है जो प्रगति करना और कल के सत्य को सिद्ध करना चाहते हैं।
१३. पूरी तरह सच्चे बनो और वे तुम्हारी पुकार का उत्तर जरूर देंगे।
१४. तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि श्रीअरविंद तुम्हें देख रहे हैं।
१५. आओ उन्होंने हमारे लिये जो आदर्श निश्चित कर दिया है उसे हम प्राप्त करने का प्रयास करें।
१६. भगवान् के लिये कुछ करने का मतलब है तुम्हारे पास जो कुछ है, तुम जो कुछ करते हो या तुम जो कुछ हो उसमें से कुछ उन्हें देना।
१७. ... अपने-आपको पूरी तरह तथा बिना कुछ बचाये हुए उन्हें दे देना ताकि वे हमारी प्रकृति को रूपान्तरित करने और उसे दिव्य बनाने के लिये उसपर अधिकार कर लें।
१८. हे मेरे प्रभो, हे मेरे प्रभो !
तुम मुझसे जो चाहते हो, मुझे वही बनने दो।
तुम मुझसे जो करवाना चाहते हो मैं वही करूँ।
१९. हे प्रभो, मेरी समस्त सत्ता को जगा ताकि मैं तेरे लिये आवश्यक यंत्र, तेरा पूर्ण सेवक बन सकूँ।
२०. हे मेरे प्रभो, परम सत्य, मैं अभीप्सा करती हूँ कि मैं जो भोजन लूँ वह मेरे शरीर के सभी कोषाणुओं में तेरा सर्व ज्ञान, तेरी सर्व शक्ति, तेरी समस्त उत्तमता भर दे।
२१. हे दिव्य ज्योति, अतिमानसिक यथार्थता, इस भोजन के साथ सारे शरीर में प्रवेश कर, प्रत्येक कोषाणु में प्रवेश कर, प्रत्येक अणु में अपने-आपको स्थापित कर ...।
२२. वर दे कि हर चीज सच्ची, निष्कपट और ग्रहणशील बने, उस सभी से मुक्त हो जो अभिव्यक्ति में बाधा देती है, संक्षेप में, मेरे शरीर के उन सभी अंशों को तेरे प्रति खोले जो पहले से ही तू नहीं है।
२३. यहां एक चेतना कार्य कर रही है, हर एक, जब कभी वह इस दिव्य

चेतना के विरुद्ध जाता है तो हर बार जब वह ऐसा करता है तो अपने चेतना में से कुछ खो बैठता है।

२४. जब कभी कोई दिव्य चेतना के अनुसार काम करता है तो कुछ-न-कुछ लाभ उठाता है।

२५. सभी पक्षपातों और अभिरुचियों से मुक्त होकर, पूर्ण अचंचलता और निश्चल नीरवता में रहकर ही तुम सत्य का दर्शन कर सकते हो।

२६. निश्चल नीरवता में बड़ी-से-बड़ी शक्ति है।

२७. बहुत निश्चल और स्थिर रहो, तब तुम मेरी सहायता का अनुभव कर सकोगे।

२८. प्रेम और आनंद में आगे और हमेशा आगे रहो, शांति हमेशा बढ़ती जायेगी।

२९. सरल रहो,
प्रसन्न रहो,

अचंचल रहो...

३०. ... अपना काम जितना अच्छा कर सकते हो करो, अपने-आपको हमेशा मेरी ओर खुला रखो—बस तुमसे यही मांग की जाती है।

३१. केवल वही करो जो तुम परेशान हुए बिना मेरे सामने कर सकते हो। केवल वही बोलो जो तुम बिना कठिनाई के मेरे सामने बोल सको।

— — * * — —

जिस जीव ने उच्चतम आनंद को हस्तगत कर लिया है उसके लिये जीवन कोई अशुभ वस्तु या दुःखदायी भ्रम नहीं हो सकता; उसके लिये तो सारा जीवन ही किसी दिव्य प्रेमी तथा बालसखा का लहराता प्रेम और हास्य बन जाता है।

—श्रीअरविंद

श्रीअरविंद और माताजी के साथ

एक युवा साधक का पत्र-व्यवहार

[यह युवा साधक आश्रम में प्रवेश पानेवाले पहले बच्चों में से एक था। यह १९३० में तेरह वर्ष की आयु में आया था। दो वर्ष बाद उसने माताजी और श्रीअरविंद को पत्र लिखना शुरू किया। यह साधारणतः फ्रेंच में और कभी-कभी श्रीअरविंद को अंग्रेजी में भी लिखता था। श्रीअरविंद अंग्रेजी में उत्तर देते थे और माताजी फ्रेंच में। इस पत्र-व्यवहार के समय यह साधक १७ वर्ष का था।]

मधुर मां, पिछले दो दिन मैंने सपना देखा कि मुझे जेल में बंद कर दिया गया। इसका क्या अर्थ है ?

इसका अर्थ है कि निम्नतर चेतना तुम्हारी चैत्य सत्ता को बन्दी बनाना चाहती है।

१२ जून १९३४

—माताजी

‘क्ष’ ने मुझसे कहा कि गला खराब होने पर चाय या कॉफी लेना बहुत अच्छा है और वह दिन में दो या तीन बार पीता है।

हर एक का अपना उपचार और अपनी आदतें होती हैं जो उसके लिये अच्छी हो सकती हैं लेकिन उन्हें व्यापक बनाना और दूसरों पर लागू करने की कोशिश करना बहुत बड़ी गलती होगी।

२६ जून १९३४

—माताजी

मैंने तीन चौथाई रात जागकर बितायी। मेरे ख्याल से अंतर्दर्शन मुझे सोने से रोक रहे हैं।

बहरहाल यह अशांत और अस्थिर प्राण है।

२८ जून १९३४

आज दोपहर मैं १२.३० से ३.३० तक सोया; मेरे ख्याल से जरूरत से ज्यादा सोया।

नहीं, यह ठीक है क्योंकि तुम बहुत बुरी तरह सो रहे हो।

ज्यादा अच्छी तरह सोने के लिये मैं प्राण को कैसे शांत कर सकूँ हूँ ? अभीप्सा द्वारा ?

और एकाग्रता द्वारा, अशांति को त्यागने की इच्छा द्वारा।

भूत-प्रेतों के बारे में, मैं यह जानना चाहूँगा कि वह कौन-सा भाग है जो दूसरे भागों के तर्क पर संदेह करता है।

ये मन के विभिन्न अंश हैं जो एक-दूसरे का विरोध और खंडन करते हैं, और वे सब विकास के समान स्तर पर नहीं होते।

२८ जून १९३४

भगवद्विरोधी भूत-प्रेतों के बारे में सचेतन होना बहुत रुचिकर होगा।

जबतक कि यह उन्हें त्यागने या उनपर विजय पाने के लिये हो।

२९ जून १९३४

ये भूत-प्रेत हमें रास्ते से भटकाते हैं, लेकिन क्या ऐसे भूत-प्रेत नहीं होते हैं जो हमारी साधना में सहायता करते हों ?

जुलाई १९९१

मैं समझती थी कि भूत-प्रेत शब्द से तुम्हारा मतलब प्राणिक सत्ताओं से है। निश्चय ही ये तुम्हारी साधना में सहायता देनेवाली सत्ताएं नहीं हैं।

अगर आज्ञा हो तो मैं यह जानना चाहूंगा कि इन भगवद्विरोधी भूत-प्रेतों पर विजय कैसे पायी जाये ?

इच्छा करके, और हमेशा इनके सुझावों पर विश्वास करने से इंकार करके।

२९ जून १९३४

—माताजी

जी हां, माताजी ये सत्ताएं हमें मार्ग से भटका देती हैं, लेकिन क्या ऐसी सत्ताएं नहीं हैं जो हमारी सहायता कर सकती हों, हमें फिर से ठीक रास्ते पर ला सकती हों।

हां, वे जरूर हैं, लेकिन, चूंकि वे प्राण जगत् की सत्ताएं नहीं हैं, जो भौतिक के सबसे निकट हैं, इस कारण उनके लिये मानव सत्ताओं के साथ संपर्क में आना ज्यादा कठिन होता है। कभी-कभी उनकी क्रिया मन में देखी जा सकती है, और चैत्य में बहुत स्पष्ट होती है।

एक सपने में मैं अपने घर के बगीचे से फूल चुन रहा था। अचानक दरवाजा खुला और तीन महिलाएं अंदर आयीं। एक ने मुझसे फूल मांगे। मैंने उत्तर दिया, सभी सुन्दर फूल माताजी के पास भेजे जायेंगे। तुम उन फूलों को ले सकती हो जो सुन्दर नहीं हैं। लेकिन मैं इन महिलाओं से क्षुब्ध हो गया।

संभवतः, ये निम्न चेतना की अमुक शक्तियों का प्रतीक हैं जो उसपर अधिकार करना चाहती हैं जिसे पहले से ही भगवान् को अर्पित किया जा चुका है।

३० जून १९३४

—माताजी

कल मैं बहुत अजीब अवस्था में था : पांच मिनट के लिये मैंने दुःख का अनुभव किया, पांच मिनट बाद खुशी का, यह सिलसिला तीन घंटे चला। फिर मैं यह सारा खेल समझ गया और मैंने इसे संकल्प-शक्ति और प्रार्थना द्वारा त्यागा। लेकिन मैं इस क्रिया को बिलकुल नहीं समझ पा रहा हूँ।

प्राण-सत्ता के दो भाग संघर्ष कर रहे थे, हर एक अपनी बारी में दूसरे पर हावी हो रहा था।

‘ग’ ने मुझसे कहा कि मानसिक और प्राणिक जगत् में ऐसी सत्ताएं हैं जो भगवद्विरोधी सत्ताओं की विरोधी हैं और हमारी सहायता करती हैं।

ठीक उसी तरह जैसे पृथ्वी पर ऐसे मनुष्य हैं जो दूसरों की मदद करना चाहते हैं।

२ जुलाई १९३४

—माताजी

आज मैं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मैं यह जानना चाहूंगा कि यह प्रसन्नता आध्यात्मिक है या नहीं?

अपने-आपसे ऐसे प्रश्न पूछने की जगह ज्यादा अच्छा होगा कि तुम शांत, एकाग्रचित्त और अचंचल रहो, ताकि प्रसन्नता बनी रह सके।

३ जुलाई १९३४

—माताजी

हे प्यारी मां, जब कोई मुझसे बातें करे तो मुझे अचंचल रहना सिखाइये, क्योंकि, बाद में मेरा मन भटकता है।

अपने-आपको बातचीत के साथ एक न कर लो। उसे ऊपर से, दूर से देखो।

अग्निशिखा
जुलाई १९९१

लये मैंने दुःख
सेला तौन घंटे
संकल्प-शक्ति
ल नहीं सम्भ
मनों कोई दूसरा सुन और बोल रहा है, और एकदम से अनिवार्य शब्दों के
अतिरिक्त और कुछ न बोलो।

—माताजी

४ जुलाई १९३४

आज मैंने अपने अंदर शक्ति को कार्य करते अनुभव किया। मुझे
आश्चर्य होता है कि मैंने इतना परिश्रम का काम कैसे किया—बिल्कुल
आराम किये बिना एक घंटे तक खुदाई। लेकिन मेरी समझ में यह नहीं
आता कि काम के खत्म हो जाने पर कुछ कम्पन क्यों रहा ?

ऐसी सत्ताएं हैं
हायता करत
संभवतः, शरीर के लिये शक्ति कुछ अधिक थी जिसे सह सकना उसके लिये
कठिन हो गया—इसलिये कम्पन हुआ।

आपने मुझे लिखा : जितना अनिवार्य हो उसके अतिरिक्त एक शब्द भी
मत बोलो, लेकिन अगर कोई मुझसे व्यर्थ का प्रश्न पूछे तो मुझे क्या
करना चाहिये ?

—माताजी

उसपर कोई महत्त्व न देते हुए, उपेक्षा भाव के साथ दो एक शब्दों में जवाब दे
दो।

४ जुलाई १९३४

—माताजी

क तुम शांत
प्यारी मां, आपकी शक्ति को सहने के लिये मैं अपने शरीर को किस
तरह तैयार कर सकता हूं ?

—माताजी

इना सिखाइये
सहने की शक्ति अचंचलता और स्थिरता में है।

५ जुलाई १९३४

—माताजी

दूर से देखो
'ग' ने मुझसे कहा कि संदेह पर श्रीअरविंद के संदेश पढ़ना बहुत
अच्छा है। "संदेह पर पढ़ना बिल्कुल आवश्यक नहीं है" मैंने उसे

अग्निप्रिया

जुलाई १९

उत्तर दिया। उसने कहा कि मेरे ख्याल से इस स्तर पर समस्त संदेह से मुक्त होना संभव नहीं है।

समस्त संदेह से मुक्त होना न केवल पूरी तरह संभव है बल्कि यह एकदम से अनिवार्य शर्त है, लेकिन विश्वास के साथ यह कह सकने के लिये कि व्यक्ति संदेह से मुक्त है उसे इस बात की निश्चिति के लिये कम-से-कम कुछ महान् प्रतीक्षा करनी चाहिये।

बहरहाल, इस तरह की चर्चा एकदम से व्यर्थ है—यह संदेह पर विचार लाने में सहायता नहीं करती।

९ जुलाई १९३४

—माताजी

मेरे अंदर से समस्त दौर्बल्य निकाल दो... जैसा कि लोग सोचते हैं, हे दिव्य मां, पूरी तरह से और पूर्ण रूप से आपका बालक बनना इतना आसान नहीं है। इसे करने के लिये...

व्यक्ति को बहुत निष्कपट और सीधा होना चाहिये, अपने अंदर ऐसी किसी चीज को सहन न करो जिसे तुम बिना भय के दिखा न सको, और ऐसा कोई काम न करो जिसे मेरे सामने करने में तुम्हें लज्जा आये।

११ जुलाई १९३४

—माताजी

ऐसा लगता है कि चेतना के हर स्तर पर अहं है; उदाहरण के लिये, मानसिक अहं, प्राणिक अहं, भौतिक अहं।

आध्यात्मिक अहं भी है, यहां तक कि अधिमान में रहनेवाले देवों के भी अपने अहं होते हैं।

और भागवत आनंद को पाने के लिये प्रत्येक को अपने अहं से मुक्त होना चाहिये।

अग्रिम
जुलाई १९९१

केवल समर्पण काफी नहीं है; अहं को विघटित करना होगा, भगवान् के अंदर
डुबा देना, उनके अंदर विलीन करना होगा।

१२ जुलाई १९३४

—माताजी

आपने लिखा है कि केवल समर्पण काफी नहीं है; अहं को विघटित
करना होगा, भगवान् के अंदर डुबा देना होगा, उनके अंदर विलीन
करना होगा। मुझे यह नहीं मालूम कि इसे कैसे किया जाये।

फिलहाल यह प्रश्न नहीं उठता, पहले समर्पण को सर्वांगीण और पूर्ण बनाना
होगा।

मेरे ख्याल से अतिमानसिक देवों में अहं नहीं होता। अतः मैं सोचता हूँ
कि स्वयं धरती पर हमें उनकी तरह निरहंकारी बनना चाहिये और फिर
भागवत निर्देशन के अनुसार क्रिया करनी चाहिये।

मेरे ख्याल से अतिमानस में क्या हो सकता है इसके बारे में अभी से
अटकलबाजी करना व्यर्थ है।

१२ जुलाई १९३४

—माताजी

आरूमे की छत से फ्रेंच गणतंत्र दिवस समारोह देखने के लिये मैं पांच
बजे तैयार हो गया लेकिन यह सोचकर कि मेरा न जाना आप अधिक
पसंद करेंगी मैं वापिस आ गया।

इस या दूसरे किसी भी मामले में मेरी कोई अभिरुचि नहीं है। हर एक के लिये
निश्चय उसकी अपनी आवश्यकता पर निर्भर है।

१४ जुलाई १९३४

—माताजी

मेरी समझ में नहीं आया कि इस बात से आपका क्या मतलब है “मेरी

अग्रिमिषा

जुलाई १९

कोई अभिरुचि नहीं है . . . ” क्या इसका यह मतलब है आपसे किन
पूछे हमें अपने-आप ही यह निश्चय करना चाहिये कि चीज करने
चाहिये या नहीं ?

नहीं । मैंने वाक्य खतम नहीं किया । मेरा मतलब था कि मैं अभिरुचियों के
अनुसार नहीं बल्कि प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार निश्चय करती हूँ ।
१६ जुलाई १९३४

—माताजी

मेरी समझ में नहीं आता कि आज सुबह प्रणाम के समय मैंने अपने
अंदर किसी विशेष रुचि या उत्साह का अनुभव क्यों नहीं किया ?

सब ठीक है मेरे बच्चे, चिंता मत करो । चेतना को अपने अंदर विकसित होने
दो, इसीकी आवश्यकता है—चेतना के साथ सब कुछ ठीक होगा ।

१९ जुलाई १९३४

—माताजी

माताजी, पिछली बार 'ज' ने मुझसे किसी व्याख्या के बारे में नहीं पूछा
था बल्कि श्रीअरविंद के पत्रों के विषय में कुछ पूछा था । भौतिक
जीवन और अपने घर छोड़ने के बारे में उसने जो लिखा जब मैंने वह
पढ़ा तो मैं विचलित हो गया—इसीलिये मेरी अभीप्सा में बाधा आयी ।
मेरी प्यारी मां, मैं वही करूंगा जो आप चाहेंगी ।

२४ जुल

अगर यह चीज तुम्हें अशांत करे तो वह जो कहती है उसपर कान न दो और
न श्रीअरविंद के पत्रों की व्याख्या करो ।

आज शाम मैंने विचलित हुए बिना उसे समझाया ।

हां, यह स्पष्ट है कि अगर तुम उस दुर्बलता पर विजय पा लो जो तुम्हें
विचलित करती है तो यह ज्यादा अच्छा है क्योंकि यह सच्चा उपचार है ।
२४ जुलाई १९३४

—माताजी

जुलाई १९९१

मेरी प्यारी नन्हीं मां,

कल शाम, ध्यान के समय मैंने कितने प्रेम का अनुभव किया—मैंने प्रेम की लहरों, स्पंदनों का अनुभव किया। लेकिन यह प्रेम अपने-आपको दूसरों पर उंडेलता है। पहले, जब मैं अधिक प्रेम का अनुभव करता था तो वह नीरव रहता था, मैं अधिक गम्भीर हो जाता था, मैं उसे अभिव्यक्त नहीं करता था। लेकिन इस बार, इसके विपरीत, मैंने इसे अपने-आपको अभिव्यक्त करने दिया क्योंकि मैंने इसे अवांछनीय नहीं समझा। अगर आप आवश्यक समझें तो मैं इसे अंतर्मुख कर दूंगा।

जिस प्रेम को तुम नीरवता में प्राप्त करते हो वह तुम्हारे अंदर शुद्धि और रूपांतर के लिये कार्य करता है। जो प्रेम तुम बहिर्मुख करते हो—अगर तुम इसे पवित्र और निस्स्वार्थ तरीके से करो—वह कभी-कदास दूसरों की मदद कर सकता है। लेकिन बहुधा लोग इसे गलत तरीके से लेते हैं... इसलिये तुम्हें अपनी सहज-वृत्ति के निर्देशानुसार काम करना चाहिये।

२४ जुलाई १९३४

—माताजी

आज मैंने २४ व्यक्तियों से बातें कीं। मेरे ख्याल से यह बहुत ज्यादा है। आज सुबह से मैं आनंद के अभाव का अनुभव कर रहा हूँ। कोई बुरा भाव नहीं है लेकिन मैंने जिस प्रेम का अनुभव किया था वह अब नहीं है।

यह एकदम से स्वाभाविक है—तुमने उसे बेतहाशा बरबाद किया, जो कुछ भगवान् से आया था उसे भगवान् पर एकाग्रचित्त करने की बजाय तुमने उसे दूसरों पर नष्ट कर गंवा दिया।

२४ जुलाई १९३४

—माताजी

मधुर मां, आपका उत्तर पढ़ने के बाद मैं गंभीर हो गया। मैंने सोचा कि मुझे चुपचाप रहना चाहिये—कम-से-कम आज के लिये। क्षण भर

अभिप्रेत

बाद सत्ता के एक भाग ने कहा, यह सच्ची नीरवता नहीं है बल्कि प्राण की अतृप्ति है, क्योंकि तुम भली-भांति देख सकते हो कि इसमें बहुत सुख और उत्साह नहीं है। मैंने सोचा कि दूसरे भाग की बात सही थी।

दोनों अंशतः सच्चे और अंशतः झूठे हैं। नीचे उतरनेवाली शक्ति को नीरवता और एकाग्रता में ग्रहण करना बुद्धिमत्ता है, लेकिन प्राण को उसकी सनकों के पीछे जाने की अनुमति न देने की वजह से उसकी कुढ़न के कारण यह नीरवता और एकाग्रता न आनी चाहिये।

यह एकाग्रता और नीरवता न केवल एक महान् शांति से भरी होनी चाहिये बल्कि बहुत तीव्र सुख से भी भरपूर होनी चाहिये। तभी तुम जानते हो कि क्रिया सच्ची और अमिश्रित है।

२४ जुलाई १९३४

—माताजी

आज ११ बजे मैंने अपने सिर पर बहुत दबाव का अनुभव किया और मैं अपने गणित को आगे न चला सका। मुझे मालूम नहीं कि क्या करना चाहिये ?

शांत रहो, क्षुब्ध मत हो—यह गुजर जायेगा।

२५ जुलाई १९३४

—माताजी

हे मां, मैं आपका पूरी तरह से आज्ञाकारी बालक बनना चाहता हूँ। आपको अभिव्यक्त करने से पहले मैं आपकी इच्छा जानना चाहता हूँ। इसे पाने के लिये मेरे अंदर...

भागवत इच्छा को चरितार्थ करने के सिवा किसी भी चीज के लिये कोई अभिरुचि नहीं होनी चाहिये।

२८ जुलाई १९३४

—माताजी

जुलाई १९९१

माताजी, क्या आप मुझे बतायेंगी कि अहंकार से छूटने के लिये क्या करना चाहिये ?

आग्रह के साथ इसकी इच्छा करने से तुम इसे पा सकते हो ।

३१ जुलाई १९३४

—माताजी

मेरी प्यारी मां, एक सपने में मैंने आपको विभिन्न रूपों में देखा । आप एकदम से किशोरी थीं, मेरी उम्र की, करीब सतरह-अठारह साल की, फिर भी मैंने आपसे वैसा ही व्यवहार किया मानों मैं आपका बालक हूं । लेकिन मुझे शंका है कि किशोरी जिसे मैंने माताजी कहा, वह एक ऐसी सत्ता से बढ़कर और कुछ न थी जिसने आपका रूप धारण कर लिया था ।

यह बिल्कुल असंभव नहीं है कि मैं विभिन्न रूपों में प्रकट होऊं, यहां तक कि किशोरी के रूप में भी ।

१ अगस्त १९३४

—माताजी

माताजी, मेरी समझ में नहीं आता कि मैं सपने में बहुधा बिच्छू और सांप क्यों देखता हूं ?

ये बुरे विचारों और विकृत या अंधकारमय ऊर्जाओं के प्रतीक हैं ।

१ अगस्त १९३४

—माताजी

माताजी, मुझे नहीं मालूम कि जब दबाव हो तो अपनी पढ़ाई के बारे में क्या किया जाये क्योंकि मेरा मन काम करना बंद कर देता है ।

तबतक प्रतीक्षा करो जबतक तुम्हारा मन फिर से काम करना शुरू न कर दे ।

२ अगस्त १९३४

—माताजी

(बुलेटिन अगस्त ८३ से)

श्रीअरविंद की शिक्षा और साधना-पद्धति

(उनके पत्रों से संकलित)

ध्यान के द्वारा साधना

ध्यान का ठीक-ठीक अर्थ क्या है ?

भारतीय शब्द ध्यान के विचार को अभिव्यक्त करने के लिये अंग्रेजी में दो शब्द हैं मेडिटेशन और कांटेम्प्लेशन। मेडिटेशन का ठीक-ठीक अर्थ है एक विषय को व्यक्त करनेवाली एक विचारधारा पर अपने मन को एकाग्र करना। कांटेम्प्लेशन का अर्थ है किसी एक विषय, प्रतिमा या विचार को मानसिक रूप से इस तरह देखना कि उस विषय, प्रतिमा या विचार का ज्ञान स्वाभाविक रूप से मन में एकाग्रता की शक्ति द्वारा उठे। ये दोनों ध्यान की शक्तियाँ हैं, क्योंकि ध्यान का सिद्धांत है मानसिक एकाग्रता, चाहे वह विचार पर हो या अंतर्दर्शन या ज्ञान पर।

ध्यान के अन्य रूप भी हैं। एक अनुच्छेद में विवेकानन्द सलाह देते हैं कि तुम अपने विचारों से अलग-थलग खड़े रहो। उन्हें अपने मन में जैसे उनकी इच्छा हो आने दो। तुम उन्हें बस देखते रहो कि वे क्या हैं। इस आत्मावलोकन को ध्यान कहा जा सकता है।

यह रूप एक और ध्यान की ओर ले जाता है। मन को सभी विचारों से खाली कर देना ताकि वहाँ एक तरह से शुद्ध जागरूक रिक्तता हो, जिसमें भागवत ज्ञान, सामान्य मानव मन के निम्नतर विचारों से अक्षुब्ध रहते हुए, श्यामपट्ट पर सफेद खड़िया की लिखाई की तरह स्पष्ट रूप से आकर अपनी छाप लगा सके। तुम देखोगे कि गीता सभी मानसिक विचारों के इस त्याग की बात को योग की पद्धति बताती है, और पद्धति भी ऐसी जिसे वह अधिक पसंद करती है। इसे मुक्ति का ध्यान कहा जा सकता है क्योंकि यह मन को यांत्रिक चिंतन-प्रक्रिया की दासता से मुक्त करता है और सोचने या न सोचने

जुलाई १९९१

धृति

की, जैसे चाहे और जब चाहे सोचने की छूट देता है। या वह अपने विचारों को चुन सकता है या विचार के परे सत्य के शुद्ध प्रत्यक्ष दर्शन तक जा सकता है जिसे हमारे दर्शन में विज्ञान कहते हैं।

मानव मन के लिये मेडिटेशन या मनन सबसे सरल पद्धति है परंतु अपने परिणामों में सबसे अधिक संकीर्ण भी है। चिंतन अधिक कठिन है परंतु ज्यादा बड़ा है। आत्मावलोकन और विचार की जंजीरों से मुक्ति सबसे कठिन परंतु फल की दृष्टि से सबसे अधिक विस्तृत और महान् है। तुम अपनी वृत्ति और क्षमता के अनुसार कोई भी चुन सकते हो। पूरा पक्का तरीका तो यह है कि इन सबका उपयोग किया जाये—प्रत्येक का अपने स्थान पर और अपने उद्देश्य के लिये। लेकिन इसके लिये स्थिर श्रद्धा और दृढ़ धैर्य और योग के लिये आत्म-विनियोग की बहुत बड़ी इच्छा शक्ति होनी चाहिये।^१

ध्यान के लिये कौन-सा विषय या कौन-से विचार लेने चाहियें ?

जो भी तुम्हारी प्रकृति और उच्चतम अभीप्सा के अनुरूप हो। लेकिन अगर तुम मुझसे एक सुनिश्चित उत्तर मांगते हो तो मुझे कहना होगा कि मनन या चिंतन के लिये ब्रह्म सबसे अच्छा विषय है और मन को जिस विचार पर दृढ़ होना चाहिये वह है भगवान्, सबके अंदर, सबके अंदर भगवान् और सब कुछ भगवान्। इससे बहुत अधिक अंतर नहीं पड़ता कि यह सगुण भगवान् हैं या निर्गुण भगवान् या आत्मनिष्ठ रूप में एकमेव आत्मा। लेकिन मैंने इसी विचार को सबसे अच्छा पाया है क्योंकि यह उच्चतम है और अपने अंदर दूसरे सभी सत्तों को समाविष्ट कर लेता है चाहे वे इस जगत् के या अन्य जगत्ओं के या सारी ऐहिक सत्ता के परे के सत्य हों—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

... ईशोपनिषद् के विश्लेषण के दूसरे खंड के अंत में तुम सर्व के इस

^१जैसा कि श्रीअरविंद ने कहा है हमारे यहां मेडिटेशन और कंटेम्प्लेशन दोनों के लिये ध्यान शब्द चलता है। यहां भेद करने के लिये हमने पहले को मनन और दूसरे को चिंतन कहा है।—अनु०

दर्शन का वर्णन पा सकते हो जो इस विचार को समझने में तुम्हारी सहायता करेगा ।^१

हमें ब्रह्म को बोधगम्य रूप में स्थावर और जंगम दोनों में देखना होगा । हमें उसे शाश्वत और अपरिवर्तनीय आत्मा में और विश्व की परिवर्तनशील अभिव्यक्तियों और सापेक्षता में देखना होगा ।

हमें सभी चीजों को, देश और काल में देखना चाहिये । दूर और नजदीक, अति प्राचीन अतीत, आसन्न वर्तमान और अनंत भविष्य, उनमें समायी वस्तुओं और उनकी घटनाओं को एकमेव ब्रह्म के रूप में देखना चाहिये ।

हमें ब्रह्म को उस रूप में देखना चाहिये जिसमें सभी व्यष्टिगत वस्तुएं समायी हुई हैं, जो उनको आश्रय देता है और उनका अतिक्रमण कर जाता है । साथ ही वह समस्त विश्व काल, देश और कार्य-कारण की परात्परता को भी अपने अंदर समाये हुए है और उनका अतिक्रमण करता है । हमें उसे उस रूप में भी देखना है जो विश्व में जीता है, समस्त विश्व पर और जो कुछ उसमें है उसपर अधिकार रखता है ।

यह है परात्पर, वैश्व और व्यष्टिगत ब्रह्म, प्रभु, धारक और अंतर्धामी आत्मा जो समस्त ज्ञान का विषय है । उसकी उपलब्धि ही पूर्णता की अवस्था और अमरता का मार्ग है ।

(श्रीअरविंद कृत 'उपनिषद्' से)

ध्यान के लिये अत्यंत अनिवार्य आंतरिक और बाह्य शर्तें क्या हैं ?

कोई अनिवार्य बाहरी शर्त नहीं है । लेकिन ध्यान के समय, एकांत और निर्जन स्थान, साथ ही शरीर की स्थिरता सहायक होती है, कभी-कभी आरंभ करनेवाले के लिये लगभग आवश्यक भी होती है लेकिन तुम्हें बाहरी परिस्थितियों से बंध नहीं जाना चाहिये । एक बार ध्यान करने की आदत पड़ जाये तो सभी परिस्थितियों में, लेटे हुए, बैठकर, चलते हुए, अकेले में, संगी-साथियों के बीच, सत्राटे में या शोर के बीच ध्यान करना संभव होना चाहिये ।

^१ उपनिषद् हमें यह सिखलाता है कि हम ब्रह्म को विश्व में और अपनी आत्म सत्ता में कैसे देखें ।

जुलाई १९९१

पहली आवश्यक आंतरिक अवस्था है ध्यान-विरोधी बाधाओं, उदाहरण के लिये मन का भटकना, भुलक्कड़पन, नींद, शारीरिक और स्नायविक अधीरता और वेचैनी आदि के विरुद्ध इच्छा की एकाग्रता।

दूसरी आवश्यकता है आंतरिक चेतना यानी चित्त जिसमें से समस्त विचार और भाव उठते हैं, उसकी उत्तरोत्तर शुद्धि और स्थिरता। उदाहरण के लिये क्रोध, दुःख, उदासी, सांसारिक घटनाओं के बारे में चिंता आदि सभी उपद्रवी प्रतिक्रियाओं से मुक्ति। मानसिक पूर्णता और नैतिकता एक दूसरे से हमेशा निकटस्थ संबंध रखते हैं।

*

अगर ध्यान में कठिनाई यह है कि सब प्रकार के विचार आते हैं तो यह विरोधी शक्तियों के कारण नहीं, मानव मन की साधारण प्रकृति के कारण हैं। सभी साधकों के आगे यह कठिनाई आती है और कइयों में यह बड़े लंबे समय तक चलती है। इससे पिंड छुड़ाने के कई तरीके हैं। उनमें से एक यह है कि विचारों पर नजर डालो और वे मानव मन के जिस स्वभाव को दिखलाते हैं उसका अवलोकन करो लेकिन उन्हें स्वीकृति न दो, उन्हें तबतक चलते रहने दो जबतक वे अपने-आप ठप्प न हो जायें। विवेकानन्द ने अपने राजयोग में यह तरीका बतलाया है। दूसरा तरीका है कि विचारों को ऐसे देखो कि वे तुम्हारे अपने नहीं हैं, साक्षी पुरुष की तरह पीछे हटकर खड़े रहो और स्वीकृति देने से इंकार करो—विचारों को बाहर से, प्रकृति से आनेवाली चीज के रूप में देखा जाता है और उनके बारे में यूँ अनुभव करना चाहिये मानों वे मन के प्रदेश में घूमनेवाले राही हैं जिनके साथ तुम्हारा कोई संबंध नहीं और तुम्हें उनमें कोई रस नहीं। इस तरह प्रायः ऐसा होता है कि कुछ समय बाद मन के दो भाग हो जाते हैं, एक भाग जो मानसिक साक्षी होता है, जो देखता रहता है और पूरी तरह अक्षुब्ध और अचंचल रहता है और दूसरा वह भाग जो अवलोकन का विषय है, प्रकृति का भाग है जिसमें विचार गुजरते और भटकते रहते हैं। बाद में तुम प्रकृति के भाग को भी चुप या स्थिर करने की

कोशिश कर सकते हो। एक तीसरा सक्रिय उपाय भी है जिसमें तुम यह देखते हो कि विचार आते कहां से हैं और यह पता लगता है कि तुम्हारे अपने अंदर से नहीं मानों, मन के बाहर से आते हैं। अगर तुम उन्हें आते हुए पकड़ सको तो उन्हें अंदर घुसने से पहले उन्हें एकदम फेंक देना चाहिये। शायद यह सबसे कठिन उपाय है और सभी इसका उपयोग नहीं कर सकते। लेकिन अगर यह किया जा सके तो यह नीरवता की ओर सबसे छोटा और सबसे अधिक सशक्त मार्ग है।

*

मन को नीरव करने के लिये इतना काफी नहीं है कि जो भी विचार आये उसे पीछे धकेल दिया जाये। यह केवल एक गौण गति हो सकती है। तुम्हें सभी विचारों से पीछे हटना चाहिये और उनसे अलग होना चाहिये। अगर विचार आयें तो एक नीरव चेतना उनका अवलोकन करे लेकिन वह स्वयं न तो सोचे और न उनके साथ तादात्म्य साधे। विचारों को एकदम बाहर की चीजों के रूप में अनुभव किया जाये। तब विचार को त्यागना या मन की अचंचलता को क्षुब्ध किये बिना उन्हें गुजर जाने देना आसान होता है।

*

नीरवता अचंचलता से बढ़कर है। विचार को आंतरिक मन से एकदम देशनिकाला देकर बाहर से मन को निःशब्द और अचंचल रखकर इसे पाया जा सकता है। परंतु यह ऊपर से अवतरण द्वारा ज्यादा आसानी से प्रतिष्ठित की जा सकती है—तुम इसे नीचे उतरते हुए, व्यक्तिगत चेतना में प्रवेश करते, उसपर अधिकार करते हुए या उसे धीरे हुए अनुभव करते हो। और तब वह चेतना विशाल निर्वैयक्तिक नीरवता में मिल जाने की ओर प्रवृत्त होती है।

*

जुलाई १९९१

अग्निप्रिया

यह देखते ही
अंदर से न
को तो उनके
नबसे करि
ह किया जा
त मार्ग है।विचार आये
ती है। तुम्हें
हेये। अगर
स्वयं न तो
र की चीजों
अचंचलतासे एकदम
र इसे पाया
से प्रतिष्ठित
प्रवेश करते,
और तब वह
होती है।

नीरवता में प्रवेश करना सरल नहीं है। यह सभी मानसिक और प्राणिक क्रिया-कलाप को निकाल बाहर करने से ही संभव हो सकता है। ज्यादा आसान है नीरवता को अपने अंदर अवतरित होने देना यानी अपने-आपको खोलना और उसे उतरने देना। इसे करने की और उच्चतर शक्तियों को नीचे बुलाने की विधि एक ही है; वह है, ध्यान के समय स्थिर अचंचल रहना, मन के साथ न तो लड़ना और न शक्ति या नीरवता को उतारने के लिये मानसिक प्रयास करना बल्कि उनके लिये केवल एक नीरव इच्छा और अभीप्सा रखना। अगर मन सक्रिय है तो तुम्हें उसे देखना, पीछे हटना और भीतर से स्वीकृति न देना सीखना होगा जबतक कि उसकी अभ्यासगत या यांत्रिक क्रियाएं भीतर से सहाय पाने के अभाव में झड़ न जायें। अगर वे बहुत हठी हों तो बिना खींच-तान और संघर्ष के सतत परित्याग ही करने लायक एकमात्र चीज है।

*

नीरव मन योग का परिणाम है। साधारण मन कभी नीरव नहीं होता... विचारक और दार्शनिकों के मन नीरव नहीं होते, उनके मन क्रियाशील होते हैं; स्वभावतः वे एकाग्र होते हैं इसलिये उनमें सामान्य असम्बद्ध मानसिकता रुक जाती है और जो विचार उठते, उनके अंदर प्रवेश करते या अपने-आपको ढालते हैं वे विषय या हाथ में लिये कार्य के अनुरूप होते हैं, लेकिन यह पूरे मन के नीरव हो जाने की बात से एकदम अलग चीज है।

—श्रीअरविंद

अंतर्भास की क्षमता और एकाग्रता

मां, अंतर्भास की क्षमता को कैसे विकसित किया जा सकता है ?

अंतर्भास के कई प्रकार होते हैं, और ये क्षमताएं हमारे अंदर होती हैं। हमेशा ही थोड़ी क्रियाशील रहती हैं लेकिन हम उन्हें पहचानते नहीं, क्योंकि हमारे अंदर क्या हो रहा है उसकी ओर हम बहुत ध्यान नहीं देते।

भावनाओं के पीछे, सत्ता की गहराई में, हृत्केन्द्र के पास आसीन चेतना के एक तरह का पूर्वज्ञान रहता है, पूर्वदृष्टि की क्षमता के जैसा, पर विचारों के रूप में नहीं, बल्कि भावनाओं के रूप में, करीब-करीब संवेदनों का बोध। उदाहरण के लिये, जब कोई कुछ करने का निर्णय करने लगता है तो कभी-कभी एक प्रकार की बेचैनी-सी होती है, या अंदर से इंकार होता है और साधारणतया, यदि कोई इस गहनतर संकेत को सुन ले तो वह देखेगा कि वह उचित थी।

कुछ अन्य लोगों में कोई चीज धकेलती है, संकेत देती है, आग्रह करती है (मैं आवेशों की बात नहीं कह रही, समझे, उन स्पंदनों की बात नहीं कह रही जो प्राण से या उससे भी निम्न स्तर से आते हैं), ऐसे संकेत जो भावनाओं के पीछे काम करते हैं, जो सत्ता के भावात्मक पक्ष से आते हैं; वहां भी, तुम्हें इसका काफी स्पष्ट संकेत मिल सकता है कि क्या करना चाहिये। ये अंतर्भास या उच्चतर सहज-बोध के प्रकार हैं जिन्हें निरीक्षण और परिणामों के अध्ययन से बढ़ाया जा सकता है। स्वभावतया, इसे पूरी तरह सच्चाई से, वस्तुपरक दृष्टि से, निष्पक्ष रूप से करना चाहिये। यदि कोई चीजों को किसी खास ढंग से ही देखना चाहे और साथ ही इस निरीक्षण का अभ्यास करना चाहे तो सब बेकार होगा। इसे तो ऐसे करना चाहिये मानों कोई अपने बाहर से किसी चीज को घटते देख रहा हो, किसी दूसरे के दृष्टिकोण से देख रहा हो।

यह अंतर्भास का एक प्रकार है और शायद पहला जो साधारणतः प्रकट होता है।

एक दूसरा प्रकार भी है, पर उसका निरीक्षण करना कहीं अधिक कठिन है

जुलाई १९११

ज्योंकि जो सोचने के, तर्क-बुद्धि से काम करने के—भावावेश से नहीं, तर्क-बुद्धि से—कोई काम करने से पहले उसपर विचार करने के आदी हैं उनके अर्थ-चेतन विचार में कारण से लेकर परिणाम तक बहुत तेज प्रक्रिया होती है जिसके कारण व्यक्ति शृंखला को, तर्क की पूरी शृंखला को नहीं देखता और फलतः यह नहीं समझ पाता कि यह तर्क की शृंखला है और बस, वह धोखा खा जाता है। तुम्हें लगता है कि यह अंतर्भास है, पर यह अंतर्भास नहीं है : यह अत्यधिक द्रुतगति से होनेवाली तर्कणा है जो अवचेतन है और किसी समस्या को लेकर सीधी निष्कर्षों तक पहुंचती है। इसे अंतर्भास मान लेने की गलती कभी नहीं करनी चाहिये।

अंतर्भास, साधारण मस्तिष्क के काम में, वह चीज है जो ज्योति की एक बूंद की तरह सहसा टपकती है। यदि किसी में क्षमता है, मानसिक अंतर्दर्शन को क्षमता का प्रारंभ है तो यह ऐसी छाप छोड़ता है मानों कोई चीज बाहर से या ऊपर से आ रही है,—मानों ज्योति की एक बूंद का दिमाग पर जरा-सा आघात है जो सब तर्क-वितर्क से बिलुकल अलग है।

जब तुम मन को नीरव करने में, इसे चुप और एकाग्र करने में, इसकी निल की क्रिया को रोकने में सफल हो जाते हो, मानों यह एक तरह से दर्पण में बदल गया हो और अविरत एवं नीरव मनोयोग में उच्चतर क्षमता की ओर मुड़ गया हो, तब यह आसानी से देखा जा सकता है। व्यक्ति ऐसा करना भी सीख सकता है। इसे सीखना ही चाहिये, यह एक आवश्यक अनुशासन है।

जब तुम्हें कोई प्रश्न हल करना हो, वह चाहे कुछ भी हो, तो आम तौर पर तुम अपना ध्यान यहां (भौंहों के बीच दिखाते हुए) एकाग्र करते हो, आंखों से ऊपर, मध्य में, जो संचेतन संकल्प का केंद्र है। परंतु, जब तुम यह करते हो तब अंतर्भास के संपर्क में नहीं आ सकते। तुम संकल्प, प्रयास और यहांतक कि अमुक प्रकार के ज्ञान के स्रोत के संपर्क में आ सकते हो, पर बाह्य, लगभग भौतिक क्षेत्र में; जब कि यदि तुम अंतर्भास के साथ संपर्क चाहते हो तो तुम्हें इसे (श्रीमां माथा दिखाती हैं) बिलकुल निश्चल रखना चाहिये। क्रियारत विचार को यथासंभव रोक देना चाहिये और सिर के ऊपर स्थित और यदि संभव हो तो इससे भी जरा ऊपर स्थित सारी मानसिक क्षमता

को . . . एक दर्पण के समान बना देना चाहिये जो बहुत शांत हो, बहुत स्थिर हो, नीरव और एकाग्र अवधानता के साथ ऊपर की ओर मुड़ा हुआ हो। यदि तुम ऐसा करने में सफल हो जाते हो तो तुम्हें—शायद तुरत तो नहीं—लेकिन तो भी, तुम्हें उन ज्योति की बूंदों का बोध हो सकता है जो अभी तक अज्ञात क्षेत्र से दर्पण पर पड़ रही हैं और एक सचेतन विचार के रूप में अनूदित हो रही हैं जिसका तुम्हारे बाकी के विचारों से कोई संबंध नहीं क्योंकि तुम उन्हें नीरव कर सके हो। बौद्धिक अंतर्भास का यह वास्तविक प्रारंभ है।

यह एक अनुसरण करने योग्य साधन है। हो सकता है कि तुम लंबे समय तक प्रयत्न करो पर सफलता हाथ न लगे, लेकिन “दर्पण को स्थिर और सावधान बनाने” में जैसे ही तुम सफल हो जाओगे वैसे ही तुम्हें उसका फल मिलेगा, यह आवश्यक नहीं है कि वह ठीक-ठीक विचार का रूप हो, पर ऊपर से उतरती हुई ज्योति का संवेदन हमेशा होगा। और उस समय यदि तुम इस ऊपर से आती हुई ज्योति को ग्रहण कर सको, तुरत ही किसी बवंडर-जैसे काम में न जुट जाओ, इसे नीरवता और स्थिरता में ग्रहण करो और इसे सतत की गहराई तक भेदने दो, तब कुछ समय बाद या तो यह आलोकित विचार में या फिर यहां (श्रीमां हृदय की ओर संकेत करती हैं), इस दूसरे चक्र में यथार्थ निर्देशन के रूप में अनूदित हो जाती है।

स्वभावतया, पहले इन दो क्षमताओं का विकास करना चाहिये; उसके बाद, जैसे ही कुछ परिणाम नजर आये, तो, जैसा कि मैंने पहले कहा है, उस परिणाम का निरीक्षण करना चाहिये और जो कुछ हो रहा है उसको और उसके परिणामों के साथ के संबंध को देखना चाहिये; देखो, बहुत ध्यान से देखो कि क्या भीतर आया है, किसने क्या विकृति पैदा की है, कम या ज्यादा तर्क द्वारा, निम्न इच्छा-शक्ति के हस्तक्षेप द्वारा, जो कुछ-कुछ सचेतन भी है, तुमने क्या जोड़ा है; और बहुत गहन अध्ययन के बाद (वास्तव में तो लगभग हर पल के, कम-से-कम दैनिक और बार-बार के अध्ययन के बाद) मनुष्य अपने अंतर्भास को विकसित करने में सफल होता है। बहुत लंबा समय लगता है इसमें। समय लगता है और फिर घात के स्थल भी हैं : तुम अपने को छल सकते हो, अवचेतन इच्छाओं को, जो अपने को प्रकट करने की कोशिश

अग्रिमार्ग
जुलाई १९११

बहुत सख्त करती हैं, और आवेगों द्वारा मिले निदर्शन को, जिन्हें तुमने खुले रूप में ग्रहण करने से इंकार कर दिया था, अंतर्भास मानकर बैठ सकते हो; सचमुच, सब तरह की कठिनाइयां हैं। तुम्हें इसके लिये तैयार रहना होगा। लेकिन यदि तुम लगे रहो तो सफलता जरूर मिलेगी।

एक ऐसा क्षण भी होता है जब तुम्हें आंतरिक पथ-प्रदर्शन का अनुभव होता है, जो कुछ भी करते हो उस सबमें बड़े प्रत्यक्ष ढंग से कोई तुम्हें चलाता है। पर हां, उस पथ-प्रदर्शन की अधिक-से-अधिक शक्ति पाने के लिये तुम्हें सहायता उसके साथ सचेतन समर्पण जोड़ देना होगा। उस उच्चतर शक्ति द्वारा किये गये निदर्शन का अनुसरण करने के लिये तुम्हारे अंदर सच्चा निश्चय होना चाहिये। यदि तुम ऐसे करते हो तो . . . तुम बरसों के अध्ययन को लांघ सकते हो, अत्यधिक तेजी से परिणाम को पकड़ सकते हो। यदि तुम उसे जोड़ दो तो फल बहुत जल्दी मिल जायेगा। पर, इसे करना चाहिये सच्चाई के साथ . . . एक तरह की आंतरिक सहजता के साथ। यदि तुम इस समर्पण के बिना प्रयत्न करना चाहो तो तुम्हें सफलता मिल सकती है—जैसे तुम अपने व्यक्तिगत संकल्प के विकास के लिये भी करते हो और उसे काफी शक्तिशाली बना लेते हो—लेकिन इसमें बड़ी देर लगती है, बहुत बाधाओं से टक्कर लेनी पड़ती है और फल भी बहुत संदिग्ध होता है; व्यक्ति को बहुत प्रयत्नशील, आग्रही, अध्यवसायी होना चाहिये, तब सफलता अवश्यभावी है, पर काफी परिश्रम के बाद।

सच्चे, पूर्ण आत्मदान के साथ अपने को समर्पित कर दो और तुम बिना एक-दोके के वेग से आगे बढ़ोगे, तुम कहीं अधिक तेज चलोगे—लेकिन इसे हिसाब लगाकर मत करना, क्योंकि यह सब कुछ बिगाड़ देता है !

(मौन)

इसके अतिरिक्त, जीवन में तुम कुछ भी करना चाहो, एक चीज नितांत अपरिहार्य है और सबके मूल में है, वह है ध्यान एकाग्र करने की क्षमता। यदि तुम एक बिंदु पर ध्यान और चेतना की किरणों को केंद्रित करने में सफल

हो जाते हो और इस एकाग्रता को दृढ़ संकल्प द्वारा बनाये रख सकते हो। ऐसी कोई चीज नहीं जो इसका प्रतिरोध कर सके—चाहे कुछ भी क्यों न हो। वह नितांत जड़-भौतिक विकास से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विकास तक, पर इस अनुशासन का पालन करना चाहिये निरंतर, या यूँ कहें, निर्विकार रहें। यह नहीं कि हमेशा एक ही चीज पर एकाग्र रहना होगा—मेरा मतलब यह नहीं है, मेरा मतलब है एकाग्रता सीखने से।

भौतिक रूप में, अध्ययन, खेल-कूद, सब तरह के शारीरिक और मानसिक विकास के लिये यह नितांत अपरिहार्य है। और मनुष्य की कीमत उसके अवधान के गुण के अनुपात में होती है।

और आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका और भी अधिक महत्त्व है। कोई भी आध्यात्मिक बाधा ऐसी नहीं जो एकाग्रता की मर्मभेदी शक्ति का प्रतिरोध कर सके। उदाहरण के लिये, चैत्य पुरुष का संधान, अंतर्स्थित भगवान् के साथ मिलन, उच्चतर प्रदेशों की ओर उन्मीलन, सब प्रगाढ़ और आग्रही एकाग्रता की शक्ति द्वारा उपलब्ध किये जा सकते हैं—लेकिन इसे करना सीखना होगा।

मानवी क्षेत्र में, और अतिमानवी तक में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी कुंजी एकाग्रता की शक्ति न हो।

इस क्षमता के साथ तुम श्रेष्ठ खिलाड़ी हो सकते हो, श्रेष्ठ विद्यार्थी हो सकते हो, कलाकार, साहित्यिक और वैज्ञानिक बन सकते हो, सबसे बड़े संत बन सकते हो। और प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रारंभ-बिंदु के रूप में रहता है—यह सबको मिला हुआ है, पर वे इसे बढ़ाते नहीं।

—श्रीमातृवाणी (खण्ड १)

मानसिक ईमानदारी

मधुर मां, “मानसिक ईमानदारी” का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

यह ऐसा मन है जो अपने-आपको धोखा देने की चेष्टा नहीं करता। वास्तव में “चेष्टा” की बात ही नहीं उठती क्योंकि वह ऐसा करने में खूब सफल रहता है !

जुलाई १९११

अग्निशिखा

सकते हो

क्यों न हो

विकास तक

विवेक रखें

मेरा मतलब

और मानसिक

कीमत उसके

है। कोई भी

प्रतिरोध का

मान के साथ

वही एकाग्रता

रखना होगा।

मैं है जिसकी

विद्यार्थी हो

बसे बड़े संत

रूप में रहते

(खण्ड १)

है ?

। वास्तव में

सफल रहते

ऐसा लगता है कि मनुष्य के सामान्य मनोवैज्ञानिक गठन में, मन का निरंतर कार्य होता है कामनामय पुरुष में, प्राण में, मन के सर्वाधिक भौतिक भागों में एवं शरीर के सूक्ष्मतम भागों में जो कुछ होता है उसकी सफाई देना। हमारी गलतियों और अवांछनीय क्रियाओं द्वारा छोड़ी दुःखद छाओं से यथासंभव बचने के लिये जो कुछ हम करते हैं उसकी सफाई देने में, यहांतक कि उसे सुविधाजनक ढंग से उचित ठहराने में प्रायः सत्ता के सभी भागों की साझेदारी-सी होती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी ने विशेष प्रशिक्षण ही न पाया हो और इसपर खूब श्रम ही न किया हो तो, मनुष्य जो कुछ करता है मन अपने-आपको उसकी काफी अनुकूल सफाई दे लेता है ताकि उससे कोई तकलीफ न हो। यह तो बाहरी प्रतिक्रियाओं या परिस्थितियों या दूसरों से आये स्पंदनों के दबाव के कारण वह धीरे-धीरे कम अनुकूल दृष्टि से देखने को सहमत होता है कि वह क्या है और क्या करता है और अपने से पूछना शुरू करता है कि चीजें जैसी हैं क्या उससे अच्छी नहीं हो सकतीं।

स्वाभाविक रूप में, पहली प्रतिक्रिया होती है आत्म-रक्षा की। मनुष्य चौकस रहने लगता है और बहुत स्वाभाविक ढंग से, . . . छोटी-से-छोटी बातों के लिये, बिल्कुल नगण्य-सी बातों के लिये औचित्य ढूंढता है—जीवन में यह साधारण मनोभाव है।

और व्यक्ति अपने-आपको कैफियत देता है; केवल परिस्थितियों के दबाव से ही दूसरों को या किसी और व्यक्ति को सफाई देना शुरू करता है। पहले तो वह अपने-आपको तसल्ली देता है; पहली बात : “यह ऐसा हुआ क्योंकि इसे ऐसा ही होना था, यह इसके कारण ऐसा हुआ, और . . .”, बस, दोष हमेशा परिस्थितियों का या दूसरों का होता है। सचमुच प्रयास की जरूरत होती है—जैसा कि मैंने कहा है, जबतक किसी ने अनुशासन का पालन न किया हो, मनुष्य की यंत्रवत् ऐसा करने की आदत होती है—यह समझना शुरू करने के लिये कि शायद चीजें वैसी नहीं हैं, एक प्रयास की जरूरत पड़ती है ! और इसके लिये भी कि शायद जो करना चाहिये था ठीक वैसा ही नहीं किया गया, जैसी चाहिये थी वैसी प्रतिक्रिया नहीं हुई। और जब कोई देखना शुरू कर भी देता है तब उसे सार्वजनिक रूप से मानने के लिये तो और भी बड़े प्रयास की जरूरत पड़ती है।

जब कोई देखने लगता है कि उसने गलती की है तो मन की पहली चेष्टा होती है उसे पीछे फेंककर सामने परदा डालने की, बहुत सूक्ष्म छोटे-से सफाई का परदा, और जबतक वह दिखाने को विवश ही न हो जाये वह उसे छिपाता रहता है। यही है वह चीज जिसे मैं “मानसिक ईमानदारी का अभाव” कहती हूँ।

पहले तो मनुष्य अभ्यासवश अपने-आपको धोखा देता है, लेकिन तब भी जब वह अपने को धोखा न देना शुरू करता है, सुख से रहने के लिये सहजवृत्तिवश उसकी चेष्टा होती है, अपने को धोखा देने की चेष्टा। अतः जब एक बार यह समझ में आ जाये कि मैं अपने को धोखा दे रहा था तो उसे निश्छल-भाव से यह स्वीकार करने के लिये : “हां, मैं अपने को धोखा दे रहा था”, एक और भी बड़ा कदम उठाने की जरूरत होती है।

ये सब चीजें इतनी अभ्यासगत होती हैं, इस तरह से यंत्रवत् की जाती हैं कि मनुष्य को इसका भान तक नहीं होता; लेकिन जब तुम अपने को अनुशासित करने की इच्छा करने लगते हो तो सचमुच तुम बहुत बड़ा विस्मयकारी रोचक खोजें करते हो। जब तुम यह खोज लेते हो तो तुम जान जाते हो कि तुम निरंतर एक . . . स्थिति में निवास कर रहे हो, सबसे अच्छा शब्द होगा “आत्म-वंचना”, एक स्वेच्छाकृत वंचना की स्थिति; अर्थात् नैसर्गिक रूप से तुम अपने-आपको धोखा देते हो। यह बात नहीं है कि इसके लिये तुम्हें सोचने की जरूरत पड़ती है : बड़े सहज ढंग से तुम अपने किये पर परदा डाल देते हो ताकि वह यथार्थ रंगों में न दीखे . . . और यह सब उन चीजों के लिये होता है जो बिलकुल तुच्छ और महत्वहीन-सी होती हैं ! क्या तुम नहीं देखते कि यह बात तो समझ में आती है कि यदि अपनी गलती स्वीकार करने से किसी के जीवन तक के लिये गंभीर परिणाम उठ खड़े हों तो आत्म-रक्षा की सहजवृत्ति बचाव के लिये उससे यह करा ले, लेकिन यहां वह बात नहीं है, यह तो उन चीजों के लिये है जो बिलकुल महत्वहीन हैं, जिनका कुछ भी परिणाम नहीं निकलता, सिर्फ इतना ही होता है कि तुम्हें अपने-आपसे कहना पड़े : “मैं अपने को छल रहा था।”

इसका मतलब यह हुआ कि मानसिक रूप से सच्चा या निष्कपट बनने के

अग्निप्रिया

जुलाई १९९१

लिये प्रयास आवश्यक है। इसके लिये आवश्यकता है प्रयास की, अनुशासन की। स्वभावतः, मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जो इसलिये झूठ बोलते हैं कि वे पकड़े न जायें, क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त, सर्वाधिक मूर्खतापूर्ण झूठ सर्वाधिक निरर्थक होते हैं क्योंकि वे इतने सुस्पष्ट होते हैं कि उनसे कोई भी धोखा नहीं खा सकता। ऐसे उदाहरण हमें निरंतर मिलते हैं; तुम किसी को गलती करते हुए पकड़ो और उसे कहो : "यह ऐसे है"; वह मूर्खताभरी सफाई देगा जिसे कोई नहीं समझ सकता, कोई नहीं मान सकता, यह बेतुकी होती है लेकिन अपने को बचाने की आशा से यह की जाती है। यह अनायास होता है, है न ? लेकिन यह जानी हुई बात है कि ऐसा नहीं किया जाता। पर एक दूसरी तरह का धोखा तो और भी अधिक सहज है और उसकी इतनी आदत होती है कि पता भी नहीं चलता। अतः जब हम मानसिक ईमानदारी की बात कहते हैं तो हम उसके बारे में कहते हैं जो सतत और अध्यवसायी प्रयास से प्राप्त की जाती है।

तुम अपने-आपको पकड़ते हो, है न ? अचानक पकड़ते हो, अपने सिर में कहों या फिर यहां (श्रीमां हृदय की ओर संकेत करती हैं), जो और भी गंभीर है—अपने-आपको छोटी-सी बहुत मन-पसंद सफाई देते हुए पकड़ लेते हो। और तभी जब तुम अपने को पकड़ में ले लेते हो, कसकर जकड़े रहते हो और अपने-आपको आमने-सामने साफ-साफ देखते हुए कहते हो : "क्या तुम सोचते हो कि यह ऐसा है ?" और, यदि तुम बहुत साहसी हो, और गहरा दबाव डालो तभी तुम अपने से यह कहकर पिंड छुड़ाते हो : "हां, मैं अच्छी तरह जानता हूं कि यह वैसा नहीं है !"

कभी-कभी इसमें बरसों लग जाते हैं। स्पष्टतया और पूर्णतया यह देखने के लिये कि व्यक्ति अपने-आपको कितना धोखा दे रहा था, और वह भी उस समय जब कि उसे विश्वास था कि वह सच्चा है, लंबा समय लगना जरूरी है, उसे अपने भीतर बहुत कुछ बदलना जरूरी है, चीजों को देखने का दृष्टिकोण भिन्न होना जरूरी है, परिस्थितियों के सामने आने पर एक अलग अवस्था होनी जरूरी है, एक दूसरा संबंध जरूरी है।

(मौन)

यह संभव है कि पूर्ण सत्यनिष्ठा तबतक न आ सके जबतक हम इस मिथ्यात्वभरे जीवन के, जैसा कि हम इसे धरा पर जानते हैं, यहांतक कि उच्चतर मानसिक जीवन के भी, क्षेत्र से ऊपर न उठ जायें।

जब व्यक्ति उच्चतर क्षेत्र में, 'सत्य' की दुनिया में उठ आयेगा, तब वह सचमुच वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देख सकेगा, और उन्हें यथार्थ रूप में देखकर उनके वास्तविक सत्य में जी सकेगा। तब स्वभावतया सभी मिथ्यात्व ढह जायेंगे। अपने अनुकूल सफाइयां देने का कोई प्रयोजन नहीं जायेगा, वे लुप्त हो जायेंगी क्योंकि सफाई देने को कुछ रह ही नहीं जायेगा।

वस्तुएं स्वयं-सिद्ध होंगी, 'सत्य' सब रूपों में चमकेगा, भ्रांति की संभावना लुप्त हो जायेगी।

—श्रीमातृवाणी (खण्ड १)

नशे, बुरे विचारों से शरीर को हानि

तमाखू और शराब, स्मृति और संकल्प-शक्ति को क्यों नष्ट कर देते हैं ?

क्यों ? क्योंकि वे ऐसा करते हैं। इसका कोई नैतिक कारण नहीं है। यह एक तथ्य है। शराब में एक प्रकार का विष है, तमाखू में भी एक विष है; यह विष शरीर के कोषाणुओं में जाकर उन्हें हानि पहुंचाता है। कहा जा सकता है कि शराब कभी बाहर नहीं निकलती; वह मस्तिष्क के एक भाग में जमा होती जाती है, और, फिर, जब वहां जमाव अधिक हो जाता है तो ये कोषाणु अपना काम करना बंद कर देते हैं—इसके अतिरिक्त कुछ लोग पागल हो जाते हैं, उन्हें कम्पोन्माद हो जाता है, यह अत्यधिक शराब पीने से होता है जो अंदर आत्मसात् नहीं होती और इस प्रकार मस्तिष्क में जमा हो जाती है। और यह इतनी उग्र होती है कि...। फ्रांस में एक प्रांत है, वहां मदिरा बनता है—इसमें मद्यसार बहुत कम होता है : मेरा ख्याल है चार या पांच प्रतिशत जो

अग्निप्रिया

जुलाई १९९१

क हम इस
यहां तक किगा, तब यह
यथार्थ रूपवतया संप्र
जन नहीं रहजायेगा।
की संभावना

(खण्ड १)

ने

नष्ट कर दें

है। यह एक

है; यह विष

वक्त है कि

जमा होते

कोषाणु अपन

हो जाते हैं,

है जो अंदर

है। और यह

प्रतिशत जो

बहुत कम है, समझे और ये लोग चूंक स्वयं बनाते हैं इसलिये पीते भी ऐसे हैं, जैसे पानी पिया जाता है। इसे शुद्ध रूप में पीते हैं, और कुछ समय बाद बंमार पड़ जाते हैं। इन्हें मस्तिष्कसंबंधी कई व्याधियां हो जाती हैं। मैं ऐसे कई लोगों को जानती थी जिनके मस्तिष्क में गड़बड़ी हो गयी थी, वे ठीक प्रकार से काम नहीं कर पाते थे। और तमाखू—निकोटिन तो बहुत गंभीर प्रकार का विष है। यह विष कोषाणुओं का सफाया ही कर देता है। मैं पहले भी कह चुकी हूँ कि यह एक धीमा विष है क्योंकि तत्काल इसके बुरे परिणामों का पता नहीं लगता, पर व्यक्ति जब पहली बार पीता है, तो वह काफी अस्वस्थ-सा अनुभव करता है। और इसीसे तुम्हें समझ लेना चाहिये कि ऐसा न करना चाहिये। लेकिन लोग इतने मूर्ख होते हैं कि वे इसे अपनी दुर्बलता मानते हैं, और इसलिये वे तबतक पीते रहते हैं जबतक इस विष के अभ्यासी नहीं हो जाते। और तब शरीर भी प्रतिक्रिया करना बंद कर देता है, बिना प्रतिक्रिया के ही वह अपने को नष्ट होने देता है : प्रतिक्रिया से तुम्हारा पिण्ड छूट जाता है।

शारीरिक रूप से भी वही बात होती है जो नैतिक रूप से। जब तुम कोई ऐसा काम करते हो जो नहीं करना चाहिये और तुम्हारी अंतरात्मा अपनी शांत, धीमी आवाज में उसे करने से मना करती है, तो यदि तुम उसके मना करने पर भी करते रहो, तो कुछ समय बाद वह तुम्हें कुछ कहना बंद कर देगी, और तब अपने बुरे कामों के प्रति तुममें कोई प्रतिक्रिया न होगी, क्योंकि जब वह आयी थी तो तुमने उस आवाज को सुनने से इंकार कर दिया था। और तब, स्वभावतया ही, तुम्हारी अवस्था पहले से भी अधिक खराब हो जायेगी और तुम गढ़े में जा गिरेगें। हां तो, धूम्रपान के साथ भी यही बात है : पहली बार जब तुम धूम्रपान करते हो, तो तुम्हारा शरीर उसके प्रति उग्र प्रतिक्रिया करता है, उल्टी हो जाती है, वह कहता-है : “मुझे यह बिल्कुल नहीं चाहिये।” तुम अपनी मानसिक और प्राणिक मूर्खता के साथ उसे तमाखू पीने के लिये विवश करते हो; तो वह प्रतिक्रिया करना बंद कर देता है और फिर क्रमशः विष से भरता रहता है जबतक कि वह विघटित ही नहीं हो जाता। उसकी कार्य-क्षमता नष्ट होने लगती है; स्नायुएं सबसे अधिक प्रभावित होती हैं; वे संकल्प का वहन नहीं करतीं क्योंकि वे विषाक्त हो जाती हैं। उनमें संकल्प-वहन करने की

शक्ति नहीं रहती। और अंत में उनमें कंपकंपी शुरू हो जाती है, उनके क्रियाओं में अधीरता, व्याकुलता आ जाती है। ऐसे काफी सारे लोग हैं, जिनके हूँदने के लिये अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा। और उनकी अवस्था ऐसे इसलिये है कि उन्होंने सब बातों में अति कर दी है : वे शराब पीते थे, धूम्रपान करते थे। और जब वे किसी वस्तु को उठाते हैं, उनके हाथ कांपने लगते हैं (कांपने का संकेत)। ऐसा करने से यही प्राप्त होता है।

कई लोगों का शरीर तो खूब सुगठित होता है किंतु तो भी उनमें नाड़ी-दौर्बल्य होता है। तब . . . ?

साधारणतया ऐसा होता है . . . । शायद उनका प्राणिक गठन बड़ा दुर्बल होता है : उनकी स्नायुएं भी दुर्बल होती हैं, उनका सारा नाड़ी-संस्थान भी दुर्बल हो सकता है; शायद ऐसा हो कि उनमें जन्म से ही इस प्रकार की अनियमितता हो। किंतु यह एक मानसिक दुर्बलता भी हो सकती है, क्योंकि यह सत्य है कि स्वस्थ शरीर में ही शक्तिशाली स्नायुएं होती हैं, किंतु सबल नाड़ियों के लिये स्वस्थ विचारों का होना और भी अधिक महत्वपूर्ण है। यदि तुम्हारे विचार स्वस्थ नहीं हैं, यदि तुम्हारे भाव और विचार भी, कहा जा सकता है, शुद्ध नहीं हैं, तो तुम्हारी नाड़ियां भी वैसी ही हो जाती हैं, बल्कि उनसे भी अधिक खराब। उदाहरणार्थ, जो सभी प्रकार की अस्वस्थ सनकों का शिकार होते हैं जो बुरी पुस्तकें पढ़ते हैं, अस्वस्थ प्रकार की बातचीत में हिस्सा लेते हैं—ऐसे लोगों की संख्या काफी है, बहुत अधिक—हां, तो ऐसे लोगों का अपना स्नायुओं पर से नियंत्रण उठ जाता है, वे शीघ्र ही क्षुब्ध हो उठते हैं, जब कि उनका शरीर ठीक अवस्था में तथा स्वस्थ होता है। मैं तुम्हें बता सकती हूँ कि अस्वस्थ प्रकार का वार्तालाप और बुरी पुस्तकें पढ़ना—इससे बुरी और कहीं वस्तु नहीं है, और जब तुम सच्चे दिल से साधना करते हो, जब तुम सचमुच विकास करने का प्रयत्न करते हो, तो तुम्हें पता चलता है कि जब तुम किन्हीं निरर्थक शब्दों का उच्चारण करते हो, चाहे वे कितने ही कम क्यों न हों, तत्काल ही तुम्हारे अंदर एक भयानक बेचैनी-सी व्याप जाती है; तुम्हें ऐसा

अज्ञात होता है
कुछ मथा जा
महान् खाली
बहु खाली
हैं। इसके अ
होने लगे, तु
अधिकतर ल
और उनकी
वह सब क
उनका शरीर
तह, धीरे-धी

श्री गोपाल
श्रीअरविंद
के बाद प्र
शायद उस
था।

सोसाय
यात्रा के
कार्यकर्ता
बैंगल
बड़ों के
प्राकृतिक
व्यवस्था

अग्रिमिच्छा
जुलाई १९९१

प्रतीत होता है मानों सिर की सभी नाड़ियां खिंच गयी हों, और तुम्हारे हृदय में कुछ मथा जा रहा है जिससे तुम्हें पीड़ा होती है, और तुम अपने अंदर एक महान् खालीपन और ऐसी टीस-सी अनुभव करते हो मानों तुमने कोई बुरी वस्तु खा ली हो—यह सब केवल इसलिये कि तुमने कुछ निरर्थक शब्द कहे हैं। इसके अतिरिक्त, यह एक निश्चित संकेत है : ज्यों ही तुम्हें बेचैनी अनुभव होने लगे, तुम्हें बोलना बंद कर देना चाहिये : “बस, अब समाप्त।” किंतु अधिकतर लोग इतने अचेतन होते हैं कि उन्हें इसका पता ही नहीं चलता, और उनकी संकल्प-शक्ति इतनी उलझी हुई होती है कि वे अपने शरीर को वह सब करने के लिये विवश कर देते हैं जो उसे नहीं करना चाहिये। तो, उसका शरीर थोड़ा-बहुत आज्ञाकारी होता है, वह आदेश मानता और, इस तरह, धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और कोई प्रतिक्रिया भी नहीं दिखाता।

—श्रीमातृवाणी, खण्ड ६ से

सोसायटी समाचार

श्री गोपाल भट्टाचार्य ने केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में बड़ा रोचक भाषण दिया। श्रीअरविंद आज से ठीक सौ साल पहले इसी कॉलेज के विद्यार्थी थे। भाषण के बाद प्रश्न-उत्तर हुए। वे फ्रांस, जर्मनी और पोलैंड भी गये। पोलैंड में शायद उसकी स्वाधीनता के बाद आध्यात्मिकता के बारे में यह पहला भाषण था।

सोसायटी के श्री देवव्रत मार्च और अप्रैल में पश्चिम बंगाल के केंद्रों की यात्रा के लिये गये थे। उन्होंने वहां के केंद्रों के संगठन के बारे में वहां के कार्यकर्ताओं के साथ परामर्श किया।

बेंगलोर के श्रीअरविंद भवन में १५ अप्रैल से ३१ मई तक बच्चों और बड़ों के लिये कई कार्यक्रम किये गये। इसमें हस्त-कौशल, ललित-कला, प्राकृतिक चिकित्सा आदि विविध विषयों में प्रारंभिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था थी।

श्रीअरविंद भवन, राजपुर रोड शाखा में स्वास्थ्य-दिवस मनाया गया।
 सोसायटी के कई केंद्रों ने स्वाध्याय शिविर का आयोजन किया।
 गुजरात में श्रीअरविंद शिक्षा-केंद्र ने विद्यार्थियों के लिये उपयोगी भाषणों
 की व्यवस्था की और 'आदर्श शिक्षक' नामक पुस्तिका का वितरण किया।
 ऋषिकेश में २४ अप्रैल को श्री सुंदरलाल बहुगुणा ने श्रीअरविंदश्रम में
 होनेवाले प्राकृतिक कृषि-कार्य की जानकारी दी।

घोषणा

१२, १३, १४ जुलाई को बिहार प्रादेशिक सोसायटी की बैठक मुजफ्फरपुर
 में होगी। जिन लोगों को रस हो वे श्री आर० सी० प्रसाद, एडवोकेट,
 ठाकुरबाड़ी लेन, मोतीहारी, बिहार—८४५४०१ के पते पर पत्र-व्यवहार कर
 सकते हैं।

श्रीअरविंद सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन १२, १३, १४ अगस्त को
 पांडिचेरी में होनेवाला है जिसमें रेलवे की सुविधाएं मिलने की संभावना है।
 जिन लोगों को रस हो वे सोसायटी बीच ऑफिस से पत्र-व्यवहार करें।

लखनऊ के राजाजीपुरम् में सोसायटी का एक नया केंद्र श्रीमती मिथिलेश
 श्रीवास्तव के घर में खुला है।

— * * —

जब मैं श्रीकृष्ण में निवास करता हूं तब अहंकार और स्वार्थ
 विलीन हो जाते हैं। केवल भगवान् ही मेरे प्रेम को अतल और
 असीम बना सकते हैं।

—श्रीअरविंद

O Lord, awaken in me an ardent desire to know Thee. I
aspire that my life may be consecrated to Thy service.
The Mother

Space donated by

*Kooverji Devshi & Co.,
Pvt. Ltd.*

FIREX LEADS TO SAFETY
SAFETY LEADS TO PROSPERITY

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

मुन्मुनू (राजस्थान)-३३३ ००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवं शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

for India

M. 8731

2) 2887

चला रहे
के लिए
ला एवम्
(नुरूप) के

की जा



गुरुकुल
की : निदेशिका
द्वारा

91871

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अगस्त १९९१

अगस्त १९९१

वर्ष २२, अंक १, पूर्णांक २५१

विषय-सूची

सन्देश

श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : माथ चलने का प्रयास

अनुबेन

देनन्दिनी

सांध्य वार्ताएं

सोसायटी समाचार

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-६०५००



उद्बुध्यस्वाग्रे प्रति जागृहि

संदेश

... जो प्रकाश स्वाधीनता तक पहुंचने में हमारा मार्गदर्शन करता रहा, हालांकि अभीतक ऐक्य तक नहीं ले जा पाया है, वह प्रकाश अब भी देदीप्यमान है और तबतक प्रज्वलित रहेगा जबतक वह विजयी न हो जाये। मैं दृढ़ता से विश्वास करता हूं कि इस राष्ट्र और उसके लोगों की नियति है एक महान् और संयुक्त भविष्य। जो शक्ति इतने संघर्ष और दुःखों के बाद हमारे लिये स्वाधीनता लायी है, वह कितने भी संघर्ष और कष्ट क्यों न हों, हमारे लिये एकता भी लायेगी... फिर एक स्वाधीन और संयुक्त भारत होगा, और 'माता' अपने बेटों को अपने चारों ओर इकट्ठा करेंगी और एक महान् और संयुक्त प्रजा के जीवन में उन्हें एक ही राष्ट्रीय शक्ति के रूप में संयोजित कर देंगी।

५-२-१९४८

—श्रीअरविंद

‘संपादकीय’ :

साथ चलने का प्रयास

भारत के नागरिक, जिन्होंने स्वाधीन भारत के सपने देखे थे, जिन्होंने भारत को स्वाधीन होते और साथ ही देश को टुकड़ों में बंटते देखा था और अप्रत्याशित उग्रता और हिंसा का दुःख झेला था, उनके लिये अपने सपनों का भारत अंध मृगमरीचिका है। स्वाधीन भारत की यह मंद गति समझ में नहीं आती। लोग कहते हैं सदियों से उत्पीड़ित जनता गुलामी सहते-सहते अपना सच्चा चित्र खो बैठी है।

आजकल हम लोग पश्चिम का अंधा अनुकरण करते-करते न भारतीय रह गये हैं न यूरोप के अच्छे नागरिक, मानों हम एक अजूबा बन गये हैं। तो हमें अब क्या करना चाहिये ? हमारा पहला कर्तव्य यह है कि हम अपने-आपको सच्चे भारतीय नागरिक के रूप में बदल दें और अपने अनेक मुखौटों से फि छुड़ायें।

स्वाधीनता के बाद अगर हम सच्चे भारतीय बन पाते तो आज जिस तरह भारत विनाश की ओर, पतन की ओर भाग रहा है वह कम-से-कम न होता।

इन सब विषयों पर विचार, चर्चा करते-करते अचानक माताजी का एक वक्तव्य सामने आया। यह वक्तव्य बरसों महले दिया गया था लेकिन हमने कई बार देखा है कि उनकी वाणी इतनी सच्ची होती है कि वह वर्तमान में भी उतनी खरी उतरती है जितनी भूतकाल में थी।

उनकी वह वाणी चुनाव के समय हुई हत्याओं और अराजकता तथा चुनाव के बाद की अव्यवस्था का स्पष्ट कारण दिखाती है :

“संसार की स्थिति इस समय बहुत नाजुक, संकटापन्न है। भारत की स्थिति भी मानों कच्चे धागे से लटक रही है। ऐसा समय था जब भारत पूरी तरह सुरक्षित था, उसके लिये आसुरिक आक्रमण के शिकार होने का किसी तरह का खतरा न था। लेकिन अब चीजें बदल गयी हैं। भारत में लोगों ने और शक्तियों ने इस तरह व्यवहार किया है कि इससे भारत पर उन्होंने आसुरी

अगस्त १९९१

प्रभावों को निमंत्रण दिया है; उन्होंने विश्वासघात किया है और जो सुरक्षा थी उसकी जड़ें खोद डाली हैं . . . ।”

तो यह है हमारी वर्तमान स्थिति। हमें क्या करना चाहिये? कहते हैं सच्ची अभीप्सा, सच्ची प्रार्थना विफल नहीं होती। देश के उत्थान के लिये हम कैसे प्रार्थना करें? केवल हाथ जोड़कर प्रार्थना करने से काम न चलेगा। अब हमें सक्रिय प्रार्थना करनी चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि किसी आंदोलन में कूद पड़ें, इसका अर्थ है हम जो भी कार्य करें उसे भारत की गरिमा को याद करते हुए करें ताकि हम उस गरिमा को किसी तरह क्षति न पहुंचावें, अपने देश के प्रति विश्वासघात न करें।

अगर हम इतना भी कर सकें तो श्रीअरविंद का यह आश्वासन हमारी हिम्मत बढ़ायेगा :

“हम जिस युद्ध में रत हैं वह पुराने युद्धों के जैसा नहीं है जिसमें राजा या नेता के गिरते ही सेना भाग खड़ी होती थी। इस समय हम जिस राजा के साथ युद्धक्षेत्र में जा रहे हैं वह है हमारी अपनी पवित्र और शाश्वत मातृभूमि; हमारी बढ़ती हुई कूच का नेता है सर्वशक्तिमान् स्वयं भगवान् . . . ।”

तो सर्वशक्तिमान् भगवान् को अपना नेता बनाकर हम देश को पतन से उबारें, कार्य वे ही करेंगे हम केवल उनके साथ चलने का प्रयास करें।

—अनुबेन

दैनन्दिनी

अगस्त

१. समस्त सृष्टि को केवल भगवान् की चाह करनी चाहिये, भगवान् को छोड़ और कुछ भी अभिव्यक्त करना न चाहिये।
२. सब आध्यात्मिक मार्ग उच्चतर चेतना और भगवान् के साथ ऐक्य की ओर ले जाते हैं और उन सबमें कर्म-मार्ग महान् है : वह भक्ति-मार्ग या ज्ञान-मार्ग के जितना ही सुनिश्चित है।

३. अगर केंद्रीय और आधारभूत श्रद्धा विद्यमान हो तो शंकाओं का कोई महत्त्व नहीं रहता।
४. हमारे योग में 'केंद्रीय सत्ता' शब्द का प्रयोग अपने अंदर स्थित भागवत अंश के लिये किया जाता है जो अन्य अंशों को सहारा देता है और मृत्यु और जन्म से परे बना रहता है।
५. हमारे अंदर विद्यमान दिव्य शक्ति सर्वांगीण योग के साधन के रूप में समस्त जीवन का उपयोग करती है।
६. इस योग के लिये हर अनुभव और जगत्-परिस्थिति के बाह्य संपर्क का—वह चाहे जितना नगण्य या सर्वनाशकारी क्यों न हो—उपयोग किया जाता है।
७. प्रत्येक आंतरिक अनुभूति, सबसे घृणास्पद दुःख या सर्वाधिक अपमानजनक पतन भी पूर्णता की राह पर एक कदम बन जाता है।
८. सारा जीवन उस प्रकृति का योग है जो अपने अंदर भगवान् को अभिव्यक्त करना चाहती है।
९. हमारी व्यक्तिगत सत्ता की दिखावटी स्वाधीनता और स्वाग्रह जिससे हमें इतना लगाव है, वह हजारों सुझावों, आवेगों के प्रति हमारी अत्यंत दयनीय गुलामी को छिपाये रखता है, ऐसी शक्तियां जिन्हें हमने अपने छोटे व्यक्तित्व के लिये असंगत बना रखा है।
१०. हमारा अहम्, जो स्वाधीनता की शेखी बघारता है, हर क्षण असंख्य सत्ताओं, शक्तियों, बलों और वैश्व प्रकृति के प्रभावों का गुलाम, खिलौना और कठपुतला होता है।
११. अभीप्सा क्या है ?
वह सत्ता की उच्चतर वस्तुओं के प्रति पुकार है—भगवान् के प्रति—उन सब चीजों के प्रति जो उच्चतर क्षेत्र की या भागवत चेतना की हों।
१२. मनुष्य में आध्यात्मिक अभीप्सा जन्मजात है; पशु के विपरीत, वह अपने अपूर्णताओं और सीमाओं से अभिज्ञ है और अनुभव करता है कि वह अभी जो कुछ है उससे परे भी कुछ प्राप्त करना बाकी है...
१३. हमारे अंदर विद्यमान वह दिव्य शक्ति, छिपी हुई दिव्यता है जिसमें

अभीप्सा
रखती है
उतार फेंक
की भाषा
और शरीर
चीजों के
उठाये, उ
चैत्य पु
के, भग
साथ ऐ
लिये,
प्राण उ
१६. जब उ
लेता उ
१७. तुम्हें प
में वह
काट
जगह
१८. इसी
होनी
हुई,
१९. अपने
अर्वा
वह
चीजें
२०. सब
और
लिये

अग्निशिखा जगत १९९१

ओं का को

थत भाग्य

है और मृ

के रूप में

बाह्य संबंध

हो-उपयोग

सर्वाधिक

जाता है।

भगवान् को

जिससे हमें

नारी अत्यंत

हमने अपने

गण असंख्य

का गुलाम,

प्रति-अ

की हो।

वह अपने

है कि वह

है जिसे

अभीप्सा की जोत जगाई है, जो आदर्श की प्रतिमा का चित्र हमारे सामने रखती है और हमारे असंतोष को जीवित रखती है। वह हमें छद्मवेश उतार फेंकने के लिये और उद्घाटित करने के लिये उकसाती है या वेद की भाषा में कहें तो इस मर्त्य प्राणी के अभिव्यक्त आत्मा, मन, प्राण और शरीर में देवत्व को गढ़ती और प्रकट करती है।

१४. चीजों की आध्यात्मिक व्यवस्था में, हम जितनी ऊंची दृष्टि और अभीप्सा उठायें, उतना ही अधिक महान् सत्य हमारे अंदर उतरने का प्रयास करता है।
१५. चैत्य पुरुष की अभीप्सा समस्त निम्नतर प्रकृति के, मन, प्राण, और शरीर के, भगवान् के प्रति खुलने के लिये, भगवान् के लिये प्रेम और उनके साथ ऐक्य के लिये होती है, हृदय में उनकी उपस्थिति और शक्ति के लिये, और इस यंत्ररूपी सत्ता और प्रकृति में, उच्चतर चेतना के मन, प्राण और शरीर के रूपांतर के लिये अवतरण की अभीप्सा होती है।
१६. जब अभीप्सा जाग्रत् होती है तो एक-एक दिन हमें लक्ष्य के नजदीक लेता जाता है।

१७. तुम्हें पानी की बूंद के बारे में पता है न जो चट्टान पर गिरती है और अंत में वह उसमें दार पड़ा कर देती है, वह चट्टान को ऊपर से नीचे तक काट देती है। तुम्हारी अभीप्सा भी पानी की एक बूंद है जो गिरने की जगह ऊपर उठती है।

१८. इसी तरह तुम्हें बहुत दृढ़, जिद्दी होना चाहिये और तुम्हारी अभीप्सा ऐसी होनी चाहिये जो सीधी ऊपर उठती हो, ऐसी नहीं जो इधर-उधर भटकती हुई, सब तरह की चीजों को ढूँढ़ती जाये।

१९. अपने-आपको तैयार करने की पहली चेष्टा में, व्यक्तिगत प्रयास की अवधि में, हमें सारी सत्ता को भगवान् पर केंद्रित करना चाहिये जिन्हें वह ढूँढ़ती है और साथ-ही-साथ निरंतर अस्वीकृति होनी चाहिये, उन चीजों का बहिष्कार होना चाहिये जो भगवान् का सत्य नहीं हैं।

२०. सबसे पहले अपने अंदर जो मिथ्या या अंधकारपूर्ण हो उसे ढूँढ़ निकालो और उसे लगातार अस्वीकार करो, तभी तुम अपना रूपांतर करने के लिये दिव्य शक्ति का आह्वान कर सकते हो।

२१. कामना का अस्वीकार वस्तुतः लालसा के मूल की अस्वीकृति है। उसे चेतना से ऐसे बाहर रखना है मानों वह कोई पराया तत्त्व हो जो सच्चा सत्ता और आंतरिक प्रकृति से संबंधित न हो।
२२. शंका, अवसाद और अन्य ऐसी प्रवृत्तियों को दूर फेंक दो जो तुम्हारे सच्ची और उच्चतर प्रकृति का अंग नहीं हैं।
२३. अपनी आत्मा की ज्योति के प्रति तब भी वफादार बने रहो जब वह बादलों से घिरी हो।
२४. वफादार बने रहो और तुम्हें विजय प्राप्त होगी।
२५. भगवान् और सर्वज्ञ तथा सर्व-शक्तिमान् सीमा और अंधकार में अवतरण करते हैं, निम्नतर प्रकृति को उत्तरोत्तर आलोकित करते और शक्ति प्रदान करते हैं। वे निकृष्ट मानव प्रकाश और मर्त्य क्रिया-कलापों की सीमा के स्थान पर अपनी क्रिया लाते हैं।
२६. एक विराट् शिल्पी का हाथ हमारे अंदर स्थित सबको अपने कब्जे में कर लेता है और जिस 'तत्' को हम व्याकुलतापूर्वक प्रस्तुत करने का कोशिश करते हैं उसे एक स्पष्ट छवि में रूपांतरित कर देता है।
२७. यह केवल निष्क्रिय समर्पण नहीं है, बल्कि सक्रिय आत्म-दान है। सब चीजों में दिव्य संकल्प को देखना और स्वीकार करना ही नहीं, बल्कि दिव्य स्वामी का यंत्र बनने के लिये अपने संकल्प का त्याग करना चाहिये।
२८. तुम्हें यह तीव्र अंतर्ज्ञान हो सकता है कि मात्र भगवान् ही सत्य हैं और यह ज्योतिर्मय विश्वास कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता।
२९. मैं भगवान् का सेवक हूँ; मेरा जीवन पूरी तरह भगवान् को अर्पित है। मेरे सारे प्रयास दिव्य जीवन को चरितार्थ करने के लिये हैं।
३०. हर कदम पर तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि तुम भगवान् के हो।
३१. तुम्हें यह सतत अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ भी करो या सोचो उस सबमें दिव्य चेतना तुम्हारे द्वारा कार्य करती है।

सांध्य वार्ताएं

(१९२५ से १९४३ तक)

१-१०-१९२५

बातचीत कालेपानी और वहां के बंदियों की दंड-व्यवस्था और जेल के अनुशासन के बारे में चली।

श्रीअरविंद—क्या 'क' का निष्क्रिय प्रतिरोध अंडमान में कुछ परिणाम दिया था ?

शिष्य—हम इसका पहला प्रयोग करनेवाले थे और उसका कुछ असर भी हुआ था। शायद इसलिये क्योंकि यह वहां पर नया था। फिर एक के बाद एक कई दलों ने इसका परीक्षण किया पर परिणाम कुछ न आया।

श्रीअरविंद—क्या वे संगठित थे ?

शिष्य—जी हां !

श्रीअरविंद—और उनकी मांगें क्या थीं ?

शिष्य—राजनैतिक बंदियों की स्थिति, ज्यादा अच्छा भोजन, कोठरियों में हवा, कपड़े।

श्रीअरविंद—यही तो कठिनाई है। इस प्रकार का निष्क्रिय प्रतिरोध कुछ समय के बाद दूसरे पक्ष पर प्रभाव नहीं डाल पाता। अधिक-से-अधिक वह प्रतिपक्षी को नैतिक दृष्टि से परेशान कर सकता है—और वह भी तभी जब उसका मिजाज एक खास तरह का हो।

शिष्य—'क' को जेल के हर नियम की अवज्ञा करते देखने से दुःख भी होता था और हंसी भी आती थी ! पहले उसने भूख-हड़ताल की, फिर नंगा रहना शुरू किया। उसने भार तोलने की मशीन तक जाने से इंकार किया। जेल के अधिकारी उसे एक बड़े बोरे में बंद करके तोला करते थे और बोरा उछलता था ! (हंसी)

बड़ी कठिनाई के साथ उसे खाने के लिये राजी किया गया। लेकिन उसका स्वास्थ्य तबाह हो गया है।

२४-१०-१९२५

श्रीअरविंद—क्या तुम राइटर्स समाचार एजेंसी को बिल्कुल सच्ची मानें हो ? तब तो लेनिन का देहांत सात-आठ बार हुआ होगा और अनवरपाशा का छह बार से अधिक । (हंसी)

शायद स्कारबरो में जर्मनों ने बमबारी की । समाचार यह आया कि कुछ इमारतें नष्ट हो गयीं और कुछ लोग घायल हुए । जब सच्चाई का पता चला तो मालूम हुआ कि आठ सौ आदमी मारे गये और तीन रास्ते बरबाद हो गये ।

शिष्य—हम लोग फ्रांस में सेना में रहते हुए सभी मोरचों के बेतार के तारों द्वारा समाचार पाया करते थे, उसमें भी शुद्ध रूप से गपें होती थीं ।

दूसरा शिष्य—लेकिन एजेंसी वाले तो सरकारी आंकड़े देते हैं ।

श्रीअरविंद—क्या तुम सोचते हो कि सरकारी आंकड़े हमेशा ठीक-ठेक होते हैं ? वह तो झूठ गढ़ने की बड़ी मशीन है !

शिष्य—उन्हें अपने समाचारों में कतर-व्योत करनी चाहिये !

दूसरा शिष्य—यही तो खेल का हिस्सा है ।

श्रीअरविंद—हां, उन्हें प्रामाणिक असत्य देने चाहियें । सरकारी तौर पर रंग के बारे में जो भी समाचार दिये जाते थे—जैसा कि सभी जानते हैं—सिर से पांव तक झूठे होते थे ।

(इसके बाद विषय बदल गया ।)

श्रीअरविंद—हम भारतवासियों में चरित्र की कमी है, चरित्र-निर्माण में हमें काफी समय लगेगा ।

शिष्य—तब फिर भारत के लिये क्या आशा है ? कुछ दिन पहले आपने कहा था कि भारत प्राणिक अवसाद से पीड़ित है और नये विचारों से डरता है ।

श्रीअरविंद—मैंने यह नहीं कहा कि हमारे अंदर मन या बुद्धि का अपभ्रंश है । मैंने कहा था कि हमारे अंदर चरित्र नहीं है और चरित्र का बुद्धि के साथ कोई संबंध नहीं ।

अप्रिप्रिप्रि
अगस्त १९९१

शिष्य—क्या इन देशों में, जो स्वतंत्र हैं, सब गुण हैं ?

श्रीअरविंद—मैंने यह नहीं कहा, लेकिन वे काम करते हैं, श्रम करते हैं, हम नहीं कर पाते। हम आज एक काम शुरू करते हैं और कल उसे छोड़ देते हैं।

शिष्य—तब फिर क्या आशा है ?

दूसरा शिष्य—मेरा ख्याल है कि स्वाधीनता तब आयेगी, जब उसे रोका न जा सके, अभी तो हम जो चीज अधिक करते हैं वह है बकबक। प्रमथनाथ चौधरी ने अपने एक लेख में कहा है कि आजकल अपने भाषणों में यह कहने का फैशन हो गया है “यह बोलने का समय नहीं है, करने का समय है” और इसपर ही भाषण होते हैं ! (हंसी)

शिष्य—आज सभी नेता बोलने में लगे हैं और देव जातियों ने भाषणों के बाद जन्म लिया था और सत्ययुग भी भाषणों से ही शुरू हुआ था !

श्रीअरविंद—कभी-कभी लोग शेखी बघारकर ही स्वाधीनता प्राप्त कर लेते हैं। अभी तक हमने शेखी-बघारना तो अच्छी तरह सीख लिया है और हो सकता है कि भागवत कृपा भारत को स्वाधीनता प्रदान करे।

शिष्य—हम कम-से-कम शेखी-बघारना तो जानते ही हैं।

श्रीअरविंद—लेकिन वह भी तो हमने अंग्रेजों से ही सीखा है ! (हास्य)

५-११-१९२५

(आज श्रीअरविंद की बोलने की मरजी नहीं मालूम हो रही थी। एक शिष्य ने हठयोग द्वारा भौतिक रोगमुक्ति के बारे में पूछा।)

श्रीअरविंद—हठयोग में जबतक तुम अभ्यास जारी रखो, सब कुछ ठीक रहता है, लेकिन जैसे ही तुम अभ्यास छोड़ दो फिर तुम्हारे ऊपर आक्रमण हो सकते हैं। राजयोग में भी अगर तुम प्राणायाम शुरू कर दो तो फिर तुम्हें उसे जारी रखना पड़ता है। मेरा अपना अनुभव है कि जब मैं बड़ौदा में प्राणायाम करता था तो मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, लेकिन जब मैं बंगाल आया और प्राणायाम छूट गया तो मेरे ऊपर नाना प्रकार के रोगों के आक्रमण हुए जिनके कारण मैं जाते-जाते बच गया।

८-८-१९२६

शिष्य—क्या चंद्रमा में जीवन है ? आपने कहा था कि जीवन-लहरी एक ग्रह से दूसरे ग्रह में जाती है। क्या यह वक्तव्य अनुभूति पर आधारित है ?

श्रीअरविंद—नहीं, मुझे अन्य ग्रहों के जीवन का अनुभव नहीं है। मैंने नहीं कहा था कि जीवन-धारा चलती है। मैंने कहा था कि हो सकता है कि केवल जीवन-धारा की प्रतिक्रियाएं चलती हैं। तुम्हारा यह अर्थ तो नहीं है कि पृथ्वी ही एक ऐसा ग्रह है जिस पर जीवन है, बाकी सब निर्जीव हैं।

शिष्य—चंद्रमा तथा अन्य ग्रहों में जीवन के लिये अनुकूल परिस्थितियां नहीं हैं।

श्रीअरविंद—क्यों नहीं ? हो सकता है कि वही परिस्थितियां न हों, परंतु अन्य परिस्थितियां और अन्य रूप तो हो सकते हैं !

शिष्य—यूरेनस-सिरस एक दोहरा ग्रह है। उनमें से एक के पदार्थ का घनता पानी से पचास गुनी होती है। हम इस तरह के पदार्थ की कल्पना नहीं कर सकते। परंतु उसका इस रूप में अस्तित्व है !

श्रीअरविंद—यह मानव मन की मूढ़ताओं में से एक है कि ऐसी किसी चीज का अस्तित्व नहीं हो सकता जो उसकी कल्पित परिस्थितियों से मेल न खाती हो। उसके अनुसार आग पर चलना असंभव है, परंतु यह न केवल संभव है बल्कि आग पर चला भी जाता है। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह किस तरह किया जाता है।

शिष्य—प्रश्न यह है कि क्या वहां भी देश और काल का अस्तित्व है।

श्रीअरविंद—उनका अस्तित्व है कि नहीं, इससे तुम्हें परेशान न होना चाहिये। मैंने इस विषय पर काफी विस्तार से लिखा है। दर्शन ऐसी चीजों के बारे में समझदारी के साथ बोलने की कला है जिनके बारे में तुम कुछ नहीं जानते।

शिष्य—हेगेल कहता है कि 'सत्' कुछ नहीं है, 'संभूति' ही सब कुछ है।

श्रीअरविंद—वह कैसे जानता है ? सारा मानसिक दर्शन बहुत ही कम मूल्यवान् होता है।

अगस्त १९११

शिष्य—कोई भी व्यक्ति, कुछ भी सिद्ध कर सकता है।

श्रीअरविंद—इसीलिये इतने सारे दर्शन हैं।

शिष्य—हेगेल कहता है कि 'सत्' केवल अस्तित्व है।

श्रीअरविंद—'केवल' अस्तित्व ! तुम क्या कहना चाहते हो ? अगर तुम्हें सत् का अनुभव होता तो तुम जानते कि वह कुछ नहीं नहीं है। केवल व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार शुद्ध सत्, शुद्ध अस्तित्व है। आजकल के अधिकतर दर्शनों में केवल विचारों और शब्दों का आडंबर होता है। यह मानसिक उछल-कूद है जिसके पीछे कोई अनुभूति नहीं होती। भारत में हमेशा दर्शन और ज्ञान में संबंध था। सच्चा ज्ञान अनुभव के बिना नहीं रह सकता। जैसे सच्चा विज्ञान परीक्षण के बिना नहीं रह सकता। भारतीय दर्शन बौद्धिक और मानसिक है परंतु उसका आधार कोई अनुभूति होती है : उदाहरण के लिये उपनिषद्।

दिसम्बर १९३८

१०-१२-१९३८

शिष्य—आपने अपने साधना-स्थल के लिये पांडिचेरी को क्यों चुना ?

श्रीअरविंद—एक आदेश द्वारा—ऊपर से मिली आज्ञा के द्वारा—मुझे यहां आने के लिये कहा गया था। जब मैं बंबई से कलकत्ता जा रहा था तो मैंने लेले से पूछा कि मुझे अपनी साधना के लिये क्या करना होगा। वे चुप रहे और कुछ समय बाद (शायद वे हृदय से आनेवाली आवाज की प्रतीक्षा कर रहे थे।), उन्होंने कहा, "निश्चित समय ध्यान करो और हृदय में आवाज सुनो।"

मैंने हृदय की नहीं, कोई और ही आवाज सुनी और मैंने निश्चित समय का ध्यान बंद कर दिया क्योंकि ध्यान सारे समय होता रहता था। जब लेले कलकत्ता आये, उन्होंने मेरी यह बात सुनी तो कहा कि तुम्हें किसी भूत ने पकड़ लिया है। मैंने यह उत्तर दिया कि अगर यह भूत है तो भी मैं इसी का अनुसरण करूंगा।

शिष्य—लोग कहते हैं कि आपकी पुस्तक 'यौगिक साधन' केशवचंद्र सेन की लिखी हुई है।

श्रीअरविंद—केशव सेन ? जब मैं यह पुस्तक लिख रहा था तो हर क शुरू और अंत में मुझे राममोहन राय की छवि दिखायी देती थी। शायद लेने ने राममोहन राय की जगह केशव सेन कर दिया है।

क्या तुम 'उत्तर योगी' नाम का मूल जानते हो ?

शिष्य—जी नहीं।

श्रीअरविंद—दक्षिण में एक प्रसिद्ध योगी थे जिन्होंने मरते समय अपने शिष्यों से कहा था, उत्तर से एक पूर्ण योगी दक्षिण में आयेगा, उसे उसके तीन कथनों के द्वारा जाना जा सकेगा और ये तीन कथन वे हैं जो मैंने अपनी पत्नी को पत्र में लिखे थे। उस योगी के एक जमींदार शिष्य ने मेरा पता लगा लिया। और 'यौगिक साधन' की छपाई का खर्च उसने दिया था।

शिष्य—रवींद्रनाथ ठाकुर ने कभी रामकृष्ण और विवेकानंद के बारे में कुछ नहीं कहा, बस रामकृष्ण शताब्दी के अवसर पर एक साधारण-सी कविता लिखी थी। वे लड़कियों से कहा करते थे कि रामकृष्ण हमेशा नारी-निंदा किया करते थे और कहते थे कि 'कामिनी कांचन' ही सभी दासता की जड़ हैं, फिर लड़कियां उनकी पूजा करती थीं।

श्रीअरविंद—मेरा ख्याल है रामकृष्ण 'काम कांचन' कहा करते थे। उनके मृत्यु के बाद जब विभाजन हुआ तो एक दल ने कहा कि उन्होंने कभी 'कामिनी' नहीं कहा 'काम' ही कहा। मेरा ख्याल है कि ब्रह्म समाज में आध्यात्मिक उपलब्धि किसीको भी प्राप्त नहीं थी। द्विजेन्द्रनाथ ने कुछ पाया था और शिवनाथ शास्त्री ने भी और शायद केशवचंद्र सेन को भी मिली हो। विजय गोस्वामी ब्रह्म नहीं रहे।

शिष्य—लेले को सिद्धि मिली थी ?

श्रीअरविंद—हां, निश्चय ही उन्हें कुछ सिद्धि मिली थी, किंतु जैसा मैंने कहा, उनमें महत्वाकांक्षा और अहंकार भी थे।

शिष्य—कहा जाता है कि ईसा केवल छूकर रोग दूर कर दिया करते थे। क्या यह संभव है ?

'यौगिक साधन' में लेखक का नाम 'उत्तर योगी' बताया गया है।

अगस्त १९११

श्रीअरविंद—क्यों नहीं, इस प्रकार के रोग-निवारण के बहुत सारे उदाहरण हैं, लेकिन श्रद्धा आवश्यक है। स्वयं ईसा ने कहा था, “तेरी श्रद्धा ने ही तुझे ठीक कर दिया है।”

शिष्य—क्या ऐसे रोग-निवारण के लिये श्रद्धा हमेशा जरूरी होती है ?

श्रीअरविंद—श्रद्धा के बिना कोई रोग-निवारण नहीं हो सकता। विशेषकर उस अवस्था में जब रोगी को पता ही न हो कि क्या किया जा रहा है। श्रद्धा मन से ऊपर होती है। इस विषय में कोई भी बहस उसके प्रभाव को बिगाड़ देती है। . . . जब रामकृष्ण से श्रद्धा के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा, “समस्त श्रद्धा अंध श्रद्धा होती है, अंध न हो तो वह श्रद्धा ही नहीं।” उनकी बात बिल्कुल ठीक थी।

शिष्य—क्या परिवेश के प्रभाव के कारण संदेह उत्पन्न होते हैं या फिर इसलिये कि पहले जैसे परिणाम नहीं आते ?

श्रीअरविंद—दोनों ही। भौतिक मन में संदेह आदि चीजें हुआ करती हैं और वे किसी-न-किसी समय ऊपर आती हैं। औरों के साथ संपर्क के कारण भी श्रद्धा धुंधली हो सकती है। मैं आश्रम का एक चौकानेवाला उदाहरण जानता हूँ। एक सच्चा आदमी यहां आया। यहां पर किसी साधक ने उससे कहा, हमेशा सच बोलना एक अंधविश्वास है। तुम्हें जो मरजी हो वही बोलने के लिये स्वतंत्र रहना चाहिये। एक और साधक का उदाहरण लो जिसने कहा था कि काम-क्रीड़ा साधना में बाधक नहीं होती और उसकी स्वीकृति दी जा सकती है और हर एक पुरुष के साथ उसकी अपनी शक्ति होनी चाहिये। जब वातावरण में इस प्रकार के विचार हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनका दूसरों पर बुरा असर पड़ता है।

शिष्य—ऐसे लोगों को अलग बंद कर देना चाहिये ?

श्रीअरविंद—मैंने ऐसा सोचा था मगर यह संभव नहीं था। माताजी ने एक बार कुछ प्रतिबंध और नियम लगाने की कोशिश की थी लेकिन वे चले नहीं। परिवर्तन अंदर से आना चाहिये। हां, ऐसी योग-पद्धतियां हैं जो कड़े अनुशासन लगाती हैं। इस बात में बौद्ध धर्म अनोखा है। फ्रांस में ऐसा बौद्ध संप्रदाय है जो एकदम मौन रखने का आदेश देता है।

शिष्य—क्या ऐसे बाहरी कड़े नियम अच्छे होते हैं ?

श्रीअरविंद—वे अच्छे हो सकते हैं, अगर व्यक्ति पूरी सचाई के साथ उनका पालन करे। उदाहरण के लिये फ्रांस के उस संप्रदाय में जो लोग प्रवेश करते हैं वे जानते हैं कि उन्हें क्या चाहिये और वे उन नियमों का सख्ती से पालन करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वे उन्हें अपने उद्देश्य प्राप्त करने में सहायता देंगे।

संसार को बदलना होगा—यहां के लोग संसार के नमूने हैं। हर एक व्यक्ति मानवजाति के किसी-न-किसी प्ररूप का प्रतिनिधि है और अगर किसी एक प्ररूप पर विजय प्राप्त कर ली जाये तो यह अपने-आप में हमारे काम के लिये बड़ी विजय होगी। और इस परिवर्तन के लिये सतत इच्छाशक्ति की जरूरत होती है। और अगर वह हो तो साधक के लिये बहुत-सी चीजें की जा सकती हैं जैसे कि पहले की जाती थीं।

शिष्य—लेकिन बाद में चीजें मंद पड़ गयीं।

श्रीअरविंद—हां, जब साधना भौतिक और अवचेतन में उतर आयी तो चीजें बहुत कठिन हो गयीं। स्वयं मुझे दो वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा; क्योंकि अवचेतना पत्थर की तरह बिल्कुल जड़ है। यद्यपि ऊपर तो मेरा मन पूरी तरह जाग्रत था परंतु नीचे वह अपने प्रभाव न डाल सकता था। यह एक अत्यधिक कठिन भगीरथ कार्य है क्योंकि जब तुम उसमें प्रवेश करते हो तो ऐसा लगता है मानों तुम एक अजाने महादेश में घुस रहे हो। पहले के योगी प्राण तक उतर पाते थे। अगर मुझे पहले ही यह दिखा दिया गया होता तो शायद मुझे इसके बारे में कम उत्साह होता। यह अंधविश्वास का एक उदाहरण है। प्राचीन योगी भौतिक को छोड़ देते थे और उनके लिये यह बिल्कुल ठीक था लेकिन अगर मैं इसे यहीं छोड़ देता तो काम अधूरा ही रह जाता। अगर एक बार इसे जीत लिया जाये तो मेरे बाद आनेवालों के लिये काम ज्यादा आसान हो जायेगा। एक के अंदर सबकी सिद्धि का यही मतलब है।

शिष्य—तो हम सब उस विजय के लिये प्रतीक्षा कर सकते हैं !

श्रीअरविंद—ओह, तुम्हें आसान मार्ग चाहिये !

शिष्य—केवल आसान ही नहीं, बल्कि हम केवल एक बालक की तरह

होना चाहते हैं

श्रीअरविंद

चाहिये।

शिष्य—

होना चाहिये

श्रीअरविंद

को हमेशा

अन्यथा उ

लोग सामा

अंदर दो

गतिविधियें

एकमात्र

शिष्य—

श्रीअरविंद

स्थिति में

तो हम ए

और, लेवि

शिष्य—

के लिये ?

श्रीअरविंद

लिये। अ

अपने का

बहुत ही

शिष्य—

ला सकते

श्रीअरविंद

रूप हैं या

जाता है।

अगस्त १९९१

होना चाहते हैं जिसे उठाकर ले जाया जा सके। क्या यह संभव है ?

श्रीअरविंद—हां, संभव है लेकिन उसके लिये तुम्हें सच्चा बालक होना चाहिये।

शिष्य—रामकृष्ण ने कहा है कि योगी को हमेशा तनी तलवार के जैसा नहीं होना चाहिये।

श्रीअरविंद—उन्होंने यह कब कहा था और इसका मतलब क्या था ? योगी को हमेशा जाग्रत् रहना चाहिये, विशेषकर साधना के प्रारंभिक काल में। अन्यथा उसने जो कुछ प्राप्त किया है वह धड़ाम से नीचे आ जायेगा। यहां पर लोग सामान्यतः साधना को अपने जीवन का एकमात्र भाग नहीं बनाते। उनके अंदर दो भाग होते हैं : एक आंतरिक और एक बाह्य जो सामान्य बाहरी गतिविधियों और सामाजिक संपर्कों को लिये रहता है। साधना को सत्ता का एकमात्र भाग होना चाहिये।

शिष्य—आपने आश्रम के आलोकमय काल की बात की थी।

श्रीअरविंद—हां, यह तब की बात है जब साधना प्राण में हो रही थी। उस स्थिति में हर चीज आनंदमय और शांतिपूर्ण होती है। अगर मैं वहीं रुक जाता तो हम एक बड़े धर्म या मत का आरंभ कर सकते थे या इसके जैसा ही कुछ और, लेकिन मुख्य काम अधूरा ही रह जाता।

शिष्य—आप निवृत्त क्यों हो गये ? क्या अपने काम पर ज्यादा एकाग्र होने के लिये ?

श्रीअरविंद—नहीं, भौतिक वातावरण से अपने-आपको खींच लेने के लिये। अगर मुझे यह सब काम करना होता जो माताजी कर रही हैं, तो मुझे अपने काम के लिये समय ही न मिलता। और इसके अतिरिक्त यह काम बहुत ही श्रमशील होता जा रहा है।

शिष्य—कहा जाता है कि बनारस के विशुद्धानंद सब प्रकार के इत्र वगैरह ला सकते हैं।

श्रीअरविंद—यह कहना मुश्किल है कि ये इत्र सूक्ष्म सुगंधों के भौतिक रूप हैं या सूक्ष्म सुगंधें हैं जिन्हें भौतिक जगत् या इंद्रियों पर प्रक्षिप्त किया जाता है।

पॉल ब्रंटन को हमेशा ऐसा लगता था कि उसके साथ कोई दबाव रहता है। उसने जब मेरा फोटो देखा तो उसमें ऐसी कोई चीज न दिखायी दी लेकिन जब उसने मुझे दर्शन के समय देखा तो तुरंत पहचान लिया कि मैं ही वह दबाव था।

शिष्य—आदमी ध्यान के समय भौतिक रूप से उठता-गिरता क्यों है ?

श्रीअरविंद—यह भौतिक नहीं बल्कि प्राणिक शरीर होता है जो अपने आपको शरीर से अलग करता है। एक समय था जब मैं सोचा करता था कि भौतिक सिद्धि असंभव है। लेकिन एक दिन अलीपुर जेल में मैंने देखा कि मेरा शरीर एक ऐसी स्थिति में था जो साधारणतः उसके लिये असंभव था। फिर एक बार मैं अपने हाथ ऊंचे उठाने का अभ्यास करता था और उन्हें उसी स्थिति में मांसपेशियों के किसी नियंत्रण के बिना रखना चाहता था और हाथ यों ही उठे रहते थे। एक बार ऐसी अवस्था में मुझे नींद आ गयी। वार्डर ने मुझे इस स्थिति में देखा और उसने सूचना दी कि मैं मर गया। अधिकारी दौड़े आये लेकिन उन्होंने मुझे जीता-जागता पाया। मैंने उनसे कह दिया कि उनका वार्डर मूर्ख है।

एक फ्रेंच लेखक है जूल रोमैं। वह चिकित्साशास्त्र जानता है और गृह-ज्ञानी भी है। वह आंखें बंद करके अन्य अंगों से भी देख सकता है। वह कहता है कि आंखें केवल विशेष प्रशिक्षित अंग हैं। अन्य अंगों को भी उसी तरह देखने का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने उसके प्रदर्शनों को स्वीकार करने से इंकार कर दिया।

एक और शिष्य—रमण महर्षि अवतरण पर विश्वास नहीं करते। (अतिमानस के)

श्रीअरविंद—हमारे योगमार्ग से भिन्न मार्गों के साधकों ने भी अवतरण का अनुभव किया है। रामकृष्ण मिशन के एक बूढ़े संन्यासी ने ऊपर से प्रकाश की बाढ़ को उतरते देखा और पूछने पर उसे बताया गया कि यह सारा शैतान का काम है, उसके बाद उसकी सारी अनुभूति बंद हो गयी।

महर्षि ने इस वस्तु को हृदय में पाया और उसके साथ काम किया है। इसलिये उन्हें अवतरण की अनुभूति नहीं होती।

अगस्त १९११

शिष्य—मुझे लगता है कि भागवत कृपा अहैतुकी होती है।

श्रीअरविंद—भगवान् की ओर से यह बात ठीक हो सकती है लेकिन मनुष्य को वे शर्तें पूरी करनी चाहियें जिनमें कृपा काम कर सकती है।

शिष्य—कृपा कृपा है लेकिन हमें हाथ बांधकर बैठे न रहना चाहिये। जो कुछ प्राप्त होता है उसे कृपा देती है।

श्रीअरविंद—कृपा बिना शर्त के हुआ करती है, लेकिन मनुष्यों को शर्तें पूरी करनी चाहियें। यह तो ऐसा है कि किसी प्याले में कोई चीज उंडेली जा रही है और मनुष्य उसमें से बराबर गिराता जाये।

११-१२-१९३८

शिष्य—क्या 'स', 'व' और 'न' के जैसे लोगों के दुष्कर्मों के लिये कोई न्याय नहीं होता ? निश्चय ही उन्हें अपने कर्मों का फल भोगना होगा ? फिर भी वे जीवन में सफल कैसे होते हैं ?

श्रीअरविंद—इस जीवन में न्याय ? संभवतः नहीं। अधिक संभव है कि नहीं। लेकिन न्याय वह नहीं है जो लोग उसे समझते हैं। कहा जाता है कि पुण्यात्मा अगले जन्म में सुख-संपदा पायेंगे, इस जन्म में उन्हें उल्टे परिणाम मिलेंगे। अगर ऐसी बात है तो तुम जिन लोगों की बात कर रहे हो वे अपने पिछले जन्म में पुण्यात्मा रहे होंगे। न्याय इस दृष्टि में है कि पुण्यात्मा तथा धार्मिक लोग सात्विक प्रकृति की ओर बढ़ते हैं और इससे उल्टी तरह के लोग मानवता के सोपान में उतरते जाते हैं और अधिकाधिक आसुरी बन जाते हैं। मैंने इस विषय में 'आर्य' में लिखा है।

(इसी समय माताजी अंदर आती हैं और पूछती हैं कि किस विषय में बात हो रही है।)

श्रीअरविंद ने उत्तर दिया कि 'क्ष' पूछ रहा है कि क्या न्याय के जैसी कोई चीज है ? कुछ देर रुककर माताजी ने कहा, निश्चय ही न्याय है, ये लोग कष्ट पाते हैं, इन्हें यातनाएं मिलती हैं और ये भीतर से सुखी नहीं होते। लेकिन ऐसा लगता है कि यह दुःख उन्हें बदलता नहीं। वे बद-से-बदतर होते जाते हैं, लेकिन कुछ लोगों में भगवान् के दबाव के कारण किसी समय विशेषकर, किसी आनेवाले संकट के

समय अचानक कोई परिवर्तन आ जाता है। हमने ऐसे कई लोग देखे हैं। विशेषकर उन लोगों में जो श्रीअरविंद को यातना देने की कोशिश कर रहे थे।

शिष्य—आपने अपनी 'प्रार्थनाओं' में कहा है कि न्याय का अस्तित्व है। भागवत कृपा के बिना आदमी कर्मफल से बच नहीं सकता।

श्रीअरविंद—'न' दुष्ट हो सकता है लेकिन उसमें क्षमता और दक्षता है और वह निश्चय ही सफल होगा। क्षमता और दक्षता ही हैं जो जीवन में सफलता देती हैं, पुण्य आदि नहीं।

शिष्य—लोगों को ठगना और उनसे धन ऐंठना, क्या यह चालाकी है ?

श्रीअरविंद—निश्चय ही, यह दक्षता तो है या तुम उसे दक्षता का दुरुपयोग कह सकते हो। लेकिन मैं यह नहीं कहता कि दक्षता का फल नहीं मिलेगा, लेकिन साथ ही ये गुण जीवन में सफल होते हैं।

शिष्य—आदमी भागवत कृपा पर विश्वास क्यों नहीं करता ?

माताजी—क्योंकि मनुष्य का मन चीजों को व्यवस्थित करता और उनमें जोड़-तोड़ करता है और वह भागवत कृपा के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता। उदाहरण के लिये जब कोई रोगमुक्त हो जाता है या परीक्षा में उत्तीर्ण होता है तो वह सोचता है कि यह दवाई या संयोग के कारण हुआ है। वह यह नहीं देखता कि बीच में या पीछे से हो सकता है कि भागवत कृपा काम कर रही हो। क्या ऐसा नहीं है ?

श्रीअरविंद—वे उसे भाग्य कह लेते हैं।

माताजी—अगर तुम भागवत कृपा को स्वीकार न करो तो वह कैसे काम कर सकती है ? यह तो ऐसा हुआ मानों तुमने अपने दरवाजे उसके लिये बंद कर लिये। निश्चय ही, हम कह सकते हैं, वह नीचे से भी काम कर सकती है।

शिष्य—क्या वह बिना शर्त के काम नहीं करती ?

माताजी—करती है, विशेषकर उन लोगों के लिये जो पहले से ही किसी विशेष काम के लिये चुने हुए होते हैं। लेकिन अगर तुम उसे स्वीकार करो और कृतज्ञता प्रकट करो तो वह अधिक सबल रूप से और ज्यादा तेजी से काम करती है।

शिष्य—क्या यह इस कारण नहीं है कि हम अज्ञानी हैं ?

अग्रिम
अगस्त १९११

माताजी—नहीं, मैं ऐसे कई अज्ञानी लोगों को जानती हूँ जिन्हें कृपा प्राप्त होती है और वे हृदय से उठती हुई गहरी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

शिष्य—हम चाहेंगे कि कृपा एक मां की तरह काम करे, जब बच्चा भूखा हो तो उसे भोजन दे और जब चीजों की जरूरत हो तो वह भी दे।

श्रीअरविंद—और कौन बच्चा है ? (अट्टहास्य)

माताजी—लेकिन कृपा मनुष्य की मांगों के या उसकी कल्पनाओं के अनुसार कार्य नहीं करती। उसके अपने विधान और तरीके होते हैं। बहुधा जो वर्तमान समय में बहुत बड़ा प्रहार या मुसीबत दीखे वह दस वर्षों के बाद बहुत बड़ा आशीर्वाद मालूम हो सकती है। और लोग कहते हैं कि उनका मन्त्रा जीवन उसके बाद आरंभ हुआ।

श्रीअरविंद—कृपा बिना शर्त के होती है, साथ ही यदि लोग कृपा को फेंक दे या पहचाने ही नहीं तो वह कैसे काम कर सकती है ? यह तो ऐसा ही हुआ जैसे जिस प्याले में कोई चीज दी जा रही हो तुम उसीको उलट दो। माताजी ने कहा है कि वे दो व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं देखने में रस लेती हैं। दोनों में अलग-अलग परिणाम हो सकते हैं। लेकिन वे यह नहीं कह सकतीं कि वे किस तरह अलग होंगे।

शिष्य—क्या यह मात्रा का फर्क होगा ?

श्रीअरविंद—नहीं, गुण में भी फर्क हो सकता है। एक दूसरे से बहुत ज्यादा मूर्ख और अंधा है, दूसरा सचेतन रूप से जानता है कि उसका क्या लक्ष्य है। अतः पहले में दूसरे की अपेक्षा हानि पहुंचाने की कम क्षमता है।

शिष्य—शायद व्यक्ति अपने जीवन में ही ज्यादा अच्छे में परिवर्तित हो जाये ?

माताजी—यह कल्पना है।

शिष्य—विशेष रूप से 'स' तो आश्रम में वापिस आ ही जायेगा।

माताजी—(मजा लेते हुए) तुम ऐसा सोचते हो। जब कोई अपनी पीठ मोड़ लेता है तो उसके लिये कोई संभावना नहीं होती। जिसे एक अवसर दिया जाता है उसके लिये संभावना होती है।

शिष्य—जैन धर्म के अनुसार कर्म का विधान अकाट्य बताया गया है।

यहांतक कि तीर्थकर भी उससे नहीं बच सकते। उन्हें भी ठीक हिसाब से सब कुछ चुकाना पड़ता है।

श्रीअरविंद—यह बड़ी मजेदार चीज है। अद्भुत और इतनी अधिक हिसाबी कि सच नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये—एक लड़का था जो बहुत कम समय जिया और उसके रोग के कारण बाप को बहुत अधिक धन खर्च करना पड़ा। इसके लिये कहा गया कि पिछले जन्म में बाप बंदे का ऋणी रहा होगा। और इस जन्म में बेटे ने रोगी होकर पूरी रकम वसूल कर ली और फिर मर गया। (हास्य)

शिष्य—एक ऐसा कर्म होता है जिसे उत्कट कर्म कहते हैं जिससे बचा नहीं जा सकता। यह गांठ की तरह होता है जिसे खोला नहीं जा सकता, यह एक रेशमी धागा है जिसे बांधा और जलाया जाता है।

श्रीअरविंद—तो यह उत्कट कर्म ही होगा जो इस दुर्घटना को लाया। (श्रीअरविंद के पांच की चोट के बारे में)

शिष्य—यह बात समझ में नहीं आती कि आपकी शारीरिक चेतना को बिना बात के इतना कष्ट क्यों सहना पड़ा।

श्रीअरविंद—तुम कैसे जानते हो कि यह बिना बात के था? शायद मुझे इस बात का ज्ञान देने के लिये था कि तीव्र पीड़ा क्या होती है। मुझे पहले सामान्य दर्द हो चुके हैं जिन्हें मैं आनंद में बदल सकता था। लेकिन यह बहुत तीव्र पीड़ा थी और जब वह अचानक आयी तो मैं उसे आनंद में बदल न सका। जब वह स्थिर हो गयी तो मैं उसे बदल पाया। इसके अतिरिक्त उसका पूरा अर्थ हम बाद में देखेंगे। मैं इसे युद्ध के एक भाग के रूप में स्वीकार करता हूँ।

शिष्य—आप कब ठीक होंगे?

श्रीअरविंद—यह बात मत पूछो। मैं यह बात नहीं जान सकता क्योंकि मैं ही मैं कुछ कहूंगा विरोधी शक्तियां उसे रोकने के लिये झपट पड़ेंगी। इसीलिये मैं भविष्यवाणी नहीं करना चाहता। ऐसी बात नहीं है कि चीजें ज्ञात नहीं हैं या संभावनाएं दिखायी नहीं देतीं। उदाहरण के लिये ऐसी चीजें हैं जिनके बारे में मैंने निश्चित रूप से कहा है, लेकिन जहां संभावनाओं का प्रश्न है वहां मैं

अगस्त १९११

अपने-आपको बांधना नहीं चाहता क्योंकि अगर मैं ऐसा करूँ तो मैं अपने-आपको पहले से ही किसी गति-रेखा के लिये बांध लूँगा और हो सकता है कि वैसा परिणाम न आये जैसा मैं चाहता हूँ और मैं उस चीज को नीचे न उतार सकूँगा जिसके लिये मैं कोशिश कर रहा हूँ। वह उच्चतम परिणाम न होकर आंशिक होगा। लेकिन बहुत-से लोग भविष्यवाणी कर सकते हैं। योगियों में यह क्षमता सामान्य है। जब मैं गिरफ्तार किया गया था तो मेरी एक मामी ने स्वामी भास्करानंद से पूछा, “हमारे अरविंद का क्या होगा?” उन्होंने उत्तर दिया, “दिव्य जननी ने उन्हें अपनी भुजाओं में ले लिया है; उन्हें कुछ न होगा। लेकिन वे तुम्हारे अरविंद नहीं हैं, वे सारे संसार के अरविंद हैं और सारा संसार उनकी सुगंध से महक उठेगा।” एक बार जतीन बनर्जी मुझे किसी स्वामी नारायण ज्योतिषी के पास ले गये जिन्होंने मेरे तीन मुकुटों, मेरे गोरे शत्रुओं और मेरे छुटकारे के बारे में बतलाया। जब उन्हें मेरी जन्मपत्री दिखलायी गयी तो उन्होंने कहा कि इसमें मेरे जन्म के समय के बारे में कुछ भूल है। जब भूल ठीक कर दी गयी तो उन्होंने कहा, “ओह ! सीसा सोने में बदल गया।”

शिष्य—क्या आपने स्वप्नों में भविष्य की बातें देखी हैं ? कुछ लोग हैं जिन्हें आनेवाली घटनाओं का स्वप्न या अंतर्दर्शन मिल जाता है।

दूसरा शिष्य—मैं ‘क’ की पुत्र-वधू की बात जानता हूँ जिसने स्वप्न में ‘क’ को श्मशान जाते हुए देखा था। और उसके ठीक दो घंटे बाद ही हृदयगति रुक जाने से ‘क’ की मृत्यु हो गयी।

श्रीअरविंद—हां, यह एक अच्छा उदाहरण है।

शिष्य—क्या संबद्ध व्यक्ति को जाने बिना भी स्वामी भास्करानंद की तरह भविष्यवाणियों की जा सकती हैं ?

श्रीअरविंद—हां, यह एक अंतर्भासात्मक शक्ति है। एक बार मैं जानना चाहता था कि चुनाव में कौन आयेगा और मैंने दफ्तर की कुर्सी पर एक और ही तथा अनजान आदमी को देखा, उसे नहीं जो चुना गया था। कुछ समय बाद मेरे बहनोई और सरकारी अफसर में झगड़ा छिड़ गया और उन्हें बुलाया गया। गलती से ‘बोस’ की जगह ‘घोष’ हो गया था तो मुझे जाकर उस

आदमी को देखना पड़ा। मैंने जाकर देखा कि यह वही आदमी था जिसे मैं अंतर्दर्शन में देखा था जो गवर्नर बनकर बैठा था, मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।

एक और अवसर पर 'क' का एक मित्र (वी. रामस्वामी आयंगर) मुझसे मिलने आनेवाला था और मैं पहले से ही उसका अंतर्दर्शन करना चाहता था। मैंने उसे घुटी चांद और फूले मुखवाला देखा। लेकिन जब वह सचमुच आया तो उसका चेहरा एकदम और तरह का था, ठीक दक्षिण के ब्राह्मणों जैसा। लेकिन मजे की बात यह है कि मैं जब दो वर्ष बाद उस आदमी से मिला तो उसका चेहरा ठीक वैसा ही था जैसा मैंने अंतर्दर्शन में देखा था। ये चीजें सूक्ष्म जगत् से सतह की चेतना पर फेंकी जाती हैं। एक और उदाहरण है, मुझे चाय का बहुत लत थी, मैं चाय के बिना कुछ काम न कर सकता था। चाय की व्यवस्था मेरे साले के हाथ में थी। उसकी जब नींद खुलती तो वह चाय ले आया करता था। एक दिन मेरे पास काम तो बहुत था, लेकिन मैं सोच रहा था, "चाय कब आयेगी? वह ला क्यों नहीं रहा?" उसी समय मैंने घड़ी की ओर देखा और ठीक उसी समय चाय आ गयी। मैंने एक नियम बना रखा था कि कभी किसीसे कोई चीज न मांगता था।

शिष्य—क्या भागवत चेतना शारीरिक कोषाणुओं में भी संभव है?

श्रीअरविंद—हां, कोषाणुओं को शांति, आनंद वगैरह मिल सकते हैं और जब वे पूरी तरह सचेतन हों, वे विरोधी शक्तियों को बाहर फेंक सकते हैं। जब शरीर में शांति उतरती है तो वह रोगमुक्ति के लिये एक बड़ी शक्ति होती है।

शिष्य—क्या हम बिना जाने भी शांति पा सकते हैं?

श्रीअरविंद—वह स्वाभाविक शांति होती है जो निश्चलता से बढ़कर है। लेकिन एक सकारात्मक शांति होती है जिसे आदमी जानता और अनुभव करता है। सत्य भी भौतिक में उतर सकता है और शक्ति भी, लेकिन बहुत कम हैं जो शक्ति को सह सकें। प्रकाश भी उतर सकता है। मुझे याद है किसी शिष्य ने अपने गुरु से अपने अंदर प्रकाश के अवतरण की बात की थी : गुरु ने कहा, "शैतान ने तुम्हें पकड़ लिया है," और तब से शिष्य सब कुछ खो बैठा।

अगस्त १९९१

सिर के ऊपर शक्ति, आनंद का असीम सागर है। अगर तुम उसके साथ संपर्क कर सको तो तुम उन्हें हमेशा पा सकते हो।

शिष्य—क्या आपके अंदर भी विचार या सुझाव आते हैं ?

श्रीअरविंद—क्या मतलब है तुम्हारा ? मेरे अंदर सभी ओर से विचार और सुझाव आते रहते हैं। मैं उन्हें मना नहीं करता। मैं उन्हें स्वीकार कर लेता हूँ और देखता हूँ कि वे क्या है ? लेकिन तुम जिसे “सोचना” कहते हो वह मैं कभी नहीं करता। जब मुझे लेले के साथ वह अनुभूति हुई थी तभी से मेरा सोचना बंद है। जैसा कि मैंने कहा था, मेरे अंदर सब ओर से विचार आते हैं, ऊपर से भी, लेकिन संचरण करनेवाला मन चुप रहता है या उन्हें ग्रहण करने के लिये विस्तृत हो जाता है। सच्चे विचार इसी तरह से आते हैं। तुम ऐसे विचारों को सोच नहीं सकते, “माताजी इन्हें “मानसिक रचनाएं” कहती हैं।

शिष्य—क्या ‘आर्य’ इसी तरह लिखा गया था ?

श्रीअरविंद—नहीं, वह सीधा लेखनी में संचारित हुआ था। इस जिम्मेदारी से बच निकलने में बड़ी राहत है।

शिष्य—सचमुच भगवन् ?

श्रीअरविंद—मेरा मतलब व्यापक रूप से जिम्मेदारी से नहीं है, बल्कि हर बात के बारे में सोचने से है। कुछ विचार बाहर से दिये या प्रतिबिंबित किये जाते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि मैं ज्ञान के लिये मांग नहीं करता। जब मुझे ज्ञान की जरूरत होती है तो मैं उसे पुकारता हूँ। उच्चतर मनीषा विचारों को मानों दीवार पर लिखा हुआ देखती है।

१३-१२-१९३८

माताजी ५.५५ पर आयीं और ७.०५ के बाद तक ध्यान करती रहीं। यह कहना मुश्किल है कि नीरव ध्यान का भोज ज्यादा मूल्यवान् था या वह बातचीत ज्यादा मजेदार थी जो माताजी के शाम के ध्यान के लिये चले जाने के बाद हुई।

श्रीअरविंद—(‘क’ की ओर देखकर मुस्कराते हुए) ध्यान चल रहा है ?

शिष्य—देव, मैं लगभग पौन घंटे से बड़ा प्रयास कर रहा हूँ, लेकिन सफलता नहीं मिलती। बहुत-से अवांछनीय विचार आ जाते हैं।

श्रीअरविंद—वे क्या हैं ?

शिष्य—कुछ बकवास।

श्रीअरविंद—कोई विशेष रूप से अनर्गल विचार जैसे महाराजा की सेवा में सदा उपस्थित रहना या फिर मुसोलिनी का उत्तराधिकारी बनने का विचार ?

शिष्य—जी नहीं देव, महाराजा का विचार तो कभी-कदास ही आता है। अच्छा, तो इतने प्रयासों के बाद भी हम ध्यान में सफल क्यों नहीं हो पाते ? पिछली बार मुझे अच्छे ध्यान का अनुभव तब हुआ था जब मेरे मित्र डा० 'न' यहां आये थे। लेकिन मैं अपने मित्र 'न' को एकदम सिर झुकाते हुए देखता हूँ तो मुझे लगता है कि वह सच्चिदानंद में डुबकी लगा लेता है।

दूसरा शिष्य—हां, शायद निराशा में, मैं सो जाता हूँ।

श्रीअरविंद—हां, निराशा से बचकर आश्रय पाने के लिये। इसके अतिरिक्त यह प्रायः सबके साथ होता है, उन योगियों को छोड़कर जिन्होंने ध्यान को ही अपना कार्य-व्यापार बना लिया है और वे अनुभव करते हैं कि रिक्तता के अवसर आते हैं जब ऐसा लगता है कि कुछ भी नहीं हो रहा।

शिष्य—चूंकि वह एक बड़ा कवि है इसलिये हो सकता है कि वह उच्चतम क्षेत्रों में रहता है।

श्रीअरविंद—तुम्हें यह न भूलना चाहिये कि शेक्सपीयर ने कहा है कि सभी कविता झूठी बकवास है। (हंसी)

शिष्य—वह उस तरह का कवि नहीं है।

दूसरा शिष्य—शायद पिछले सप्ताह तुमने ध्यान की एक मात्रा ली थी और अब उसे पचाने में लगे हो। तुम्हें आध्यात्मिक अजीर्ण हो गया है।

पहला शिष्य—लेकिन कुछ लोग जैसे ही ध्यान शुरू करते हैं निश्चेतना में चले जाते हैं जैसे 'र' और 'च', 'प' भी जब इनके साथ होता था तो शरीर के बारे में अचेत हो जाता था।

श्रीअरविंद—कुछ योगियों को ध्यान करते समय सहारे की जरूरत होती है ताकि वे गिर न पड़ें। जो लोग आसन करते हैं वे सीधे रह सकते हैं।

अग्निशिखा

अगस्त १९९१

हैं, लेकिन

की सेवा में
विचार ?आता है।
हो पाते ?नत्र डा० न
हुए देखता हूँये। इसके
कर जिन्होंने
करते हैं कि
हो रहा।

वह उच्चतर

है कि सारी

ली थी और

।

निश्चेतना में
तो शरीर केरत होती है
हैं।

कुछ लोग घोड़े की तरह खड़े-खड़े सो सकते हैं। मेरे नाना राज नारायण बंस ऐसे ही थे। एक बार हम लोग रात को साथ-साथ चल रहे थे, अचानक हमने देखा कि वे लापता हैं, जब हम लौटे तो उन्हें खड़े-खड़े सोते हुए पाया।

शिष्य—मेरे ख्याल से यह अभ्यास तथा सुविधा का प्रश्न है।

एक और शिष्य—क्या राजनारायण ध्यान का अभ्यास करते थे ?

श्रीअरविंद—ज्यादा नहीं। उनका ब्रह्मसमाजी ध्यान था। (हंसी)

शिष्य—मैं जहां रहता था वहां कभी-कभी मेरे अंदर सहज रूप से ध्यान गुरु हो जाता था। मैं ऐसी स्थिति में आ जाता था कि मैं बैठकर ध्यान करने के लिये बाधित हो जाता था।

श्रीअरविंद—शायद आंतरिक सत्ता ध्यान के लिये आग्रह करती होगी। ज्यादा अच्छा यह है कि उसको अपना काम करने दिया जाये।

शिष्य—कभी-कभी यह तब होता था जब मैं अपने काम के लिये जा रहा होता। कई-कई दिनों तक ऐसा लगता था कि मैं माताजी के चरणों पर सिर रखकर आराम कर रहा हूँ। यह क्या है ?

श्रीअरविंद—यह चैत्य भक्ति का अनुभव था।

शिष्य—लेकिन वह चली गयी। उस अनुभव को कैसे बनाये रखा जा सकता है ?

श्रीअरविंद—शर्त यह है कि “तुम उसीकी चाह करो, किसी और चीज की नहीं।” अगर तुम्हारे अंदर भगवान् के साथ ऐक्य के लिये तीव्र अभिलाषा हो तो वह चीज रह सकती है। यह बहुत कठिन है, है ना ? तो ज्यादा अच्छा यही है कि उच्चतर शक्ति को अपना काम करने दो।

शिष्य—ध्यान करते समय मैंने सिर में ऊपर की ओर खिंचाव का अनुभव किया।

श्रीअरविंद—यह मन है जो उच्चतर चेतना की ओर चढ़ने का प्रयास करता है।

शिष्य—कभी-कभी मुझे अपने अंदर विस्तार का अनुभव होता है।

श्रीअरविंद—हां, कभी-कभी लगता है सिर खुल रहा या विस्तृत हो रहा है। यह मानसिक सत्ता का दिव्य शक्ति की ओर खुलने का चिह्न है।

शिष्य—कभी-कभी मैं आकाश, सागर, पर्वत और वन देखता हूँ।

श्रीअरविंद—हां, आंतरिक दृष्टि से तुम बहुत-सी चीजें देखते हो। ये जीव या ऊर्जा के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिये आकाश मन का प्रतीक है, पर्वत विभिन्न स्तरों और भागों के साथ सत्ता का प्रतीक है जिसके शिखर हैं भगवान्। वन प्राण का प्रतीक है।

शिष्य—ये दृश्य बहुत-से साधारण लोग भी देखते हैं।

श्रीअरविंद—हां, मन का विस्तार होता है। उसी तरह हृदय का भी और साथ ही प्राण का भी। अगर तुम इन चीजों को अपने बाहर देखो तो यह केवल प्रतीकात्मक अर्थ होता है, लेकिन अगर तुम अपने अंदर प्रकाश को या विस्तार को आते हुए देखो तो उससे सत्ता का उद्घाटन और ग्रहणशीलता बढ़ जाते हैं।

शिष्य—भगवान् या परम पुरुष से आपका मतलब क्या है ?

श्रीअरविंद—उससे मेरा मतलब है उस चेतना से जिसे गीता में परम भावम्, पुरुषोत्तम, परब्रह्म, परमात्मा कहा गया है। यानी, जो हर चीज का मूल, सहारा और कारण है। यह सर्व-शक्तिमय, सर्वव्यापक और सर्वत्र है। तुम उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। अगर तुम उसकी व्याख्या करने लगते हो तो उसे सीमित कर देते हो। उसे सच्चिदानंद कहा जा सकता है। वह सब कुछ है, सब जगह है और सब चीजों में है। वह निर्वैयक्तिक “नेति नेति” और साथ ही “इति इति” भी है। तुम्हें किसी भी स्तर पर सच्चिदानंद की अनुभूति हो सकती है। इन चीजों को मन या वाद-विवाद द्वारा नहीं जाना जा सकता। “हिरण्यमय पात्र” या सोने के ढक्कन को तोड़ना होगा।

शिष्य—अगर कोई दिव्य चेतना का अनुभव कर ले तो क्या होगा ?

श्रीअरविंद—पहली चीज तो यह कि तुम शांत और स्थिर हो जाओगे। दूसरी चीज तुम्हें बल की अनुभूति होगी। मेरा मतलब है शक्ति की उपस्थिति का अनुभव होगा। तीसरी चीज शाश्वत के भाव का अनुभव होगा, तुम अपने-आपको शाश्वत अनुभव करोगे। चौथी चीज यह कि हमेशा पीछे किसी चीज का अनुभव होगा जो प्रकृति पर शासन कर सकेगी। साथ ही शाश्वतता और अपने-आप अमर होने का अनुभव होगा। शरीर भले मर जाये पर तुम अपने-आपको अमर अनुभव करोगे। इसके साथ ही और भी बहुत-सी चीजें हैं।

अगस्त १९९१

उदाहरण के लिये, सभी चीजों से यहांतक कि संसार से छुटकारे का भी अनुभव करोगे। तुम वैश्व और परात्पर चेतना को चरितार्थ करोगे।

मूल सत्ता की अनुभूति सारभूत सत्ता, चेतना और आनंद का आरंभ हो सकती है। तब हर चीज दिव्य होती है, तुम दिव्य होते हो, तुम भगवान् में निवास करते हो, यह सबसे आनंदमयी अनुभूतियों में से एक होती है। यह एक भाव नहीं, ठोस वास्तविक चीज होती है। तुम इन बातों को समझा नहीं सकते। तुम अपने भौतिक विज्ञान के बावजूद एक पत्थर की व्याख्या भी नहीं कर सकते। हर चीज जड़ भौतिक नहीं है बल्कि अपनी तह में गुह्य होती है।

शिष्य—क्या यह सच है कि अलग-अलग योगियों में यह अनुभूति उनके व्यक्तित्व के साथ मेल खाने के लिये अलग-अलग रूप लेती है? या फिर स्वयं प्रकृति और व्यक्तित्व के कारण यह विभिन्नता आती है?

श्रीअरविंद—वहां व्यक्तित्व पृथक् नहीं रहता। यह एकमेव ही विशेष गुण, दबाव या दबाव के साथ अपने-आपको आगे लाता है। निम्बार्क के भेदाभेद का यही अर्थ है।

शिष्य—आपने हृदय में परदे के बारे में भी कहा है।

श्रीअरविंद—यह भी सच है। इसके लिये कभी-कभी परदे को हटाने और दीवार (हृदय के अंदर की) को तोड़ने की जरूरत होती है।

कभी-कभी खुलने के अनुभव के बाद ऐसा लगता है कि वह फिर से बंद हो गया। अधिकतर बाधाएं प्राण से आती हैं। इस तरह सत्ता परदे के पीछे तैयार होती रहती है और जब सब कुछ तैयार हो जाता है तो उसे बाहरी प्रकृति में प्रक्षिप्त किया जाता है, लेकिन इस योग में अन्य सभी योगों की अपेक्षा ज्यादा मांग की जाती है इसलिये इसमें समय भी ज्यादा लगता है। सभी योगों में धैर्य की सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

शिष्य—हम इसके लिये कई जीवनों से काम करते आये होंगे।

श्रीअरविंद—कुछ योगों के अनुसार बारह वर्षों से पहले तो परिणाम पर तुम्हारा कोई अधिकार ही नहीं होता। बारह वर्षों के बाद तुम देख सकते हो कि कुछ हुआ है या नहीं।

शिष्य—जब पीछे से तैयारी हो रही हो तो क्या हम कह सकते हैं कि कुछ

साधकों ने वैदिक ऋषियों की तरह बहुत बड़ी प्रगति कर ली है ?

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब क्या है ? उनकी बाह्य प्रकृति तैयार नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सत्य को सिद्ध कर लिया है। प्रकृति कठिनाइयों और अड़चनों से भरी हुई है, अतः उच्चतर शक्ति पीछे काम करती रहती है। अगर वह बाह्य प्रकृति में काम करे तो उसे बहुत अधिक अड़चनों का सामना करना होगा।

शिष्य—तो क्या यह भेदाभेद दर्शन है ?

श्रीअरविंद—यह केवल दर्शन नहीं है बल्कि एक तथ्य है जो दर्शन के साथ मेल खाता है। गीता इसके बारे में कहती है, “अविभक्तम् विभक्त्यु विभक्तम् इव च स्थितम्” “विभक्त चीजों में अविभक्त, जो विभक्त-सा प्रतीत होता है।” यह भ्रान्ति नहीं है। मैं एक पेड़ देखता हूँ, मुझे पेड़ अपने-आपसे अलग दीखता है लेकिन वह एकमेव है, क्योंकि वह उनके साथ एक है। वह मैं ही हूँ। वह पेड़ के अतिरिक्त कुछ और है। यह कल्पना करना असंभव है कि वह भगवान् के अतिरिक्त कुछ और है।

जब मैं कमरे के चारों ओर आंखें घुमाता हूँ तो हर चीज—वस्तुएं और व्यक्ति—ब्रह्म प्रतीत होती हैं। मैं तुम्हें अमुक नाम से पुकारता हूँ पर तुम वह नहीं हो।

सामान्यतः तुम हर चीज पर “अहं” का चिप्पा लगा देते हो लेकिन जब तुम उच्चतर स्थिति में होते हो तो भगवान् के कार्य को ज्यादा अच्छी तरह समझते हो; उस स्थिति से ज्यादा अच्छी तरह जब तुम एक पृथक् “अहं” होते हो। जब तुम “कोई नहीं” बन जाते और जब भगवान् का अनुभव करते हो तो तुम स्वतंत्र हो सकते हो, यही मुक्ति है। जब मैंने एकमेव का अनुभव कर लिया तो मेरा “मैं” गायब हो गया। अपने बारे में यह सोचना मुश्किल है कि मैं अमुक का बेटा अमुक हूँ। ‘तत्’ होना और ‘उसी में’ बने रहना एक स्वाधीनता है।

शिष्य—क्या इसे शंकर की वैदांतिक सिद्धि कहा जा सकता है ?

श्रीअरविंद—शंकर के वेदांत के बारे में मुश्किल यह है कि अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग व्याख्याएं की हैं। जगत् एक भ्रम है और भ्रम की

अगस्त १९९१

ब्याख्या नहीं की जा सकती। शंकर के समस्त अद्वैतवाद की यही सामान्य ब्याख्या है। उनके मतानुसार आत्मा भी माया है, क्योंकि उसका कोई सच्चा अस्तित्व नहीं है। लेकिन मैंने पाया कि इस विचार के पीछे जो अनुभूति है वह बिल्कुल भिन्न है। मुझे बड़ौदा में यह अनुभूति हुई थी, अगर मैं वहीं रुक जाता तो मैं एक पक्का वेदांती बन जाता।

१४-१२-१९३८ (शाम के साढ़े पांच बजे।)

वातावरण नीरव था। 'म' ध्यानस्थ और 'प' उसके साथ बैठा था। श्रीअरविंद ने 'म' पर नजर डाली। कुछ देर बाद 'प' ने ताली पीटकर एक मच्छर मारना चाहा। श्रीअरविंद ने उसकी ओर देखा। 'म' ने आंखें खोलीं। 'प' परेशान हो गया।

शिष्य—देव, क्या आप कभी 'फ्री मेसन' रहे हैं ?

श्रीअरविंद—मेरा सबसे बड़ा भाई था। उससे मुझे पता लगा कि इसमें कुछ भी नहीं है, लेकिन जब 'फ्री मेसन' शुरू हुआ था तो उसमें कुछ था। क्या तुमने 'कैंगलिओस्ट्रो' के बारे में सुना है ? वह एक 'फ्री मेसन' और रहस्यवादी था। उसमें भविष्यवाणी करने की काफी शक्ति थी। उदाहरण के लिये उसने फ्रेंच क्रांति, बास्तील और राजा-रानी को गिलोटिन करने की भविष्यवाणी की थी। वह घुड़दौड़ के बारे में भी भविष्यवाणी किया करता था। एक बार वह तकलीफ में पड़ गया और जेल में गया और वहीं मर गया। वह किसी से पैसा न लेता था फिर भी समृद्ध था। कहते हैं वह कीमिया जानता था और सोना बना सकता था। (मौन)

क्या तुमने 'नोस्ट्रडेमस' के बारे में सुना है ? नहीं ? वह एक यहूदी था। उन दिनों यहूदियों में बहुत ज्ञान होता था। उसने किसी अस्पष्ट भाषा में भविष्यवाणियों की पुस्तक लिखी थी। उसने प्रथम चार्ल्स की फांसी और

'शंकर के अनुयायियों में मतभेद है। श्रीअरविंद के अनुसार भगवान् एक ही साथ एक और अनेक हैं। वे कह सकते हैं कि यह तर्क की दृष्टि से विरोध है। माया भी तो इसी तरह एक ही साथ सत्य और असत्य है। यह भी तर्क की दृष्टि से विरोध है।

अंग्रेज साम्राज्य की समाप्ति के बारे में भविष्यवाणियां लिखी थीं। उसके अनुसार अंग्रेज साम्राज्य ३३० वर्ष तक रहेगा।

शिष्य—तब तो अभी बहुत समय है ?

श्रीअरविंद—नहीं, इसकी गिनती साम्राज्य के आरंभ से यानी पहले जेम्स के समय से करनी होगी। तब तो फिर उसकी समाप्ति का समय आ गया है।

शिष्य—आज के चेंबरलेन के भाषण से लगता है कि युद्ध हुआ तो अंग्रेज फ्रांस का साथ देने के लिये बाधित नहीं हैं।

श्रीअरविंद—अंग्रेज हमेशा अपनी नीति को खुला रखते हैं ताकि वे अपने इच्छा या आवश्यकता के अनुसार उसमें हेर-फेर कर सकें।

श्रीअरविंद—लेकिन क्या वे इटली और जर्मनी के साथ नहीं मिल सकते ?

श्रीअरविंद—क्यों नहीं ? वे उनके साथ फ्रांस के उपनिवेशों में हिस्सा ले सकते हैं।

इसी समय माताजी आ गयीं। हम लोगों ने उनकी ओर देखा और अपने स्थान बदले। माताजी ने कहा, “हिलो मत, हिलो मत।”

शिष्य—हम लोगों ने ठीक किया है कि जब आप आयेंगी तो हम ध्यान करेंगे।

(माताजी ने बड़ी-बड़ी आंखें कीं और हम सब हंस पड़े।)

माताजी—लेकिन अगर मैं तुम लोगों की बातचीत सुनना चाहूं ?

शिष्य—तो हम लोग बातें करेंगे।

श्रीअरविंद—(माताजी से) मैं इन्हें नोस्ट्रडेमस और कैगलिओस्ट्रो की भविष्यवाणियों के बारे में कुछ बता रहा था जिनके बारे में इन्हें कुछ नहीं मालूम।

शिष्य—आप जानते हैं कि भिक्षु ‘क’ एकदम असंगत था। वह मुझे यहां से वापिस बुला रहा था ?

श्रीअरविंद—सभी प्रचारक असंगत होते हैं। क्या तुम कट्टर बौद्ध थे ? क्या तुम्हारे भागों में बौद्ध धर्म है ?

शिष्य—लगभग दस-बीस लाख लोग बौद्ध हैं और वे जो करते हैं उसमें बौद्ध धर्म का लवलेश भी नहीं है।

अगस्त १९९१

अग्निशिखा

थीं। उसके

पहले जेम्स

आ गया है।

मा तो अंग्रेज

के वे अपने

ल सकते ?

में हिस्सा ले

और अपने

हम ध्यान

?

ओस्ट्रो को

कुछ नहीं

ह मुझे यहाँ

बौद्ध थे ?

रते हैं उसमें

माताजी—बिल्कुल नहीं या थोड़ा-बहुत अंश ?

शिष्य—थोड़ा-बहुत ।

माताजी—चीन और जापान में भी बौद्ध धर्म नहीं बचा है । केवल रीति-विवाज बचे हैं । लोग कहते हैं कि लंका में कुछ प्रामाणिक बौद्ध धर्म है ।

शिष्य—बरमा में भी यही हाल है । वहाँ ऐसे लोग हैं जो दिन में गेरुआ वस्त्र पहनते हैं लेकिन रात को उन्हें उतार फेंकते हैं, लेकिन बरमा वाले अपने भिक्षुओं को बहुत मान देते हैं ।

दूसरा शिष्य—हां, वेश को मान देते हैं, मनुष्य की सच्चाई को नहीं ।

श्रीअरविंद—लेले का भी ऐसा ही विचार था । एक बार मैंने उनके साथ किसी संन्यासी को देखा । लेले ने मुझसे पूछा, “तुम उसके सामने नहीं झुके ?” मैंने जवाब दिया, “मैं उस आदमी पर विश्वास नहीं करता ।” लेले ने कहा, “पर तुम्हें पीत वस्त्र का तो मान करना चाहिये ।” यह संन्यासी उन तीन लोगों में से एक था, जिन्हें विवेकानंद ने अपने घर से निकाल भगाया था और वे एक ही दिन में अवतार बन गये । (हंसी) क्या वह ऐसा आदमी है जिसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाये ?

माताजी ध्यान में चली गयीं और हम सबने उनके साथ ध्यान करने की कोशिश की । ७ बजे के लगभग माताजी सम्मिलित ध्यान के लिये चली गयीं और हम लोग श्रीअरविंद के चारों ओर इकट्ठे हो गये ।

श्रीअरविंद—(‘क’ से) ऐसा लगता है कि तुम्हें ध्यान में बहुत आनंद आया । तुम्हारा चेहरा उससे दमक रहा है ।

अन्य शिष्य—देव, आजकल यह आनंद से दमकता रहता है ।

पहला शिष्य—(शरमाते हुए) शायद मैं गहरी नींद में चला गया था, लेकिन मैंने कुछ ऐसे अंतर्दर्शन भी देखे जो बिल्कुल बाहर के थे ।

श्रीअरविंद—तब फिर तुम उसे नींद क्यों कहते हो ? हो सकता है कि चैत्य सत्ता या आंतरिक सत्ता देख रही हो कि क्या हो रहा है । कभी-कभी आदमी अपनी आंतरिक स्थिति में चला जाता है और उसे बाहरी चेतना में कुछ भी याद नहीं रहता, चाहे भीतर-ही-भीतर बहुत-सी चीजें हो रही हों । जिसे स्वप्नरहित निद्रा कहा जाता है वह ऐसी नींद होती है जिसमें स्वप्न गुजरते रहते

हैं लेकिन तुम उनके बारे में कुछ नहीं जानते। कभी-कभी आदमी ऐसी अवस्था में समस्याओं का चिंतन करता है, ऐक्य का आनंद पाता है आदि-आदि। तुम सत्ता के एक भाग से अन्य लोकों में जा सकते हो और अन्य रूपों से मिल सकते हो आदि-आदि। यह पहली स्थिति है और समाधि का एक तरह से आरंभ है। तुम्हारे वर्णन से लगता है कि यह चैत्य नहीं, आंतरिक सत्ता की अनुभूति है। फिर भी निश्चित रूप से तुम्हारा चेहरा दमक रहा था, जिसे देखकर मैंने सोचा कि तुम अंदर चले गये हो।

शिष्य—क्या ऐसी अवस्था में हम रोगों का निदान कर सकते हैं ?

श्रीअरविंद—हां जरूर, कहा जाता है कि कई लोग अपनी समस्या का हल इसी अवस्था में पा लेते हैं। मुझे अपनी एक विशेष अनुभूति की याद है। मैं ध्यान कर रहा था, मैंने अपने सिर के ऊपर से कुछ हस्तलिपियों को गुजते देखा और फिर उसके बाद एकदम कोरापन, फिर से हस्तलिपियां और बीच में कोरापन। मतलब यह हुआ कि चीजें होती जा रही थीं यद्यपि मैं उनके बारे में सचेतन न था।

श्रीअरविंद—(एक और शिष्य से) हां, तो तुम्हारे ध्यान के बारे में ?

शिष्य—असफल रहा, देव।

श्रीअरविंद—यह कैसे ? मैंने तुम्हें अंदर जाते और बड़े जोर से ब्रह्म का ओर अपना रास्ता तैयार करते देखा था। (हंसी)

शिष्य—बहुत-से विचारों ने मेरे ऊपर धावा बोल दिया। मैंने उन्हें अस्वीकार करने और अपने-आपको रिक्त करने की कोशिश की।

श्रीअरविंद—और परिणाम आया रिक्तता ? (हंसी)

शिष्य—लेकिन यही तो ध्यान है, निश्चय ही ?

दूसरा शिष्य—नहीं, नहीं, यह नहीं है। मैं शून्य में नहीं जा सका। मैंने उपस्थिति का अनुभव नहीं किया। देव, क्या यह ध्यान था ?

श्रीअरविंद—यह प्रारंभ है, पहली अवस्था है। पहले अन्य चीजों के उतारने के लिये मन को अचंचल होना चाहिये, लेकिन तुम्हें ध्यान को हुकुम न देना चाहिये कि उसे क्या होना चाहिये और क्या नहीं होना चाहिये। वह जो कुछ लेकर आये उसे स्वीकार करना चाहिये।

अगस्त १९९१

अभिनिषिद्धा

दमी ऐसे

है आदि-

अन्य रूपों

ध का एक

तरिक सत्ता

था, जिसे

?

मा का हल

पाद है। मैं

को गुजरते

और बीच में

के बारे में

में ?

ब्रह्म को

मैंने उन्हें

का। मैंने

के उतरते

म न देना

जो कुछ

शिष्य—लेकिन क्या मेरी बात ठीक थी ?

श्रीअरविंद—किस बारे में ?

शिष्य—कि मैं विचारों को अस्वीकार करने में सफल हुआ।

श्रीअरविंद—(हंसते हुए) मैं कैसे जानूँ ? यह तो तुम्हें कहना चाहिये। मैं तो बस तुम्हारे कथनों पर टिप्पणी कर रहा था।

शिष्य—आप नहीं जानते ? हम तो आपको सर्वज्ञ मानते हैं।

श्रीअरविंद—तुम मुझसे यह जानने की आशा नहीं करते कि मछुआरों ने कितनी मछलियाँ पकड़ीं और उनसे कितना कमाया ? बंबई के लोग मुझसे पूछा करते थे कि क्या रूई का भाव बढ़ेगा, वे घुड़दौड़ के घोड़ों के बारे में, अपने खोये हुए बच्चों के बारे में जानकारी चाहते थे। यह सब जानने का क्या फायदा ? तुम रामकृष्ण द्वारा सुनायी हुई नदी पर चलकर पार करनेवाली संन्यासी की वह कहानी तो जानते ही हो। उन्होंने कहा था कि वह अधन्ने की सिद्धि है ! निःसंदेह, अगर जरूरी हो तो ये बातें जानी जा सकती हैं, एक तरह से मैं इन बातों को जान सकता हूँ लेकिन मैं ऐसी बातों में नहीं लगा रहता। मैंने यह सब माताजी के हाथ में छोड़ दिया है। जो कुछ दूरी पर कहा जाता है वे उसको सुनती हैं, सूक्ष्म लोकों में साधकों से मिलती हैं और उनसे बातचीत करती हैं। हाल की यूरोपीय विपदा में क्या होनेवाला है यह उन्होंने पहले से ही बता दिया था। हमें अपने काम के लिये जो कुछ जानना चाहिये वह हम जान लेते हैं।

शिष्य—मुझे हैरानी इस बात की है कि जब आपसे किसी रोगी का निदान पूछा गया तो आपने मुझे नहीं बतलाया।

श्रीअरविंद—तुम यह आशा क्यों करते हो कि हम तुम्हारा काम कर देंगे ?

शिष्य—यह और बात है, पर आपने कहा था कि आपके अंदर कोई विक्त्सक छिपा हुआ नहीं है इसलिये आप नहीं बतला सकते। मैंने सोचा था कि आप अपने अंतर्भास से जान सकेंगे।

श्रीअरविंद—('क' से) मैंने कहा था कि हमें जो जानना चाहिये वह हम जान लेते हैं, लेकिन यह जानना हमेशा अच्छा नहीं होता। उदाहरण के लिये अगर मैं जान लूँ कि कोई चीज होनेवाली है तो मैं उसके साथ बंध जाता हूँ और अगर वह ऐसी चीज हो जिसे मैं नहीं चाहता फिर भी मैं उसे स्वीकार करने के लिये बाधित

होता हूँ और यह चीज किसी अन्य या ज्यादा बड़ी संभावना को आने से रोकने है। इसलिये मैं अपने-आपको स्वतंत्र रखना और विभिन्न संभावनाओं के साथ व्यवहार कर सकना चाहता हूँ। अतिमानस के नीचे सब कुछ संभावनाओं का प्रश्न है, इसलिये अगर मैं अपने-आपको मुक्त रखूँ तो जिसे चाहूँ स्वीकार या अस्वीकार कर सकता हूँ। नियति कोई बंधी हुई चीज नहीं है। यह शक्तियों का सम्मिश्रण है जिसे बदला जा सकता है।

शिष्य—वस्तु को जाने बिना आदमी काम कैसे कर सकता है ? यह जानने के बाद कि क्या होगा क्या मनुष्य उसे रद्द नहीं कर सकता ?

श्रीअरविंद—ज्ञान अंतर्भास से आता है। तुम उसे रद्द कर सकते हो पर परिणाम निश्चित नहीं होता, यद्यपि असफलता बाद की सफलता का मार्ग दिखा सकती है।

शिष्य—आपने अगस्त की एक बातचीत में कहा था कि आपने स्वाभाविक प्रक्रिया से तो मृत्यु पर विजय पा ली है लेकिन दुर्घटना पर आपका अधिकार नहीं है।

श्रीअरविंद—कहां ? मैंने क्या कहा था ?

शिष्य—जहांतक मुझे याद है, आपने मुझे लिखा था कि बीमारियां आप के जीवन को समाप्त नहीं कर सकतीं, परंतु अभी तक आपका दुर्घटनाओं पर अधिकार नहीं है।

श्रीअरविंद—ओह ! साधारणतः बीमारियां लंबे समय तक चलती हैं और इस कारण उनपर क्रिया करने के लिये समय मिल जाता है, लेकिन अगर अचानक कोई गंभीर रोग हो जाये जो जीवन को समाप्त कर सकता है तब उसपर विजय संभव नहीं होती। रही बात दुर्घटनाओं की तो शरीर की अपनी चेतना होती है और सदा चौकन्नी रहती है, लेकिन अगर मन और चीजों में लगा हो तो दुर्घटना अनजाने में तुम्हें पकड़ लेती है। रही बात हिंसा की, उदाहरण के लिये दंगे के समय अपने-आपको बचाने के लिये मुझे चार पांच दिन एकाग्र रहना पड़ेगा।

विरोधी शक्तियों ने कई बार दर्शन को रोकने की कोशिश की है पर मैं इन सब आक्रमणों को रोकने में सफल हो सका। इस बार मैं माताजी की रक्षा करने में अधिक व्यस्त था और अपने बारे में भूल गया। मैंने यह नहीं सोचा था कि वे

अगस्त १९११

मेरे ऊपर आक्रमण कर सकती हैं। यह मेरी भूल थी। आश्रम के बारे में मैं बहुत सफल हुआ हूँ लेकिन जब मैंने संसार पर कार्य करने की कोशिश की तो परिणाम अलग-अलग हुए हैं। स्पेन में मुझे अच्छी सफलता मिली। काम करने के लिये बनरल मिआका एक बहुत अच्छा उपकरण था। शक्ति की क्रिया उपकरण पर निर्भर करती है। बास्क एकदम असफल रहा। नीगस अपने-आपमें अच्छा उपकरण था, लेकिन उसके चारों ओर के लोग अच्छे सैनिक तो थे पर बहुत अधिक अव्यवस्थित और गलत तरीके से व्यस्त थे। मिस्र सफल नहीं रहा। आयरलैंड और तुर्की बहुत सफल रहे। आयरलैंड में मैंने ठीक वही किया जो बंगाल में करना चाहता था। तुर्क बहुत ज्यादा चुपचाप जाति है।

शिष्य—चीन और जापान के युद्ध के बारे में आपका क्या ख्याल है ?

श्रीअरविंद—दोनों दलों में किसी को भी मैं बहुत ऊंचा स्थान नहीं देता। वे नागनाथ और सांपनाथ के जैसे हैं। दोनों बहुत ज्यादा जड़वादी हैं, लेकिन अगर मुझे चुनाव करना हो तो मैं जापान को चुनूंगा। एक समय जापान में आदर्श था। उनकी आत्म-बलिदान, देश-भक्ति, आत्म-त्याग और मौन की क्षमताएं सराहनीय हैं। वे कभी किसी के सामने आपे से बाहर नहीं होते। अगर किसी जापानी के आत्मसम्मान को चोट लगे तो वह छुरी चला सकता है लेकिन अपना आत्म-नियंत्रण नहीं खो सकता। वे इतने गुप्त रूप से चुपचाप काम कर सकते हैं कि रूस और जापान का युद्ध शुरू होने से पहले किसी को कानोंकान उसकी तैयारी के बारे में पता न लगा। अचानक उन्होंने हमला बोल दिया। वे क्षत्रिय हैं, उनके सौंदर्य-प्रेम के बारे में तो सभी जानते हैं।

लेकिन यूरोपीय प्रभाव ने यह सब बिगाड़ दिया। अब वे बहुत ज्यादा जड़वादी हैं। अब वे कितने क्रूर और पाशविक बन गये हैं; यह जापानी स्वभाव नहीं है।

देखो, यूरोपीय अफसरों को थप्पड़ मारते हुए जापानी सिपाही को—यद्यपि वे उसके योग्य हैं, जापानी कमांडर को जो चियांग काई शेक को खुले मैदान में आने की चुनौती देता है, जापानी लोगों को जो अपने राजनेताओं पर आक्रमण करते हैं—यह सब अकल्पनीय है। इस प्रकार की अकड़ जापानी स्वभाव की चीज नहीं है। पुराने जमाने में जापानी लोग लड़ाई के समय भी अपने साथ लड़नेवालों के लिये सहानुभूति रखते थे।

शिष्य—लेकिन पाशविकता के बिना (निर्दोष नागरिकों को मारे बिना) लड़ने में विजय पाना कठिन होगा।

श्रीअरविंद—भगवान् जाने। वे ऐसे अच्छे योद्धा हैं और वह ऐसी देशप्रेम और आत्मत्यागी जाति है कि इसके विरुद्ध विश्वास करने को जी नहीं चाहता। लेकिन संभवतः वे ऐसी चीजें इन दो कारणों से कर रहे हैं। (१) आर्थिक कमी जिस पर बहुत विश्वास नहीं होता, क्योंकि उनमें आत्म-बलिदान की बहुत क्षमता है। (२) चीन की आबादी।

शिष्य—और चीन को मिलनेवाली विदेशी सहायता, जैसे—सोवियत की सहायता ?

श्रीअरविंद—यह एक संभावना तो है परंतु सोवियत की आंतरिक अवस्था ऐसी है कि वह बाहरवालों की अधिक सहायता करने की सोच भी नहीं सकता।

शिष्य—और भारत की स्वाधीनता के बारे में ? क्या वह आपके बताये हुए मार्ग पर बढ़ रहा है ?

श्रीअरविंद—हर्गिज नहीं ! अब भारत यूरोपीय समाजवाद की ओर बढ़ रहा है, यह उसके लिये खतरनाक है; जब कि हम जाति की सच्ची प्रतिभा को भारतीयता के मार्ग पर उभारने और सब मिलकर स्वाधीनता के लिये काम करने की कोशिश कर रहे थे।

बंगाल के मामले को ही ले लो। थोड़े ही समय में समस्त जाति उठ खड़ी हुई थी। जो लोग ऐसे भीरु थे कि रिवाल्वर को देखते ही थर्रा उठते थे, थोड़े समय में इतने बदल गये थे कि पुलिसवाले उन्हें 'उद्धत वारीसाल' कहने लगे। जाति की आत्मा उठ खड़ी हुई थी जिसने बहुत अच्छे व्यक्तित्व प्रकट किये। इस आंदोलन के नेता योगी या योगियों के शिष्य थे। उदाहरण के लिये विजय गोस्वामी के शिष्य मनोरंजन गुहा ठाकुरता।

शिष्य—क्या वे राष्ट्रवादी थे ?

श्रीअरविंद—हे भगवान्। वह तो मेरा सहकर्मि था। उसने गुप्त समिति में भी भाग लिया था। फिर ब्रह्म बांधव उपाध्याय और अन्य भी थे। रामकृष्ण और विवेकानंद ने पीछे से प्रभाव डाला था। गुप्त समिति का आंदोलन इतना मजबूत हो गया कि अगर कोई और देश होता जिसका राजनीतिक भूतकाल रहा होता तो

वह शायद फ्रांसीसी क्रांति जैसी चीज की ओर ले जाता। सारी जाति की नहानुभूति हमारे साथ थी। दुकानदार तक 'युगांतर' पढ़ा करते थे। मैं तुम्हें एक उदाहरण बताता हूँ : श्याम बाजार में एक युवक किसी पुलिस अफसर की हत्या करके भागा जा रहा था, वह हाथ से रिवाल्वर फेंकना भूल गया और वह उसीके हाथ में रह गया। उसे देखते ही एक दुकानदार चिल्ला पड़ा, "रिवाल्वर छिपाओ, रिवाल्वर छिपाओ।" और फिर तुमने जतीन मुखर्जी के पराक्रम भी सुने होंगे।

शिष्य—जी हाँ।

श्रीअरविंद—एक अद्भुत आदमी था। वह ऐसा आदमी था जो मानवजाति के प्रथम पंक्ति में आ सकता था। मैंने ऐसा सौंदर्य और बल एक साथ नहीं देखा, उसका डीलडौल योद्धा का सा था।

१५ दिसंबर १९३८

शिष्य—आपने मुझे बताया था कि डा० 'ह' मानसिक अंतर्भास का उपयोग करता है, तो फिर अंतर्भास के अलग-अलग स्तर होंगे।

श्रीअरविंद—मानसिक अंतर्भास से मेरा मतलब है ऐसा अंतर्भास जो ऊपर से आता है। मन के बारे में घालमेल न करो। मैं यह नहीं कहता कि मानसिक अंतर्भास ठीक नहीं होता, परंतु वह मिश्रण के कारण हमेशा सीमित होता है। प्राणिक अंतर्भास भी होता है जो प्रायः व्यक्ति की कामनाओं के साथ घुलमिल जाता है।

शिष्य—अंतर्भास को कैसे पाया जाये ? मन की निश्चलता द्वारा ?

श्रीअरविंद—निश्चलता पर्याप्त नहीं है, मन नीरव होना चाहिये।

शिष्य—तब तो इसमें बड़ा समय लगेगा।

श्रीअरविंद—कहा नहीं जा सकता। कम समय भी लग सकता है और अधिक भी।

शिष्य—परंतु उस नीरव-निश्चलता को बनाये रखना तबतक संभव न होगा जबतक आदमी आत्मा का अनुभव न कर ले।

श्रीअरविंद—तुम अपने मन को नीरव रहने के लिये प्रशिक्षित कर सकते हो।

(डा० 'क' चले गये और माताजी ध्यानस्थ हो गयीं, हमने भी प्रयास किया।)

सात के लगभग माताजी बाहर चली गयीं और हम सब श्रीअरविंद के चांगों में इकट्ठे हो गये। श्रीअरविंद ने दो एक बार 'म' पर नजर डाली।

शिष्य—आज 'म' खिल रहा है।

दूसरा शिष्य—मैं अच्छी तरह ध्यान न कर पाया, देव। मेरी कमर में दर्द है। लेकिन मेरी पीठ में कुछ स्पंदन हुआ और मुझे उल्लास का अनुभव हुआ।

शिष्य—तो शायद वह कुण्डलिनी होगी।

दूसरा शिष्य—मैं नहीं मानता। देव, क्या यह स्पंदन उच्चतर शक्ति है?

श्रीअरविंद—हां। शायद वह तुम्हारे कमर के दर्द को ठीक करने की कोशिश कर रहा था और उसका पहला निशान था दर्द का जरा बढ़ जाना। (हम सब हस पड़े।) तुम्हें कुण्डलिनी पर विश्वास नहीं है?

शिष्य—नहीं, देव।

श्रीअरविंद—लेकिन तुम मुझे अपने 'आरोहण' और 'अवरोहण' के अनुभव के बारे में बतला रहे थे।

शिष्य—क्या वह कुण्डलिनी है? मुझे पता न था। (हंसी) लेकिन कुण्डलिनी तो हमारे योग-मार्ग में नहीं है और आपने उसका कहीं भी संकेत नहीं किया है।

दूसरा शिष्य—हां, उन्होंने 'योग प्रदीप्तियां' में जिक्र किया है।

श्रीअरविंद—हां, कुण्डलिनी वैसे है तो तांत्रिक विचार : मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति जागती है, ऊपर उठती है और सब चक्रों को खोलते हुए चेतना को ऊपर ब्रह्म-रंध तक ले जाती है और वहां ब्रह्म से मिलती है और वहां से अवरोहण शुरू होता है। तांत्रिक प्रक्रिया अधिक तकनीकी है।

कुछ लोगों में शक्ति की क्रिया को देखकर आश्चर्य होता है। कुछ लोगों को लगता है कि उनके मस्तिष्क में बरमा चल रहा है। कुछ लोग शक्ति को अंदर नहीं रख सकते। वे दायें-बायें झूलते और अजीब-सी आवाजें करते रहते हैं। मुझे एक आदमी की याद है जो कठोर प्राणायाम किया करता था और भयंकर आवाजें निकालता था। मैंने उसके अच्छे परिणाम पाने के बारे में कुछ नहीं सुना। कभी-कभी शक्ति उन चीजों को ऊपर उठा देती है जो निचली चेतना में पड़े रहती हैं ताकि उनके साथ काम कर सके।

(क्रमशः)

ज्वालापुर

सोसायटी समाचार

६ फरवरी १९९३ एक महत्वपूर्ण दिन होगा। ठीक एक सौ वर्ष पहले इसी दिन सन् ११ बजे के आसपास श्रीअरविंद ने भारत-भूमि में पदार्पण किया था बंबई के अपोलो बंदर में। इससे पहले १४ वर्ष उन्होंने इंग्लैंड में बिताये थे, जहां उनके पिता ने उन्हें सात वर्ष की आयु में पढ़ने के लिये भेजा था। भारत में पदार्पण के साथ ही एक शांति ने उन्हें घेर लिया, मानों भारत माता दिव्य ज्ञानी के वाहक अपने लाल का स्वागत कर रही थी। इस शताब्दी का विशेष महत्व है।

आश्रम के मैनेजिंग ट्रस्टी द्युमन भाई की इच्छा है कि इस अवसर को समुचित रूप से मनाया जाये। जो लोग बंबई के आसपास हों वे उस मुहूर्त की स्मृति में अपोलो बंदर की यात्रा करें। सभी देशों और प्रदेशों के लोग श्रीअरविंद के संदेश को जीवित-जाग्रत् रूप में फैलाने की कोशिश करें।

द्युमन भाई आशा करते हैं कि गुजरात इस शताब्दी को समुचित ढंग से मनायेगा। इस पावन अवसर पर श्री रणधीर उपाध्याय ने गुजराती में लगभग साढ़े चार सौ पृष्ठों की एक पुस्तक “बडोदरा मा पावन पगलां” तैयार की है जिसमें श्रीअरविंद की गुजरात की १३ वर्षों की कहानी है।

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि १९९३ में आश्रम विद्यालय की स्वर्ण जयंती होगी और ओरोवील की रजत-जयंती। यह स्वामी विवेकानंद के अमरीका जाकर भारत का संदेश सुनाने की भी शताब्दी है और गांधीजी के अफ्रीका जाने की भी।

घोषणा

श्रीअरविंद सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन पांडिचेरी में १२, १३, १४ अगस्त को होगा।

सावित्री-शिविर

ज्वालापुर (हरद्वार) में श्री अश्विन कापड़िया श्रीअरविंद योग-मंदिर में सावित्री

के बारे में ९ से १५ सितंबर तक भाषण देंगे। जो इसमें भाग लेना चाहें वे श्री शिवकुमार खेतान, योग-मंदिर ज्वालापुर को २८-८-९१ तक सूचना दे दें। भोजन और आवास की निःशुल्क व्यवस्था रहेगी।

कलकत्ते में प्रो. नादकर्णी एक से छह नवंबर तक सावित्री-शिविर आयोजन करेंगे। विशेष जानकारी के लिये श्रीअरविंद भवन, शेक्सपियर सरीणी, कलकत्ता-७०००७१ को लिखें।

पांडिचेरी में प्रो. नादकर्णी सावित्री के बारे में श्रीअरविंद सोसायटी ऑफिस में अपना भाषण जारी रखेंगे। इसमें भाग लेने वालों के लिये अंग्रेज-भारती कार्यालय में निःशुल्क आवास की व्यवस्था हो सकती है। यह शिविर माताजी की महासमाधि के अवसर पर ही हुआ करता है। इसमें आनेवाले १३ नवंबर, २० नवंबर, २४ नवंबर के दर्शनों का भी लाभ उठा सकते हैं।

पाठक जानते ही हैं कि देश में चीजों के दाम बेतहाशा बढ़ रहे हैं। अग्निशिखा, पुरोधा भी कोई अपवाद नहीं हैं। अब भी उनपर जो खर्च आता है वह उनसे मिलनेवाले चन्दे की अपेक्षा बहुत ज्यादा होता है, और अब नये बजट के साथ सम्भवतः खर्च और भी ज्यादा बढ़ जायेगा। क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे ग्रहाक और पाठक हमारी कठिनाई को समझते हुए अपनी ओर से ही यथासंभव अधिक चन्दा भेजना शुरू करेंगे।

इसी तरह आजीवन सदस्यता का शुल्क भी हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम है। क्या हम आशा करें कि आजीवन सदस्य भी हमारी सहायता करने के लिये तत्पर रहेंगे।

O Lord, awaken in me an ardent desire to know Thee. I
aspire that my life may be consecrated to Thy service.
The Mother

Space donated by

**Kooverji Devshi & Co.,
Pvt. Ltd.**

**FIREX LEADS TO SAFETY
SAFETY LEADS TO PROSPERITY**

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

मुम्बुनू (राजस्थान)-३३३ ००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील हैं। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवं शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर-२४७००१

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

सितम्बर १९९१

पुस्तकालय
श्री ८८

411071

अग्निशिखा नि

संदेश
'संपादकीय'
दैनिकी
'साम्य-वार्ता'
विचारमाला
सुष्ट वचन
सोसायटी के

प्रेस की
नहीं जा स

अग्निशिखा

संपादक :
प्रकाशक :
मुद्रक : अ

अग्निशिखा सितंबर १९९१

वर्ष २२, अंक २, पूर्णांक २५४

विषय-सूची

संदेश	श्रीमां	२
'संपादकीय' : अग्नि और डमरू	अनुबेन	३
दैनन्दिनी		६
'साम्य-वार्ताएं' (गतांक से आगे)		९
विचारमाला और सूत्रावली	श्रीअरविंद	३५
सुष्ठु वचन	श्रीअरविंद	३७
सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन की सूचना		३८

प्रेस की कुछ कठिनाइयों की वजह से सितंबर ९१ का अंक समय पर नहीं जा सका, इसका हमें खेद है।

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



उद्बुध्यस्वामे प्रति जागृहि

संदेश

We must decide to get rid of all doubts, they are among the worst enemies of our progress.

With my blessings.

The Mother

हमें सभी संदेहों से पिड छुड़ाने का निश्चय कर लेना चाहिये, व हमारी प्रगति के सब से बुरे शत्रुओं में से हैं।

मेरे आशीर्वाद सहित।

—श्रीम

संपादकीय

एक समय
इतना देदीप्य
इस समय
कोणार्क के
की चरम प
मूर्त रूप वि
उल्लास अं
प्रकृति की
अधिक प्र
बलिष्ठ गज
निगाह से
शिल्प द्वारा
और हाथी
चाहता है
अपर अप
है, उनका
दौलत के
मनीषी पूर्व
है?
वर्तमान
मध्ययुग मे
इस समय
मैं इन
कि अचान

संपादकीय

अग्नि और डमरू

एक समय था जब भारत की समृद्धि, अस्मिता और रस तथा कला का उत्कर्ष इतना देदीप्यमान था कि सारा संसार उसकी ओर अहोभाव से निहारता था। इस समय उड़ीसा का अमर मंदिर कोणार्क स्मृति-पटल पर कौंध जाता है। कोणार्क के निर्माता अदम्य साहसी थे। उनमें काव्य, सौंदर्यबोध, शिल्पशास्त्र की चरम परिणति दीखती है, कल्पना की बेजोड़ लीला से उन्होंने अमूर्त को भी मूर्त रूप दिया है। कोणार्क है जीवन का संगीत, जीवन का नृत्य, जीवन का उल्लास और अमूर्त विचारों का मूर्तिमान चित्र और उसके पशु-पक्षी मानों प्रकृति की सृष्टि से होड़ कर रहे हैं। इस समय एक शिल्प-पहेली मुझे सबसे अधिक प्रभावित कर रही है। उस शिल्प में एक सुन्दर केसरी के ऊपर एक बलिष्ठ गजराज खड़े हैं और उस गज के ऊपर बैठा है एक मनुष्य ! सरसरी निगाह से देखें तो यह केवल एक अजूबा लगता है, किंतु शिल्पकार ने इस शिल्प द्वारा एक मूल्यवान् सीख दी है। उसने शेर को बल का प्रतीक बनाया है और हाथी को धन-दौलत का; मनुष्य को सबसे ऊपर बिठाकर वह यह कहना चाहता है कि सच्चा मनुष्य वही है जो बल और धन-संपदा का स्वामी हो, जो ऊपर अपना अधिकार जमा पाये। जो मनुष्य इन्हें पाकर उनका दास बन जाता है, उनका स्वामी नहीं, वह मनुष्य नहीं। मनुष्यत्व अधिकार-लिप्सा और धन-दौलत के आकर्षण से परे जाने में है। यह सीख तेरहवीं सदी में हमारे किसी मनीषी पूर्वज ने हमें दी थी। आज उनकी परिभाषा के अनुसार कोई मनुष्य है?

वर्तमान समय शायद भारत का सबसे अंधकारमय काल है। यूरोप में मध्ययुग में जैसा पश्चिमी संस्कृति का पतन हुआ था, कुछ-कुछ ऐसा ही पतन इस समय भारत का हो रहा है।

मैं इन विचारों में डूबती-उतराती शहर की मुख्य सड़क पर से जा रही थी कि अचानक मेरी नजर सामने से गुजरती हुई एक युवती पर पड़ी। उसकी

चाल फुर्तीली थी, उसके चेहरे पर दृढ़ आत्म-विश्वास था और चारों ओर का भीड़ में से वह बेझिझक अपनी साइकिल को निकाल रही थी। मेरी विचार-शृंखला टूट गयी। मैंने अपने चारों ओर नजर दौड़ाई। नवभारत के युवा दृढ़ता, आत्मविश्वास और अदम्य उत्साह लिये चारों ओर घूम रहे थे।

मैंने उत्साह से, बारीकी से देखना शुरू किया। सड़क पर छोटे-छोटे पेड़ लगे थे, दो रास्तों के बीच, फूलों की प्यारी-प्यारी क्यारियां थीं। मैंने अपने मन से कहा, दस बरस पहले यह सड़क न इतनी साफ-सुथरी थी न इसपर फूलों की क्यारियां मुस्कुरा रही थीं और न दोनों ओर पेड़ ही लगे थे। तब तो सड़क के दोनों ओर छोटे-छोटे घूरे बने रहते थे और दो सड़कों के बीच पत्थर, कंकड़ का जमाव ! मेरा मन कहने लगा, “देखो, एक ओर राजनीतिक हत्याएं हो रही हैं, घूसखोरी का हाथ गरम है, नैतिक मूल्य डगमगा रहे हैं और जनता में अविश्वास, भय और अनिश्चितता फैले हुए हैं तो इस पतन के साथ-साथ उस क्षण नवनिर्माण के चिह्न भी स्पष्ट दीखते हैं; हैं न सच ?”

मेरे सामने नटराज की रहस्यमयी और सुन्दर मूर्ति प्रकट हो गयी। सच, अगर उनके एक हाथ में अग्नि की ज्वाला है तो दूसरे हाथ में डमरू है। अग्नि विनाश करती है तो डमरू का नाद नयी सृष्टि को पुकारता है। कल्याणकारी शिव आनंद के उल्लास में नृत्य का सृजन करते हैं तो साथ-साथ ‘मलय’ नामक असुर को अपने नृत्यरत चरणों से कुचल भी रहे हैं। मैंने इस रहस्य को खोलने के लिये औढ़रदानी को झुककर नमन किया।

अब हमें भारत के भविष्य के लिये निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर धोखाधड़ी है तो साथ-साथ साहसी युवक-युवतियां भी हैं जो निष्ठ को अपनाते हैं। नवभारत के ये नये नागरिक भारतभूमि को यशस्वी, ओजमं बनाने की दम लेंगे।

इस समय कविवर दिनकर के ‘हिमालय का संदेश’ को याद करते हैं अपने मन को सांत्वना देती हूं :

साधना इस व्रत की भारी।

पग-पग पर हिंसा की ज्वाला, चारों ओर गरल है।

सितंबर १९९१

मन को बांध शांति का पालन करना नहीं सरल है ।
 तब भी जो नर-वीर असिब्रत दारुण पाल सकेंगे,
 वसुधा को विष के विवर्त से वही निकाल सकेंगे ।
 तब उतरेगी शांति, मनुज का मन जब कोमल होगा,
 जहां आज है गरल, वहां शीतल गंगाजल होगा ।
 धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो ।

शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है,
 नहीं धर्म से बढ़कर कोई मित्र सभ्यता का है ।
 शांति चाहते हो तो पहले सुमति शून्य से मांगो,
 नवयुग के प्राणियो ! ऊर्ध्वमुख जागो, जागो, जागो ।
 धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो ।

और वह धर्म है अपनी उच्चतर अभीप्सा को मूर्तरूप देने का प्रयास ।
 पूजा-पाठ, आरती, भजन-कीर्तन केवल दिखावे के लिये हों तो वह धर्म नहीं है ।

—अनुबेन



यदि ऐसी चीजें हों जो रूपांतरित होना एकदम अस्वीकार करती हों अथवा संशोधित होकर भगवान् की अधिक पूर्ण प्रतिमा बनने से इंकार करती हों तो हृदय में कोमलता, पर प्रहार में निष्ठुरता रखकर उनका विनाश किया जा सकता है । परंतु सबसे पहले इस विषय में निःसंदिग्ध हो जा कि भगवान् ने ही तुझे तेरी तलवार और तेरा कार्य प्रदान किया है ।

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

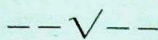
सितम्बर

१. भूत के सांचों को तोड़ दो परंतु उसकी प्रतिभा और भावना को संभाल कर रखो अन्यथा तुम्हारा कोई भविष्य न होगा।
२. एक स्पर्श नियति के दृढ़ चेहरे को बदल सकता है।
३. हर ठोकर और हर पतन का कुछ प्रयोजन होता है।
४. मनुष्य के अंदर संसार की संभावनाएं उसी तरह प्रतीक्षा कर रही हैं जैसे पेड़ बीज में प्रतीक्षा करता है।
५. निष्क्रियता का प्रेम मूर्खता है और निष्क्रियता की घृणा भी मूर्खता है। निष्क्रिय कुछ है ही नहीं। रेत पर पड़ा हुआ जड़-पत्थर, जिसे किन सोचे-समझे ठुकरा दिया जाता है, वह सारे गोलार्द्ध पर अपना प्रभाव डालता रहा है।
६. जीवन का लक्ष्य है अंतरात्मा का विकास, समय की या निकट भविष्य की बाहरी सफलता नहीं।
७. धरती के पंखदार ख-पुष्प स्वर्ग में सत्य के अश्व हैं। असंभव होनेवाली चीजों के बारे में भगवान् का संकेत है।
८. प्रार्थना, महान् क्रिया और राजोचित विचार—मनुष्य के बल को पराक्रम शक्ति के साथ जोड़ सकते हैं।
९. जहां सब कुछ प्रकाश और प्रेम हो वहां अन्याय और भ्रांति नहीं फैल सकते।
१०. मनुष्य की अंतरात्मा उसकी नियति से अधिक महान् है।
११. सत्य तभी जाना जाता है जब सब कुछ दिखलायी दे जाये।
१२. जीवन के पीछे और उसके भीतर एक नीरवता होती है, और इसी अधिक गुप्त रहस्य में, सहारा देनेवाली नीरवता में हम भगवान् की वाणी सत्य से सुन सकते हैं।
१३. सुन्दरता उसके चरण-चिह्न हैं जो हमें बतलाते हैं कि वह किधर से गुज़र है। समस्त संगीत उसीके हास्य की आवाज है।

सितंबर १९९१

१४. हे कवि, हे कलाकार . . . तुझे प्रकृति की गुप्त आत्मा को पकड़ना होगा, तुझे शाश्वत प्रतीक में सत्य को हमेशा खोजते रहना पड़ेगा। कोई भी दर्पण न तुझे पकड़ सकेगा न उसे जिसे तू ढूँढ़ रहा है।
१५. अधिक-से-अधिक विस्तृत क्षितिजों से भी अधिक विस्तृत होओ, उच्चतम कंचनजंगा से भी अधिक ऊँचे और अधिक-से-अधिक गहरे सागर से भी बढ़कर गहरे बनो।
१६. साहस और प्रेम ही अनिवार्य गुण हैं। चाहे और सबको ग्रहण लग जाये या वे सो जायें तो भी ये दो अंतरात्मा को जीवित बचा लेंगे।
१७. समता है सभी परिस्थितियों में अविचलित रहना।
१८. तेरे गुण ऐसे न हों जिनकी लोग प्रशंसा करते या जिनपर पुरस्कार देते हैं। गुण ऐसे हों जो तेरी पूर्णता लाते हैं, तेरी प्रकृति में भगवान् जिनकी मांग करते हैं।
१९. भगवान् के प्रभाव को छोड़कर और किसी प्रभाव को स्वीकार न करना ही शुद्धि है।
२०. जो अंतरात्मा अपने साथ अकेली रह सके वही भगवान् से मिलती है।
२१. जगत् जो कुछ दे सकता है वह बहुत ही कम है।
२२. तुम किसी अपरिवर्तनशील क्षुद्रता के लिये नहीं हो; तुम व्यर्थ पुनरावर्तन के लिये नहीं बने थे।
२३. मनुष्य चाहे तो अपनी नियति को स्वीकार करे और चाहे तो अस्वीकार कर दे। अभिभूत करनेवाली नियति पर आत्मा की विजय स्थिर होती है। तेरा लक्ष्य, तेरा चुना हुआ मार्ग ही तेरी नियति है।
२४. प्रकाश, अंतहीन प्रकाश, यहां अंधेरे का स्थान नहीं है।
२५. वह सबसे प्रेम करता है, वह सबको चलाता है, सब उसीके सहारे खड़े हैं। वही सब है।
२६. शाश्वत के साथ एक होकर, उसकी अनंतता में जियो।
२७. अगर तुम संसार में एकता चाहते हो तो पहले अपनी सत्ता के विभिन्न भागों में एकता लाओ।

२८. हमें काम दिये गये हैं, हम केवल उपकरण हैं। हम जो बनाते हैं उसे कुछ भी हमारा अपना नहीं है।
२९. जीवन के उन सभी रूपों को, जो परिवर्तन नहीं सह सकते, लुप्त हो जाना चाहिये। जो उसे सह सकते हैं वे सब बचे रहेंगे और आत्म के राज्य में प्रवेश करेंगे।
३०. खोज का और जन्म का कहीं कोई अंत नहीं है। जो जीवन अपने लक्ष्य को पा लेता है वह और बड़े लक्ष्यों की मांग करता है। जबतक कि वह अपने-आपको न पा ले, वह रुक नहीं सकता।



भागवत प्रेम एक साथ द्विविध क्रीड़ा करता है—उसकी एक तो विश्वव्यापी गति, पाताल के समुद्र की तरह गभीर, शांत और अतल होती है, जो समग्र जगत् के ऊपर तथा उसके अंदर की प्रत्येक चीज के ऊपर झुकी रहती है मानों किसी समतल भूमि पर एक समान दबाव डालकर झुकी हुई हो, और दूसरी शाश्वत गति जो उसी समुद्र की नर्तनकारी सतह की तरह शक्तिशाली, तीव्र और आनंदपूर्ण होती है जो अपनी तरंगों के बल और पराक्रम को बदलती रहती है तथा उन वस्तुओं को चुनती है जिनपर वह अपने फेन और फुहार के चुंबन देती हुई तथा अपने सर्वाविगाही जल से आलिंगन करती हुई गिरना चाहती है।

—श्रीआरविंद

सांध्य वार्ताएं

(गतांक से आगे)

१८ दिसम्बर १९३३ (शाम के ४.३० बजे)

शिष्य—('हिन्दू' में स्वामी निखिलानन्द का एक लेख छपा था।) आश्चर्य की बात है कि स्वामी निखिलानन्द ने आपके बारे में लिखा है।

श्रीअरविंद—निष्ठा (मिस विलसन) ने इस लेख को छपवाया है। उसके यहां आने से पहले उसने उन्हें यह भेजा था। यह अजीब बात है कि ये लोग हर चीज को अमरीकन मोड़ कैसे दे देते हैं।

शिष्य—यह कैसी बात है, ऐसा लगता है कि अमरीकन लोग ज्यादा खुले हुए हैं ?

श्रीअरविंद—हां, क्योंकि वे एक नयी जाति हैं और उन्हें बांधने के लिये उनके पीछे कोई परंपरा नहीं है। फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया भी खुले हैं। वहां से बहुत-से लोग योग करने के बारे में लिख रहे हैं।

शिष्य—यहां आने से पहले निष्ठा का आपके साथ पत्र-व्यवहार था ?

श्रीअरविंद—हां। तीन-चार वर्ष पहले से वह हमारे संपर्क में थी। योग के बारे में उसके बहुत स्पष्ट विचार हैं और वह उनपर अभ्यास कर रही है। (इसी समय 'क' आ गया और बोला, इस बार दर्शन नहीं हुआ इसलिये वह बहुत निराश हुई होगी।)

श्रीअरविंद—नहीं, औरों से भिन्न उसने इसे उचित यौगिक मनोवृत्ति में लिया है।

फिर 'क' ने पूछा कि यह कैसी बात है कि यहां एक भी महाराष्ट्री नहीं है जब कि आपका तिलक के साथ इतना घनिष्ठ संबंध था और आप लंबे समय तक वड़ौदा में भी रहे।

श्रीअरविंद—हां, यह अजीब बात है। वे अपने स्वभाव में अधिक प्राणमय हैं। यहां बंगाली, गुजराती और तमिल लोग अधिक हैं। अब मध्य प्रांत, पंजाब, बिहार आदि में भी प्रसार हो रहा है।

नवम्बर १९३८ के दर्शन के अवसर पर ही श्रीअरविंद के पैर की हड्डी टूट गयी थी और दर्शन नहीं हुआ।

(इसके बाद बातचीत अतिमानस के बारे में चल पड़ी)

शिष्य—मैं आशा करता हूँ कि हम अतिमानस के अवतरण के यत्न दिन को देखने के लिये बने रहेंगे। देव, उसका अवतरण कब होगा ?

श्रीअरविंद—(कुछ समय चुप रहकर) वह कैसे उतर सकता है ? जितना नजदीक आता है, उसके विरुद्ध प्रतिरोध उतना ही बढ़ता जाता है।

शिष्य—इसके विपरीत गुरुत्वाकर्षण के नियम को उसे नीचे खींच लाना चाहिये।

श्रीअरविंद—यह नियम उसपर लागू नहीं होता, उसमें आकाशगामी होती है और इसके बावजूद अगर वह नीचे उतरता है तो भयंकर प्रतिरोध सामना करके।

शिष्य—क्या आपने अतिमानस की सिद्धि पा ली है ?

श्रीअरविंद—तुम जानते हो कि मैं 'ख' से अतिमानस की पूँछ की बात कर रहा था। मैं जानता हूँ कि वह क्या है। मुझे उसकी झाँकियाँ और आभा मिलते हैं। मैं अधिमानस को अतिमानसभावापन्न करने की कोशिश कर रहा हूँ। इसका यह मतलब नहीं है कि अतिमानस काम नहीं कर रहा। वह अधिमानस और अंतर्भास द्वारा काम कर रहा है और बीच की शक्तियाँ नीचे उतर आयी हैं। अतिमानस अधिमानस के ऊपर है (उन्होंने एक हथेली दूसरी पर रखकर इशारा किया) इसलिये एक को दूसरा समझ लिया गया। मुझे उस दिन की याद है जब यहाँ पर लोगों ने उसे पा लेने का दावा किया था। शुरू-शुरू में मैंने भी इस विषय में भूल की थी, जब मैं विभिन्न स्तरों के बारे में नहीं जानता था। विवेकानन्द मेरे पास अलीपुर जेल में आया करते थे और उन्होंने मुझे अंतर्भास के स्तर के बारे में दो-तीन सप्ताह तक प्रशिक्षण दिया था। उसके बाद मैं और भी ऊँचे लोकों को देखने लगा। मैं अतिमानस के केवल एक भाग या उसकी एक झलक से संतुष्ट नहीं हूँ; मैं सारे के सारे अतिमानस को नीचे उतार लाना चाहता हूँ और यह बहुत ही कठिन काम है।

शिष्य—हमने सुना है कि शुरू-शुरू में अतिमानस कुछ चुने हुए लोगों को मिलेगा।

सितंबर १९९१

श्रीअरविंद—(आंखों से विशेष संकेत-सा करते हुए) किसके द्वारा चुने हुए ?

शिष्य—देव, स्वयं अतिमानस द्वारा ?

श्रीअरविंद—(हंसते हुए) ओह, यह निर्णय तो अतिमानस को करना होगा। वह वही करेगा जो 'सत्य' होगा क्योंकि अतिमानस सत्य-चेतना है और वही वस्तुओं को अपने मार्ग पर व्यवस्थित करती है, इससे अचंचलता आदि के गायब हो जाने के बारे में तुम्हारी शिकायत दूर हो जायेगी, क्योंकि उन सब की अतिमानस द्वारा प्रतिष्ठा होगी।

शिष्य—क्या अतिमानस का अवतरण हमारे लिये चीजों को ज्यादा आसान बना देगा ?

श्रीअरविंद—हां, उनके लिये जो अतिमानस को ग्रहण करेंगे; जो उसके प्रति खुलें होंगे; उदाहरण के लिये, अगर तीस-चालीस आदमी तैयार हों तो वह उतर सकता है।

शिष्य—आपने १९३४ में कहा था कि अतिमानस उतरने के लिये तैयार था, लेकिन एक भी साधक उसे ग्रहण करने के लिये तैयार न था। इसलिये वह वापिस चला गया। लेकिन आपने एक और बार मुझसे कहा था कि अतिमानस का अवतरण साधकों की तैयारी पर निर्भर नहीं करता।

श्रीअरविंद—अगर कोई भी ग्रहण करने के लिये तैयार न हो तो अतिमानस अपने-आपको कैसे अभिव्यक्त करेगा ? लेकिन अतिमानस के बारे में सोचने से पहले तुम्हें अपने-आपको अंतर्भास के प्रति खोलना चाहिए।

(उसी समय माताजी भी आ गयीं और उन्होंने पूछा कि किस विषय में बातचीत चल रही है।)

श्रीअरविंद—अंतर्भास इत्यादि के बारे में।

(माताजी ध्यान में चली गयीं और हम सब भी ध्यान करने लगे। उसके बाद सात बजे माताजी चली गयीं।)

श्रीअरविंद—क्या तुममें से किसी को 'स' के बारे में पता है ? मैं यह जानने के लिये उत्सुक हूं कि उसके शरीर से बूंद-बूंद करके रक्त कैसे चू रहा था।

तब बातचीत 'स' और 'न' का उदाहरण देते हुए मृत्यु के भय के बारे में चल पड़ी कि कैसे ठंड पकड़ लेने के डर से वे अपने शरीर को ढके रहते थे। श्रीअरविंद ने केम्ब्रिज की एक घटना सुनाई, जब वे शारीरिक विकास के बारे में बात कर रहे थे। एक व्यक्ति ने अपना साहस दिखाने के लिये एक के बारे में एक बनियानें उतारनी शुरू कीं और तब पता लगा कि उसके शरीर पर दस-बारह बनियानें थीं !

शिष्य—कुछ लोग हैं जो सोचते हैं कि आश्रम में प्रवेश करते ही व्यक्ति अमर हो जाते हैं ! मृत्यु पर विजय पाने के लिये हमें अपनी चेतना को विकसित करना चाहिये, है न ?

श्रीअरविंद—लोग ऐसा इसलिये सोचते हैं क्योंकि शुरू में काफी लंबे समय तक आश्रम में कोई मृत्यु नहीं हुई। जो मरे भी वे या तो बाहर से आये हुए दर्शक थे या ऐसे लोग थे जो यहाँ से बाहर चले गये थे। शुरू में लोगों में बहुत श्रद्धा थी, लेकिन जैसे-जैसे संख्या बढ़ती गयी, श्रद्धा घटती गयी। लेकिन मृत्यु से हम डरें ही क्यों ?

और फिर योग में डर के लिये कोई स्थान नहीं है। आत्मा अमर है, केवल शरीर का नाश होता है। आत्मा एक जीवन से दूसरे जीवन में चलती रहती है।

शिष्य—हम अपनी आसक्तियों के कारण डरते हैं।

श्रीअरविंद—योग में आसक्तियाँ न होनी चाहियें।

शिष्य—भय को कैसे जीता जाये ?

श्रीअरविंद—मानसिक बल, इच्छा और आध्यात्मिक शक्ति द्वारा। मैं अपने बारे में, मुझे जब कभी डर लगता था तो मैं ठीक वही चीज करता था जिसका मुझे डर हो, अगर उसमें उग्र मृत्यु की संभावना हो तो भी। जब बारीन आतंकवादी आंदोलन में था तो उसे भी बहुत डर लगा करता था, लेकिन वह अपने-आपको वही चीजें करने के लिये बाधित करता था। जब उसे फांसी की सजा सुनायी गयी तो उसने उसे बड़ी खुशी से लिया। फ्रांस के राजा चौथे हेनरी को बहुत शारीरिक भय लगता था, लेकिन अपनी मानसिक इच्छा-शक्ति द्वारा वह अपने-आपको घनघोर युद्ध के बीच में घुसने के लिये बाधित करता था और वह महान् योद्धा कहलाया। नेपोलियन और सीजर में

सितंबर १९९१

कोई डर न था। एक बार जब सीजर अलबानिया में पोम्पी की सेना के विरुद्ध लड़ रहा था तो उसकी सेना का बुरा हाल था। उस समय सीजर इटली में था। वह समुद्र में कूद पड़ा, एक मछुआरे की नौका हथिया ली और उसे सागर में बढ़ चलने का हुकुम दिया। रास्ते में बहुत जोर का तूफान आया। बेचारा मछुआरा बहुत ही आतंकित हो उठा। तब सीजर ने कहा, “तुम डरते क्यों हो? तुम सीजर की नियति को लिये जा रहे हो।”

मुझे याद है एक साधक हिचकियों से परेशान था। उसने कहा, “ऐसा ही चलता रहा तो मैं मर जाऊंगा।” मैंने उससे कहा, “अगर तुम मर जाओ तो इसमें हर्ज ही क्या है?” और हिचकियां बंद हो गयीं! बहुत बार ये भय और सुझाव विरोधी शक्तियों को ले आते हैं जो आकर व्यक्ति को पकड़ लेती हैं। मेरी रूखी बात से साधक अपनी मूढ़ता को पहचान गया और शायद उसने और सुझावों को न आने दिया।

शिष्य—क्या बारीन अब भी योग कर रहे हैं?

श्रीअरविंद—मुझे पता नहीं, मेरे योग शुरू करने से पहले भी वह किसी तरह का योग किया करता था। उसने मेरे योग को तो पांडिचेरी आने के बाद ही अपनाया था। वह अंडमान में भी योग करता था। तुम्हें पता है कि वह लेले का शिष्य था। एक बार वह लेले को कलकत्ते की गुप्त सभा के युवकों के बीच ले गया। लेले को पता न था कि वे क्रांतिकारी थे। एक दिन बारीन उन्हें उस बगीचे में ले गया जहां वे गोली चलाने का अभ्यास कर रहे थे। इसे देखते ही लेले की समझ में आ गया कि यह कैसा आंदोलन था और उन्होंने बारीन से इसे छोड़ देने के लिये कहा। लेले ने कहा, “अगर तुमने मेरी बात न सुनी तो गढ़े में जा गिरोगे” और हुआ भी यही।

शिष्य—मैंने सुना है कि बारीन को बहुत अनुभूतियां हुई थीं।

श्रीअरविंद—वे केवल मानसिक थीं और उसने उनमें से कुछ ज्ञान, कुछ सूचनाएं और कुछ समझ प्राप्त की। मैंने सुना है कि जब उसने योग शुरू किया तो उसे कामानन्द की अनुभूति हुई थी। लेले ने यह सुना तो वे आश्चर्य में पड़ गये। उन्होंने कहा कि यह अनुभूति साधारणतः अंत में आती है। और अनुभूतियों की तरह यह भी एक अवतरण है लेकिन अगर आदमी का सेक्स-

केंद्र काफी नियंत्रित न हो तो काफी बुरे परिणाम आ सकते हैं जैसे स्वप्न-दोष आदि।

शिष्य—हां, उसमें काफी चमक थी।

श्रीअरविंद—लेकिन वह हमेशा संकुचित और सीमित रहा। वह अपने आपको विस्तृत न बना सका। (श्रीअरविंद सिर के ऊपर हाथ रख करके समझाते हैं); इस कारण उसकी चीजें टिकाऊ नहीं होतीं। वह बहुत अच्छा लेखक था। उसने कुछ भक्ति-काव्य भी लिखे थे, लेकिन उसके संकुचित होने के कारण उनमें से कोई चीज टिकाऊ न रही। वह कई चीजों का विस्मयजनक रूप से शौकीन था; जैसे संगीत, क्रांतिकारी गतिविधि। वह चित्रकार भी था, उसने उनकी प्रदर्शनियां भी कीं, लेकिन कुछ नहीं हुआ। उसने इन सब चीजों में कुछ अच्छा किया परंतु उससे बढ़कर कुछ नहीं।

शिष्य—बारीन ने अपनी पत्रिका 'डॉन' में आपकी जीवनी के बारे में लिखना शुरू किया था।

श्रीअरविंद—यह मुझे नहीं मालूम। क्या वह एक पत्रिका निकालता था? मैं यह जानना चाहूंगा कि वह मेरे बारे में क्या लिखता है।

शिष्य—कुछ समय के बाद ही वह पत्रिका बंद हो गयी।

दूसरा शिष्य—उस पत्र में ही उन्होंने कहा था कि आप क्रांतिकारी आंदोलन के नेता थे। मैंने आपसे पूछा कि क्या यह बात ठीक थी।

श्रीअरविंद—तो मैंने क्या कहा?

शिष्य—आपने बड़े आश्चर्य के साथ उत्तर दिया था कि जिस बात को सभी जानते हैं उसे मैं नहीं जानता।

श्रीअरविंद—वस्तुतः यह बात सच्ची नहीं है। बारीन वस्तुओं की ठीक स्थिति नहीं बतला रहा। मैं न तो संस्थापक था, न नेता। पी० मित्र और मिस घोषाल ने 'बेरन ओकाकुरा' की प्रेरणा से इसे शुरू किया था। यह काम पहले ही शुरू हो चुका था और मुझे इसका परिचय बंगाल लौटने पर ही हुआ। मैं बस उनके काम की जानकारी रखता था। मेरा विचार था कि सारे भारत में खुली सशस्त्र क्रांति की जाये। उन लोगों ने उस समय जो किया वह बहुत बचकाना था, उदाहरण के लिये मजिस्ट्रेट को पीटना आदि। बाद में उसने

आतंकवाद उ
बिलकुल न
वह लंबे काल
द्वारा जाति में
की स्थिति में
है।

शिष्य—
श्रीअरविंद—
रोकना अच्छ
उसने अच्छा

शिष्य—
बैठे?

श्रीअरवि
और अंत में

शिष्य—
अंतर्भास के

श्रीअरवि
जानता था।

की यह इच्छ
पता लगा वि

अरुचि थी,
कविता, सा

शिष्य—
भारत में क्र

श्रीअरवि
उनमें से ए

शिष्य—
बार आपने

सितंबर १९९१

आतंकवाद और डकैतियों का रूप ले लिया, जो मेरा ख्याल या इरादा बिलकुल न था। बंगाल बहुत ज्यादा भावुक है और तुरंत परिणाम चाहता है, वह लंबे काल तक प्रयास के द्वारा तैयारी नहीं कर सकता। हम गेरिल्ला युद्ध द्वारा जाति में तेज और उत्साह पैदा करना चाहते थे। लेकिन आजकल के युद्ध की स्थिति में ऐसी चीजें असंभव हैं और उनका असफल होना अवश्यभावी है।

शिष्य—तो आपने उन्हें रोका क्यों नहीं ?

श्रीअरविंद—जो चीजें प्रबल अभिव्यक्ति के लिये जोर डालती हैं, उन्हें रोकना अच्छा नहीं होता। जब मजबूत कदम लिया जाता है तो कभी-कभी उससे अच्छा परिणाम आ सकता है।

शिष्य—आप आई० सी० एस० की घुड़सवारी की परीक्षा में क्यों नहीं बैठे ?

श्रीअरविंद—नहीं, उन्होंने मुझे और एक अवसर दिया, परंतु मैं नहीं गया और अंत में उन्होंने मुझे अस्वीकार कर दिया।

शिष्य—लेकिन तब आप आई० सी० एस० में बैठे ही क्यों ? क्या किसी अंतर्भास के कारण आप घुड़सवारी के लिये नहीं गये ?

श्रीअरविंद—बिलकुल नहीं। उस समय मैं योग के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। मैं आई० सी० एस० के लिये इसलिये बैठा था क्योंकि मेरे पिता की यह इच्छा थी और मैं समझने के लिये अभी बहुत छोटा था। बाद में मुझे पता लगा कि वह किस प्रकार का काम है और मुझे प्रशासनिक काम के लिये अरुचि थी, मुझे प्रशासनिक जीवन में कोई रस न था। मुझे रस था तो कविता, साहित्य, भाषा-अध्ययन और देश-प्रेम के कार्यों में।

शिष्य—हमने सुना है कि इंग्लैंड में रहते हुए आप और सी० आर० दास भारत में क्रांति की योजनाएं बनाया करते थे।

श्रीअरविंद—सी० आर० दास ही नहीं, और भी बहुत थे। देशपाण्डे भी उनमें से एक थे।

शिष्य—आप गायकवाड़ के लिये बहुत कठोर ज्ञापन-पत्र लिखा करते थे। एक बार आपने उनसे कहा था कि वे स्वयं जाकर उसे प्रेसीडेंट के हाथ में दे आयें।

श्रीअरविंद—यह गप है। मैंने ऐसा कभी न कहा होगा। यह सच है कि मैंने महाराजा के लिये काफी ज्ञापन-पत्र लिखे। सामान्यतः वे रूप-रेखा बना दिया करते थे और मैं उसके अनुसार लिख देता था। लेकिन स्वयं मुझे अनुशासन में रस न था। मुझे रस था संस्कृत-साहित्य और राष्ट्रीय आंदोलन में। जब मैं इंग्लैंड से बड़ौदा आया तब मुझे पता लगा कि उस समय कांग्रेस क्या थी और मेरे अंदर उसके लिये एक हीन भावना पैदा हो गयी। तब देशपाण्डे, तिलक, माधव राव आदि के साथ मेरा संपर्क हुआ। वहां मैं कांग्रेस की उसकी नरमदलीय नीति के लिये बहुत आलोचना की। लेख इतने गरम थे कि महाराष्ट्र के महान् नेता महादेव गोविंद राणाडे ने देशपाण्डे द्वारा पत्रिका के मालिक से कहा कि इस प्रकार के विद्रोही साहित्य को न छापें अन्यथा उसे पकड़ कर जेल में भरा जा सकता है। देशपाण्डे इस समाचार के साथ मेरे पास आये और उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मैं कुछ कम गरम चीज लिखूं। तब मैंने राजनीति के दर्शन के बारे में लिखना शुरू किया और राजनीति के व्यावहारिक पक्ष को एक ओर छोड़ दिया, लेकिन मुझे शीघ्र ही इससे घृणा-सी हो गयी।

तिलक, माधव राव, देशमुख और जोशी—जो बाद में नरमदलीय बन गये—आदि हम लोग कांग्रेस की अपेक्षा कुछ अधिक गरम कार्यक्रम लेकर काम करना चाहते थे। हम बंगाल से जतीन बैनर्जी को ले आये और हमने उन्हें बड़ौदा की सेना में भरती करवा दिया। हमारा विचार था कि कांग्रेस से नरम दलवालों को निकाल बाहर करें और उसपर कब्जा कर लें।

जैसे ही मैंने सुना कि बंगाल में राष्ट्रीय महाविद्यालय (नेशनल कॉलेज) खुल रहा है तो मुझे अपना अवसर मिल गया। मैंने बड़ौदा की नौकरी छोड़ दी और प्रिंसिपल बनकर कलकत्ता चला गया। वहां मैं विपिन पाल के संपर्क में आया, जो 'वन्दे मातरम्' का संपादन कर रहे थे। उनकी आर्थिक स्थिति डांवा-डोल थी। पाल कहीं दौरे पर जा रहे थे और उन्होंने मुझे पत्रिका संभालने का काम दे दिया। मैंने सुबोध मल्लिक आदि से इसकी आर्थिक सहायता करने के लिये कहा और अपने-आप संपादन करता गया।

तब कुछ लोग विपिन चंद्र पाल को 'वन्दे मातरम्' पत्रिका से निकाल देना

चाहते थे। उन
और अच्छी त
थी। विपिन च
हुआ करते थे
वक्-शक्ति व
न करते थे,
थे। बाद में
श्री इस आंदो
सुनने के लिये
नहीं खड़े हो
बलकर उनका
उनमें नेता के
'वन्दे मातरम्'
पत्र के रूप में
और उनसे व
कांग्रेस को ह
करना चाहिये
अनुसरण कर
वे लोग
था। उन्हें नेत
और विरल
शिष्य—
अंतःप्रेरित थ
श्रीअरविं
शिष्य—
श्रीअरविं
हां, मैंने पत्रे
मानसिक भा

सितंबर १९११

चाहते थे। उन्होंने मेरा नाम भी इसमें जोड़ दिया। मैंने उप-संपादक को बुलाया और अच्छी तरह लताड़ा—अवश्य शाब्दिक रूप में। लेकिन शरायत हो चुकी थी। विपिनचन्द्र पाल एक महान् वक्ता थे, उन दिनों उनके भाषण अंतःप्रेरित हुआ करते थे, उनमें एक तरह का अवतरण हुआ करता था। बाद में उनकी वाक्-शक्ति कम हो गयी। मुझे याद है, वे कभी स्वाधीनता शब्द का उपयोग न करते थे, बल्कि “अंग्रेजों के अधिकार के बिना स्वायत्त शासन” कहते थे। बाद में चलकर जब हम ‘बारिसाल कॉन्फरेंस’ के बाद किसानों को भी इस आंदोलन में ले आये तो चालीस-पचास हजार आदमी उनका भाषण सुनने के लिये इकट्ठे हो जाया करते थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी पाल की तुलना में नहीं खड़े हो सकते; उन्होंने ऐसा कोई काम कभी नहीं किया। लेकिन बाद में चलकर उनकी वाक्-शक्ति भी क्षीण हो गयी। वे बड़े वक्ता अवश्य थे पर उनमें नेता के गुण न थे। बाद में श्यामसुन्दर तथा कुछ अच्छे लोग आ गये। ‘वन्दे मातरम्’ ने बहुत से लोगों का ध्यान खींचा और उसने अखिल भारतीय पत्र के रूप में ख्याति पा ली। एक दिन मैंने बंगाल के नेताओं को बुलाया और उनसे कहा, “इस तरह चलते चले जाने का कोई फायदा नहीं। हमें कांग्रेस को हाथ में ले लेना चाहिये और नरमदलीय लोगों को निकाल बाहर करना चाहिये।” तब हमने तिलक को अखिल भारतीय नेता मानकर उनका अनुसरण करने का निश्चय किया।

वे लोग इस विचार पर उछल पड़े। तब तिलक का उत्तर भारत में नाम न था। उन्हें नेता चुन लिया गया। वे सचमुच महान् व्यक्ति थे, एकदम निष्काम और विरल रूप से महान् पुरुष।

शिष्य—तिलक की गीता के बारे में आपकी क्या राय है? क्या वह अंतःप्रेरित थी?

श्रीअरविंद—मुझे कहना चाहिये, मैंने उसे पढ़ा नहीं है।

शिष्य—लेकिन आपने उसकी आलोचना की है।

श्रीअरविंद—तो मैंने बिना पढ़े ही उसकी आलोचना कर दी है। (अट्टहास्य) हाँ, मैंने पत्रे पलटे होंगे पर मुझे नहीं लगता कि वह अंतःप्रेरित है। वह ज्यादा तो मानसिक भाष्य थी, क्योंकि उनका मन बहुत प्रतापी और वैभवशाली था।

शिष्य—किसी ने तिलक से पूछा, “भारत को स्वराज मिल जाये तो फिर आप क्या करेंगे”, तो उन्होंने कहा, “मैं फिर से गणित का प्रोफेसर बन जाऊंगा।”

शिष्य—और ‘अमृत बाजार पत्रिका’ के बारे में क्या राय है आपकी? क्या भी तो उग्रवादी पत्र था।

श्रीअरविंद—नहीं, ‘अमृत बाजार पत्रिका’ के लिये स्वाधीनता के बारे में ‘वन्दे मातरम्’ और ‘युगान्तर’ की तरह दिन पर दिन खुलकर लिखना असंभव था। वह पत्र पहले सुरक्षा चाहता था। उन दिनों बंगाल में तीन पत्र चलते थे—‘युगान्तर’, ‘वन्दे मातरम्’ और ‘संध्या’। ब्रह्म बांधव उपाध्याय, जो ‘संध्या’ के संपादक थे, वे भी एक महान् व्यक्ति थे। वे ऐसी चालाकी से लिखते थे कि सरकार उनपर मुकद्दमा न चला सकती थी। हमारी आर्थिक स्थिति इतनी खराब थी फिर भी हम पांच छह वर्ष तक तो चलाते ही रहे।

शिष्य—लेकिन क्या सरकार ने आपको गिरफ्तार करने की कोशिश नहीं की?

श्रीअरविंद—वह नहीं पकड़ सकती थी। ऐसा कोई कानून न था और अखबारों को ज्यादा स्वाधीनता थी। और फिर अखबारों में ऐसी कोई चीज न थी जिसपर सीधा मुकद्दमा चलाया जा सकता। ‘स्टेट्समैन’ को यह शिकायत हुआ करती थी कि ‘वन्दे मातरम्’ एक छोर से दूसरे छोर तक विद्रोह से भरा होता था, लेकिन वह इस चालाकी से लिखा जाता था कि उसके संपादक को पकड़ना असंभव था और फिर संपादक का नाम कभी नहीं छपा जाता था, इसलिये वे केवल मुद्रक को ही पकड़ सकते थे। लेकिन जब उसे पकड़ा गया तो उसकी जगह लेने के लिये कोई और आ गया। बाद में उस संपादक उपेन्द्रनाथ बनर्जी ने कुछ पत्र-व्यवहार छपा जिसके लिये विद्रोह के अभियोग में मुझे पकड़ लिया गया, लेकिन कुछ भी प्रमाणित न हो पाया और मुझे छोड़ दिया गया। लेकिन मेरी अनुपस्थिति से बड़ा आर्थिक संकट आ गया इसलिये उन्होंने बहुत कड़ी चीज लिख दी और पत्र को दबा दिया गया। एक और गिरफ्तारी के बाद मैंने ‘कर्मयोगिन्’ प्रकाशित करना शुरू किया। उसमें मैंने एक लेख लिखा, “अपने देशवासियों के नाम एक खुली चिट्ठी” जिसके लिखे

सरकार मुझे

कि मैं गुप्त

फ्रांस भेज

पंडिचेरी ज

शिष्य—

श्रीअरवि

बस आज्ञा

और इस

मुझे ग

नियम था

बड़ी कठि

पहुंचा। उ

बतलाया

(शिष्य)

प्रमाण-पत्र

पत्र लिया

श्रीअर

गिरफ्तार

अपने ना

पाता।

विजय

समय के

२२ दिस

श्रीअ

इकट्ठे थे

सितंबर १९११

सरकार मुझपर मुकदमा चलाना चाहती थी। इधर मामला लटक ही रहा था कि मैं गुप्त रूप से चन्दन नगर चला गया और वहां के मेरे कुछ मित्र मुझे फ्रांस भेज देना चाहते थे। मैं सोच ही रहा था कि क्या किया जाये कि मुझे पांडिचेरी जाने का आदेश मिला।

शिष्य—पांडिचेरी क्यों ?

श्रीअरविंद—मैं पूछ नहीं सकता था। यह श्रीकृष्ण का आदेश था। मुझे बस आज्ञा माननी थी। बाद में मुझे पता चला कि वह आदेश आश्रम के लिये और इस 'काम' के लिये था।

मुझे गलत नाम से पासपोर्ट के लिये मांग करनी पड़ी। जहाजी कंपनी का नियम था कि किसी अंग्रेज डॉक्टर का डॉक्टरी प्रमाण-पत्र भी होना चाहिये। बड़ी कठिनाई के साथ मैंने एक डॉक्टर खोज निकाला और उसके घर जा पहुंचा। उसने मुझसे कहा, "तुम बहुत बढ़िया अंग्रेजी बोलते हो।" मैंने उसे बतलाया कि मैं इंग्लैंड में रह चुका था।

(शिष्य को यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि श्रीअरविंद ने छद्म नाम से प्रमाण-पत्र लिया था) इसलिये उसने फिर कहा, आपने छद्म नाम से प्रमाण-पत्र लिया था !

श्रीअरविंद—निश्चय ही। अगर मैंने अपना नाम दिया होता तो मुझे एकदम गिरफ्तार कर लिया जाता। गांधीजी के सत्य को उचित सम्मान देते हुए भी मैं अपने नाम के बारे में स्पष्टवक्ता न हो सका, अन्यथा मैं क्रांतिकारी न हो पाता।

विजय, मणि और अपने साले के साथ मैं पांडिचेरी आ गया, लेकिन कुछ समय के लिये हमें छद्म नाम रखने पड़े।

२२ दिसम्बर १९३८

श्रीअरविंद से कुछ सुनने की आशा लगाये हुए हम सब उनके चारों ओर इकट्ठे थे। मैं तो इसके लिये प्रार्थना कर रहा था; लेकिन वे बोलने के लिये

प्रवृत्त नहीं मालूम हो रहे थे इसलिये हम चुप रहने के लिये बाधित थे और साथ ही सोच रहे थे कि उन्हें कैसे और किस प्रश्न द्वारा बातचीत में खींचा जाये। अचानक हमने देखा कि 'क' चमकती मुस्कान के साथ श्रीअरविंद की ओर देख रहा था। वह उनके और निकट आ गया और हम भी अपने-आप उसके पीछे हो लिये। अचानक उसका प्रश्न फूट पड़ा, "हमें उचित मनोवृत्ति अपनाने के लिये, औरों के साथ व्यवहार करने में कौन से नियम अपनाने चाहियें?" श्रीअरविंद इस प्रश्न को पकड़ नहीं पाये, उसका प्रश्न दोहराया गया। उन्होंने उत्तर दिया : "मुझे बात इससे उल्टी दीखती है। अगर हमारे अंदर उचित मनोवृत्ति हो तो बाकी चीजें अपने-आप आ जाती हैं। उचित मनोवृत्ति आवश्यक है लेकिन महत्त्वपूर्ण है आंतरिक मनोवृत्ति। आध्यात्मिक और नैतिक नियम बिलकुल भिन्न होते हैं, क्योंकि सब कुछ इसपर निर्भर होता है कि तुम कोई चीज आत्मा के लिये कर रहे हो या नैतिक कारणों से।"

"तुम अपने व्यवहार आदि में मानसिक नियंत्रण रख सकते हो, पर हो सकता है कि आंतरिक स्थिति बिलकुल भिन्न हो, उदाहरण के लिये, हो सकता है कि आदमी क्रोध न दिखाये, बाहर से विनम्र हो, लेकिन भीतर से घमंड और क्रोध से भरा हो। उदाहरण के लिये, जब 'अ' यहां आया था, बाहर नम्रता से भरा था। सचमुच चैत्य नियंत्रण की जरूरत होती है और वह हो तो बाहरी व्यवहार में उचित मनोवृत्ति आ जाती है। तुम्हारा व्यवहार भीतर से बाहर की ओर प्रवाहित होना चाहिये और तुम चैत्य प्रभाव की ओर जितना खुलते जाओगे उतना ही वह तुम्हारी बाहरी प्रकृति पर अधिकार पाता जायेगा। मानसिक नियंत्रण आध्यात्मिकता की ओर ले जा सकता है और नहीं भी ले जा सकता। अमुक प्रकार के लोगों में यह चैत्य नियंत्रण के लिये पहला पग हो सकता है।"

शिष्य—चैत्य नियंत्रण कैसे पाया जाये ?

श्रीअरविंद—सतत स्मरण द्वारा, अपने-आपको भगवान् के प्रति अर्पण करने से, चैत्य-प्रभाव के मार्ग में जो कुछ बाधक हो उसके त्याग द्वारा। सामान्यतः प्राण ही अपनी मांगों और कामनाओं द्वारा मार्ग में बाधक होता है और एक बार चैत्य खुल जाये तो वह पग-पग पर बतलाता जाता है कि क्या-

या करना चाहिए और हम सब माताजी के ऐसे विचार कर शिष्य—मेरे देखा जाये, स रखी जाये। श्रीअरविंद चाहिये। अपने भगवान् को देख सभी प्राणिक की ओर आगे अनुभूति हो ज में ज्यादा आ करिण हो जात तह व्यवहार उसके पीछे भ जय कर भाग शिष्य—न श्रीअरविंद शक्ति है। कुछ समय ब उपस्थिति का पीछे बहुत ब पर घंटे काम में भी समझ रही थी, लेकिन पर्यर की तर

सितंबर १९९१

करना चाहिये। (बातचीत अभी चल ही रही थी कि माताजी आ गयीं और हम सब ध्यान में चले गये।)

माताजी के चले जाने के बाद श्रीअरविंद ने 'अ' से पूछा, "तुम्हारा प्रश्न के लिये विचार क्या है? कोई निजी बात है या सामान्य प्रश्न है?"

शिष्य—मेरा मतलब था कि उदाहरण के लिये, सभी लोगों में शुभ कैसे देखा जाये, सभी के साथ प्रेम कैसे किया जाये। सब के लिये शुभेच्छा कैसे रखी जाये।

श्रीअरविंद—तुम्हें सबके लिये शुभेच्छा के विचार के साथ शुरुआत करनी चाहिये। अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के अर्पित करना, औरों के अंदर भी भगवान् को देखने की कोशिश करना, चैत्य शुभेच्छा रखना और अपने अंदर सभी प्राणिक और मानसिक आवेशों को त्यागना और उस आधार पर सिद्धि की ओर आगे बढ़ना। विचार को अनुभव में बदलना चाहिये। एक बार अनुभूति हो जाये तो काम आसान हो जाता है। फिर भी, यह निष्क्रिय स्थिति में ज्यादा आसान होता है, और जब वह गतिशील स्थिति में आता है तो कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिये, अगर तुम किसी मनुष्य को पशु की तरह व्यवहार करते देखो तो उसे अपनी बाहरी प्रकृति से अलग किये बिना उसके पीछे भगवान् की उपस्थिति को देखना कठिन है। तुम भगवान् का नाम जप कर भागवत चेतना तक आ सकते हो।

शिष्य—नाम जप यह कैसे कर देता है?

श्रीअरविंद—नाम के अंदर मंत्र की सी शक्ति होती है। जगत् में हर चीज शक्ति है। कुछ लोग होते हैं जो नाम जप के साथ प्राणायाम भी करते हैं। कुछ समय बाद प्राणायाम के पीछे नाम जप यांत्रिक हो जाता है और तुम दिव्य उपस्थिति का अनुभव करने लगते हो। यहां एक बार लोगों ने अपने काम के पीछे बहुत बड़ी शक्ति का अनुभव करना शुरू किया था। वे बिना थके घंटों पर घंटे काम किया करते थे, लेकिन वे अति करने लगे। तुम्हें आध्यात्मिकता में भी समझदार होना चाहिये। यह बात तब की है जब साधना प्राण में चल रही थी, लेकिन जब वह भौतिक में शुरू हुई तो चीजें बदल गयीं। भौतिक परस्पर की तरह जड़ता और प्रतिरोध से भरा है।

शिष्य—कभी-कभी हम सबके लिये प्रेम का अनुभव करने लगते हैं। यद्यपि यह अनुभूति कुछ क्षणों के लिये ही होती है; पर इससे बड़ा आनन्द मिलता है।

श्रीअरविंद—यह चैत्य की लहर होती है। परन्तु उसके बारे में तुम्हारी कल्पना होती है? क्या तुम उसे उड़ता हुआ मनोभाव मानते हो या वह तुम्हें उस तरह की और अनुभूतियों के लिये उद्दीप्त करती है?

शिष्य—वह उद्दीप्त करती है पर कभी-कभी प्राणिक मिश्रण उसमें घुल आने की कोशिश करता है, परन्तु सौभाग्यवश मैं उसे दूर भगा सकता हूँ।

श्रीअरविंद—यही तो भग्न है। यह तथ्य कि मिश्रण ने आने की कोशिश की, यह बतलाता है कि लहर आंतरिक प्राण द्वारा आयी थी और इस तरह प्राण में से भी कुछ लेती आयी। कामुकता की अशुद्धियों को दूर रखने के लिये तुम्हें बहुत सावधान रहना पड़ता है। 'क' अपने सहसा हिसाक विस्फोटों के बावजूद बहुत अच्छा और स्नेहमय व्यक्ति था, परन्तु वह इन चीजों को सेक्स के आवेशों के साथ मिला देता था और इससे अनुभूति बिगड़ जाती थी। यह इसलिये होता है कि कभी-कभी आदमी सेक्स को अर्ध-औचित्य दे देता है, परन्तु योग में सेक्स का बिल्कुल स्थान नहीं है। सामान्य जीवन में किसी विशेष प्रयोजन के लिये उसका कुछ स्थान है। हां, अगर तुम सहज मार्ग अपनाओ तो और बात है।

जब मैं जेल में था तो एक आदमी को जानता था जिसमें ऐसी एकाग्रता की शक्ति थी जो सभी को उससे प्रेम करने के लिये प्रेरित करती थी और उसे सफलता भी मिलती थी। वार्डर और अन्य सभी लोग उसकी ओर आकर्षित होते थे।

शिष्य—यह ऐसी चीज है जिसे हम नहीं जानते। (हंसी)

श्रीअरविंद—मन को निश्चल बनाना चाहिये और चेतना को—मानसिक रूप से नहीं—लक्ष्य की ओर मोड़ना चाहिये। निस्संदेह इसमें समय लगता है पर उपाय यही है। इन चीजों के लिये कोई और उपकरण नहीं है।

शिष्य—चेतना के सुधार और उसके रूपांतर में क्या अंतर है?

श्रीअरविंद—रूपांतर में सारी प्रकृति को सिद्धि के सांचे में ढाला जाता है।

तुम जो कुछ

संत हृदय

सकती है।

मैं तीन

(३) अति

आत्मा की

अनंत की

अतिमानस

के लिये व

शिष्य—

में रूपांतर

श्रीअर

परन्तु रूपांतर

साथ प्रथम

मुझे कभी

और हर व

उस समय

सांचे में

रूपांतरित

शिष्य—

नहीं है—

न करना

श्रीअर

वासना हो

बारे में न

अंदर नैति

की तरह

खाल है,

सितंबर १९९१

तुम जो कुछ अनुभव करते हो उसे अपनी प्रकृति में प्रक्षिप्त करते हो। ईसाई संत हृदय में उपस्थिति की बात करते हैं। वह उपस्थिति प्रकृति को बदल सकती है।

मैं तीन रूपांतरों की बात करता हूँ। (१) चैत्य, (२) आध्यात्मिक और (३) अतिमानसिक। कई लोग चैत्य रूपांतर पा चुके हैं; आध्यात्मिक है आत्मा की अनुभूति, शांति, ज्ञान, आनंद आदि के गतिशील पक्ष के साथ ऊपर अनंत की अनुभूति। यह है आध्यात्मिक रूपांतर और उसके ऊपर है अतिमानसिक रूपांतर। यह सत्य चेतना है जो किसी दिव्य लक्ष्य या प्रयोजन के लिये काम करती है।

शिष्य—अगर किसी को आंतरिक उपलब्धि हो जाये तो क्या उसके प्रयास में रूपांतर आ ही जाता है ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। प्रकृति के भाग में कुछ सुधार हो सकता है, परंतु रूपांतर अपने-आप नहीं हो जाता। यह इतना आसान नहीं है। लेले के साथ प्रथम संपर्क में मुझे शांति और स्थिरता का जो अनुभव हुआ था उसने मुझे कभी नहीं छोड़ा, लेकिन मेरी बाहरी प्रकृति में बहुत से क्षोभ भरे हुए थे और हर बार मुझे शांति को प्रतिष्ठित करने के लिये प्रयास करना पड़ता था। उस समय से मेरे योग का सारा उद्देश्य रहा प्रकृति को आंतरिक उपलब्धि के सांचे में बदलना। मुझे अपनी उपलब्धि के प्रभाव द्वारा इन्हें बदलने या रूपांतरित करने का प्रयास करना पड़ा।

शिष्य—फिर भी आंतरिक उपलब्धिवाले मनुष्य—मेरा मतलब अनुभूति से नहीं है—को अपनी प्रकृति में काम-वासना जैसी गंभीर कठिनाइयों का सामना न करना होगा।

श्रीअरविंद—क्यों नहीं ? दुर्वासा की तरह क्रोध हो सकता है या काम-वासना हो सकती है। क्या तुमने क्रोध या काम के द्वारा ऋषियों के पतन के बारे में नहीं सुना ? योगी शुभ और अशुभ के स्तर से पार चले जाते हैं। उनके अंदर नैतिकता के सामान्य प्रश्न नहीं उठते। वे बाह्य प्रकृति को एक ऐसे बच्चे की तरह मानते हैं जो अपनी इच्छाओं के अनुसार व्यवहार करता है। मेरा ख्याल है, 'क' का पतन इसी तरह हुआ होगा। उसे कोई आंतरिक वाणी पथ-

प्रदर्शन देती थी, जिसे वह भगवान् की वाणी मानता था और सब कुछ उसे के प्रकाश में करता था। शायद वह किसी उच्चतर मन तक गया होगा, लेकिन अधिमानस तक अभी नहीं पहुंचा था। जब लोग उसके आचरण के बारे में उससे पूछते थे, तो, मैंने सुना है कि वह उत्तर देता था कि वह भगवान् की आज्ञा से कर रहा था और हर संत ने ऐसा ही किया था। तुमने स्वामी अज्ञमानंद के बारे में सुना होगा जो लंदन गया था, वहां उसे लड़कियों के साथ प्रेम करने के कारण गिरफ्तार किया गया था।

शिष्य—क्या इन बाहरी भोगों के कारण आंतरिक अनुभूति बंद न हो जायेगी ?

श्रीअरविंद—यह इसपर निर्भर है कि तुम आध्यात्मिक सिद्धि में कहां तक पहुंचे हो। अनेकों मार्ग हैं, चौराहे हैं, गलियां हैं; हर एक को अपना योग-मार्ग अपनाने की छूट है। लेकिन अपने योग में हम बाहरी प्रकृति के रूपांतर पर भी आग्रह करते हैं। जब मैं कहता हूं कि कोई चीज योग के लिये जरूरी है तो इसका मतलब 'हमारे योग' से होता है, वह अन्य लक्ष्योंवाले योग के लिये नहीं होता।

इसके बाद कुछ देर चुप्पी रही। फिर श्रीअरविंद ने पूछा, "क्या तुम 'म' के बारे में कुछ जानते हो ?"

शिष्य—मेरी राय उसके बारे में बहुत अच्छी नहीं है। मैं व्यक्तिगत रूप से उसकी ओर आकर्षित नहीं हुआ।

श्रीअरविंद—जब मैंने उसका फोटो देखा तो मुझे लगा कि इस आदमी के अंदर प्रबल प्राणिक शक्ति है। जब मैंने देखा कि वह अपने मसीहा होने के बारे में विश्वास दे रहा है तो मुझे उसकी यथार्थता के बारे में संदेह होने लगा। उसकी साधना प्राण में मालूम होती है और ऐसे लोगों में जब शक्ति का अवतरण होता है तो दुर्भाग्यवश लोग इन शक्तियों से आकर्षित होते हैं। आध्यात्मिक और चैत्य; यहां तक कि मानसिक साधना में भी शक्ति आ सकती है, लेकिन वह आती है बिना मांग के, अपने-आप।

'य' एक और 'म' था जिसमें बलवान् प्राण था। एक समय मुझे उससे बहुत आशा थी, लेकिन जिनकी साधना प्राणिक आधार पर होती है वे उस

लोक में से
प्राणमय लो
सामान्यतः
ऐसी शक्ति
के हाथों में
निवारण के
सका और उ
ओर तीस-च
वह यह स
दुर्भाग्यवश
विचारक क
करते थे अ
जाता था अ
वापिस लौट
मिट जाता

अपनी प्रांज
अलग कर
घोखा दे स
व्यक्ति है।

शिष्य—
श्रीअरवि
साथ आस
शिष्य—
श्रीअरवि
साधारण-स
से आकर
शक्ति भरी
शिष्य—

सितंबर १९९१

लोक में से गुजरते हैं जिसे मैं मध्यस्थ लोक कहता हूं और वे मुश्किल से ही प्राणमय लोक के परे जा पाते हैं। यह एक जंगल की तरह होता है और यह सामान्यतः उन लोगों के लिये ज्यादा आसान होता है जो दुर्बल होते हैं, जिनमें ऐसी शक्ति नहीं होती। वह सोचा करता था कि उसने अपने-आपको भगवान् के हाथों में रख दिया है और भगवान् उसके अंदर हैं। हमें उसके भ्रम-निवारण के लिये उसके साथ कठोर होना पड़ा। इस कारण वह यहां न रह सका और उसे लौट जाना पड़ा। यहां से जाकर वह गुरु बन गया जिसके चारों ओर तीस-चालीस चेले थे। इन लोगों में गुरुगिरी बड़ी जल्दी आ जाती है। वह यह सब मेरे नाम से करता था जो मुझे बहुत ज्यादा नापसंद था। दुर्भाग्यवश उसका मन उसके प्राण के जितना विकसित न था। उसके अंदर विचारक का नहीं, योद्धा का मन था। हम उसपर प्रायः प्रबल शक्ति डाला करते थे और परिणाम-स्वरूप कुछ समय के लिये वह बहुत प्रकृतिस्थ हो जाता था और वह अपनी भूलें देख सकता था। परंतु शीघ्र ही उसका प्राण वापिस लौट आता था और मन पर अधिकार कर लेता था और सब कुछ मिट जाता था। अगर उसका मन भी ऐसा ही विकसित होता तो शायद वह अपनी प्रांजलता को बनाये रख सकता। बुद्धि तुम्हें अपने-आपको प्राण से अलग करने और उसे आवेश के बिना देखने में सहायता देती है। मन भी धोखा दे सकता है पर इतना अधिक नहीं। 'म' इसी तरह का एक और व्यक्ति है।

शिष्य—वह यहां से चला क्यों गया ?

श्रीअरविंद—क्योंकि वह अवतार बनना चाहता था और अपने काम के साथ आसक्ति से पीछा न छुड़ा सका था। वह बहुत ईमानदार नहीं है।

शिष्य—क्या उसके पास कुछ शक्ति है ?

श्रीअरविंद—हां, परंतु औरों की तरह गुह्य-शक्ति नहीं। पहले वह एक साधारण-सा आदमी था जिसमें कुछ संभावनाएं थीं। तुम जानते हो कि जेल से आकर मैं उसके मकान में रहा करता था और मेरे अंदर एक तरह की शक्ति भरी थी और उसे उसका एक अंश मिल गया।

शिष्य—कैसे ?

श्रीअरविंद—वह एक तरह का योग कर रहा था। मैंने उसे कुछ आदेश दिये, उसने उनसे अपनी शक्ति पा ली।

शिष्य—क्या वह आपके विचारों के आधार पर काम कर रहा था ?

श्रीअरविंद—जब मैं बंगाल छोड़ रहा था तो मैंने सोचा कि शायद उसके द्वारा कुछ काम करना संभव हो, लेकिन इस शर्त पर कि वह मेरे प्रति निष्ठावान रहे। लेकिन यह न हो सका। यद्यपि पहला धक्का मेरी ओर से मिला था परन्तु उसका अपना अहं आगे बढ़ आया। अब उसके अंदर मेरी शक्ति काम नहीं कर रही। ये चीजें आसानी से अनाध्यात्मिक बन जाती हैं।

शिष्य—वह अपनी पत्नी के बारे में अपनी पुस्तक 'जीवन संगिनी' में बहुत ढोल पीटता है।

श्रीअरविंद—वह मुझे एक साधारण-सी स्त्री लगी, यद्यपि थी अच्छी स्त्री। पुरुष के रूप में वह जैसा था, उसकी पत्नी स्त्री के रूप में उससे ज्यादा अच्छी थी। मैंने संयोग से उसे एक ही बार देखा था क्योंकि उसे लोगों के बीच में बाहर आने की आदत न थी।

शिष्य—उसने एक सशक्त बंगला शैली विकसित की है।

श्रीअरविंद—ऐसी बात है ? एक बार वह वेद का बंगला में अनुवाद कर रहा था।

शिष्य—उसकी बंगला ईसाई पादरियों के जैसी थी। आप जानते ही हैं वह कैसी होती है।

२३ दिसम्बर १९३८

हम लोग हमेशा की तरह इकट्ठे थे और बातचीत शुरू करने के लिये उत्सुक थे, लेकिन श्रीअरविंद की तरफ से कोई इशारा पाये बिना कोई भी शुरू करने के लिये तैयार नहीं था। वे चुपचाप बिस्तर पर लेटे थे।

एक शिष्य ने सकुचाते हुए श्रीअरविंद की ओर पहल की और एक दूसरा शिष्य ठहाका मारकर हंस पड़ा। श्रीअरविंद ने हंसी सुनी।

शिष्य—'क' ठहाका मार रहा है।

सितंबर १९९१

श्रीअरविंद—क्या आनंद का अवतरण हुआ ?

वातावरण हल्का हो गया। 'क' ने अवसर का लाभ उठाते हुए दमकते

बहेरे के साथ यह प्रश्न दाग दिया :

शिष्य—चूंकि विरोधी शक्तियां जगत् में भगवान् की अभिव्यक्ति का प्रतिरोध करती हैं और कभी-कभी कुछ समय के लिये विजयी हो जाती हैं तो क्या हम युक्तियुक्त रूप में यह कह सकते हैं कि भगवान् में सर्वशक्तिमत्ता नहीं है ? यह मेरा नहीं किसी और का प्रश्न है।

श्रीअरविंद—(उसकी ओर सिर करते हुए) यह इस पर निर्भर है कि तुम सर्वशक्तिमत्ता का क्या अर्थ करते हो। अगर यह विचार है कि भगवान् को हमेशा विजयी होना चाहिये तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वे सर्वशक्तिमान् नहीं हैं। क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि भगवान् को हमेशा प्रतिरोध पर विजय पानी हो चाहिये और तभी वे सर्वशक्तिमान् कहलाये जा सकते हैं ? सर्वशक्तिमत्ता के बारे में लोगों के अजीब विचार हैं। प्रतिरोध विकास का विधान है। प्रतिरोध अज्ञान से आता है और अज्ञान निश्चेतना का एक भाग है। सारी चीज अज्ञान यानी निश्चेतना से शुरू होती है। आरंभ में जब अज्ञान और ज्ञान के बीच विरोध का सृजन हुआ तो वह भगवान् का ही पूर्ण निषेध था। यह उनकी लीला है कि अभिव्यक्ति विरोध और संघर्ष में से होकर आगे बढ़ती है। वह कैसी लीला होगी, जिसमें एक ही पक्ष जीतता चला जाये ? साधारणतः दिव्य सर्वशक्तिमत्ता वैश्व विधान के द्वारा काम करती है। ज्योति की शक्तियां भी होती हैं और अंधकार की भी। यह कहना कि ज्योति की शक्तियां हमेशा विजयी होंगी ऐसा ही है जैसे यह कहना कि सत्य और शुभ की शक्तियां हमेशा विजयी होंगी, यद्यपि अमिश्रित सत्य और अमिश्रित शुभ जैसी कोई चीज नहीं है। दिव्य शक्तिमत्ता केवल संकट-काल या निर्णायक अवसरों पर ही हस्तक्षेप करती है।

जब कभी ज्योति ने उतरने की कोशिश की है, उसे विरोध और प्रतिरोध का सामना करना पड़ा है। ईसा को सूली पर चढ़ाया गया। तुम पूछ सकते हो कि जब ईसा निर्दोष थे तब ऐसा क्यों हुआ ? परंतु यह दिव्य विधान था। बुद्ध को अस्वीकार किया गया; ज्योति के पुत्र आते हैं और पृथ्वी उनको अस्वीकार

करती है, पहले उनसे इंकार करती है और फिर बाद में नाम मात्र के लिये स्वीकार करती है, परंतु तत्त्वतः अस्वीकार करने के लिये। केवल अल्प संख्या में लोग आध्यात्मिक जन्म की ओर बढ़ते हैं और उन्हींके द्वारा दिव्य अभिव्यक्ति होती है। अब बौद्ध धर्म का बचा ही क्या है, अशोक के कुछ आदेश और कुछ लाख बौद्ध धर्मावलम्बियों को छोड़कर ?

शिष्य—अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में सहायता की।

श्रीअरविंद—यह तो कोई भी कर सकता था।

शिष्य—लेकिन उसकी सहायता से ही वह इतना अधिक बलवान् हो सका।

श्रीअरविंद—अगर राजाओं और सम्राटों ने बौद्ध धर्म को ऐसे लोगों के हाथ में छोड़ दिया होता जो सचमुच आध्यात्मिक थे तो वह सच्चे बौद्ध धर्म के लिये बहुत अच्छा होता। 'कोंस्टेनटाइन' के ईसाई धर्म स्वीकार करने के बाद ही उसका पतन आ गया और 'नॉर्वे' के राजा ने, जिसपर 'लॉगफेलो' ने कविता लिखी थी, ऐसे सब लोगों को मरवा डाला जो ईसाई नहीं थे और इस तरह वह ईसाई धर्म को स्थापित करने में सफल हुआ। इस्लाम के बारे में भी यही हुआ। जब वह सफल हुआ तो पैगम्बर के अनुयायी खलीफा बन गये और तब इस्लाम का पतन शुरू हुआ। राजा और सम्राट् आध्यात्मिकता को जीवित नहीं रखते, सचमुच आध्यात्मिक लोग ही उसे जीवित रख सकते हैं।

शिष्य—अशोक ने बौद्ध धर्म के लिये सब कुछ न्योछावर कर दिया।

श्रीअरविंद—लेकिन वह आखिरी दम तक सम्राट् बना रहा। जब राजा और सम्राट् धर्म का प्रसार करना चाहते हैं तो वे अशोक जैसे हो जाते हैं, यानी सारी चीज यांत्रिक बन जाती है और आंतरिक सत्य खो जाता है।

शिष्य—रमण महर्षि को कोई नहीं जानता था। पॉल ब्रंटन ने उनका नाम फैलाया।

श्रीअरविंद—लोग शिष्यों की संख्या देखकर लोगों को सफलता की कसौटी पर कसते हैं, यह एक अजीब बात है। कौन ज्यादा बड़ा था ? वे रमण महर्षि जिन्होंने वर्षों तक एकान्त साधना की या वे रमण महर्षि जो नाना प्रकार के शिष्यों से घिरे रहते थे ? यह आवश्यक है कि सच्ची सफलता आध्यात्मिक हो। कभी-कभी जब कोई आध्यात्मिक आंदोलन सफल होने लगता है तो असली चीज गुम होने लगती है।

सितंबर १९९१

रमणाश्रम के बारे में बात चल पड़ी।

श्रीअरविंद — (यहां श्रीअरविंद ने एक कहानी सुनायी।) श्रीमती 'क' महर्षि के दर्शन करने गयीं और उन्हें ध्यान के समय मच्छर भगाते हुए देखा गया। उन्होंने मच्छरों के काटने की शिकायत की। महर्षि ने उनसे कहा, "अगर तुम मच्छरों के वारों को नहीं सह सकतीं तो तुम योग भी नहीं कर सकतीं।" श्रीमती 'क' इस बात को न समझ पायीं। वे आध्यात्मिकता चाहती थीं पर बिना मच्छरों की !

कहा जाता है कि जो लोग स्थायी रूप से रमणाश्रम में रहते हैं उनमें आपस में अनबन हैं।

क्या तुम महर्षि के बारे में वह कहानी जानते हो जब वे आश्रम और आश्रमवासियों से ऊब कर पहाड़ों पर जा रहे थे ? वे एक संकरे रास्ते से जा रहे थे जिसे पहाड़ियां घेरे हुए थीं। उन्होंने एक वृद्धा को देखा जो अपने पांव फैलाये हुए रास्ते में बैठी थी। महर्षि ने उससे अपने पांव समेट लेने के लिये विनय की, लेकिन वह न हटी। गुस्से में आकर महर्षि उसे पार करके निकल गये। वह बहुत नाराज हो गयी और बोली, "तुम इतने बेचैन क्यों हो ? तुम इधर-उधर घूमने की जगह अरुणाचल में किसी एक जगह क्यों नहीं बैठ सकते ? अपनी जगह लौट जाओ और शिव की अर्चना करो।" उसकी बातों ने महर्षि पर असर किया और वे लौट पड़े। थोड़ी-सी दूर जाकर उन्होंने मुड़कर देखा तो वहां कोई न था। अब उन्हें लगा कि वह नारी स्वयं दिव्य जंननी थीं जो चाहती थीं कि वे अरुणाचल में ही बने रहें।

निश्चय ही दिव्य जंननी ने ही महर्षि को लौट जाने का आदेश दिया था। उसे इस प्रकार का जीवन बिताने की आशा की गयी थी। उनके चारों ओर क्या होता है उसके साथ उनका कोई मतलब नहीं था। वे अचंचल और अनासक्त रहते थे। मनुष्य वही है जो पहले था। बहरहाल, मैं यह सुनकर खुश हूँ कि महर्षि देसी ईसाई के साथ चिल्लाये थे (हम सब उनके साथ हंस पड़े); इसका अर्थ है कि वे सक्रिय भी हो सकते हैं। मैंने सुना है कि ठाकुर दयानन्द का आश्रम ही एकमात्र आश्रम था जहां पूर्ण एकता थी। उनमें आपस में एकता का सशक्त भाव था। मैंने 'कर्मयोगिन्' में अवतार के बारे में एक

लेख लिखा था। दयानन्द के शिष्य महेन्द्र दे ने वह लेख पढ़कर मुझे लिखा "वे अवतार हैं।" उन्हें इसके बारे में बहुत उत्साह था। बाद में पुलिस को गोलियां चलने और बहुत-सी गिरफ्तारियां होने से महेन्द्र बदल गया और उसने कहा कि उसपर दयानन्द का सम्मोहन हो गया था।

शिष्य—गुरु लोग हमारे जैसे कच्चे और दोष-भरे शिष्यों को लेकर काम करने के लिये क्यों बाधित होते हैं? यहां पर कठिनाई ज्यादा तीव्र मालूम होती है।

श्रीअरविंद—मेरे लिये भी यह समस्या रही है, लेकिन बात है ऐसी नहीं। हमारी स्थिति कुछ भिन्न है। हमारा उद्देश्य है जगत् को बदलना, हां, वैश्व परिवर्तन नहीं। अतः यहां मानव प्रकृति की सभी कठिनाइयों और क्षमताओं का प्रतिनिधित्व हर एक करता है। उन्होंने 'क' की ओर देखते हुए कहा तुम्हारी कठिनाइयों की व्याख्या इस तरह हो सकती है।

२६ दिसम्बर १९३८

शाम के साढ़े पांच के आसपास चार शिष्य दरी पर बैठे धीरे-धीरे बातचीत कर रहे थे। उनमें से एक अचानक अट्टहास में फूट पड़ा। ६.३० के लगभग हम सब श्रीअरविंद के चारों ओर बैठे। उन्होंने इधर-उधर देखा और उस हंसे के बारे में पूछा, "यह दिव्य अवतरण किस सिलसिले में था?"

शिष्य—'क' में हमेशा हास्य के ऐसे विस्फोट हुआ करते हैं।

श्रीअरविंद—ओह! यह विष्णु के आनंद का अवतरण था।

शिष्य—यह अजीब बात है, मैं इतनी आसानी से ऐसे हास्य के अनिर्यक्ति आनंद में कैसे फूट पड़ता हूं। पहले मैं जरा-से उद्वेग से रो पड़ता था। मेरा ख्याल है कि शायद मैं केवल बाहरी चेतना में ही रहता हूं, इसीलिये मैं इनसे आसानी से हंस पड़ता हूं। यही है न?

श्रीअरविंद—यह ऊपरी प्राण की प्रतिक्रिया है जिसे सामान्य बाहरी चीजें आसानी से छू लेती हैं। प्रकृति के अंदर एक बालक होता है जो इस तरह फूट पड़ता है। यह बालभाव ही है। ज्यादा गहरी प्राणिक सत्ता में इतनी आसानी से असर नहीं होता।

सितंबर १९९१

यहां बातचीत का विषय बदल गया।

शिष्य—आत्मोत्सर्ग का क्या अर्थ होता है ? वह कैसे किया जाये ?

श्रीअरविंद—कैसे किया जाये ! तुम अपने प्राण, मन और हृदय का, अपनी आसक्ति और आवेश का उत्सर्ग करके दिव्य चेतना में विकसित होते हो।

शिष्य—ध्यान के लिये कौन-सा समय ज्यादा अच्छा होता है, दिन या रात का ? मैं रात को ज्यादा एकाग्र होता हूं।

श्रीअरविंद—यह शांत और अचंचल वातावरण के कारण ही संभव है या इस कारण कि तुम्हें रात का अभ्यास है। रात और ब्राह्म मुहूर्त को ध्यान के लिये सबसे अच्छा समय माना जाता है।

हम लोगों से निश्चित समय पर ध्यान करने के लिये कहते हैं, क्योंकि जिस समय का अभ्यास हो जाये उस समय प्रत्युत्तर स्वाभाविक रूप से आता है। लेले ने मुझसे दिन में दो बार ध्यान करने के लिये कहा था, लेकिन जब वे कलकत्ता आये तो उन्होंने सुना कि मैं ऐसा नहीं कर रहा। उन्होंने मुझे यह सफाई देने का अवसर ही नहीं दिया कि मेरा ध्यान सारे समय चलता रहता है। उन्होंने बस इतना ही कहा, “तुम्हें शैतान ने पकड़ लिया है।”

शिष्य—कभी-कभी ध्यान यंत्रवत् होता है।

श्रीअरविंद—ऐसे समय तुम्हें बैठ जाना चाहिये, नहीं तो बेचैनी होती है।

शिष्य—उस दिन मुझे शांति और आनंद का अनुभव हो रहा था, उसमें मुझे बहुत से अंतर्दर्शन हुए, लेकिन मुझे सो जाना पड़ा, क्योंकि मैंने सोचा कि अगर मैं रात को जागता रहा तो बीमार हो जाऊंगा। मैंने स्वप्न में ‘निष्कपटता’ के अर्थवाला फूल देखा।

श्रीअरविंद—निष्कपटता का अर्थ है अपनी सभी गतिविधियों को भगवान् की ओर उठाना।

शिष्य—जागते रहने से बीमार पड़ जाने का भय मानसिक भय नहीं है क्या ?

श्रीअरविंद—बात यह है भौतिक सत्ता की एक सीमा होती है। प्राणिक सत्ता ऊर्जा, शांति आदि का अनुभव कर सकती है, परंतु भौतिक पर उसकी

क्षमता से अधिक नहीं लादा जा सकता। यहां कई साधकों के साथ ऐसा हो हुआ। उन्होंने काम का भार बढ़ा दिया और प्रतिक्रिया हुई। कोई शक्ति तुम्हारे किसी कार्य विशेष के लिये आती है, कार्य को बढ़ाकर उसे किसी और उद्देश्य में लगा देने के लिये नहीं। अगर तुम क्षमता से अधिक करते चले जाओ तो स्वभावतः प्रतिक्रिया आयेगी। आध्यात्मिकता में भी एक हद तक संतुलन जरूरी होता है।

शिष्य—एक समय था जब मैं भी माताजी के साथ काम करते हुए कम थकान का अनुभव न करता था और दिन-रात काम करने के बाद भी मुझे थकान नहीं आती थी। केवल दो-एक घंटे की नींद ही काफी होती थी और मैं पूरा तरोताजा अनुभव करता था।

श्रीअरविंद—यह इस कारण कि तुम 'ऊर्जा' के प्रति खुले थे। नींद के बारे में, दस मिनट की नींद भी काफी हो सकती है पर निश्चित रूप से वह सामान्य नींद नहीं होनी चाहिये, वह भीतर प्रवेश होना चाहिये। अगर तुम समचित्ता के साथ शक्ति को खींच सको और उसे बनाये रख सको तो ये चीजें की जा सकती हैं। जैसा कि मैंने कहा था, जब हम प्राण के साथ व्यवहार कर रहे थे तो बहुत से साधकों को ऐसे अनुभव होते थे, लेकिन जब साधना भौतिक में आ गयी तो वह उत्साह न रहा और लोग आसानी से थकने लगे, आलसी और काम के लिये अनिच्छुक हो गये। वे अधिक काम के कारण असह्य होने की शिकायत करने लगे और इसमें उन्हें डॉक्टरों से सहायता मिलने लगी। तुम्हें पता है 'ह' की क्या राय है? वह कहता है, लोग यहां काम नहीं ध्यान करने के लिये आये हैं।

मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि अगर हम भौतिक में न आते और दूसरे योगियों की तरह प्राण और मन में ही बने रहते और इन्हें रूपांतरित करने की कोशिश न करते तो चीजें और तरह की होतीं।

इसी समय माताजी आ गयीं और कुछ समय के लिये हमने ध्यान किया। उनके जाने के बाद फिर बातचीत शुरू हो गयी। किसी ने कहा, 'न' का ध्यान बहुत अच्छा हुआ, उसे पता भी नहीं लगा कि माताजी चली गयीं।

श्रीअरविंद—अच्छा ध्यान?

शिष्य—

श्रीअरवि

शिष्य—

दे रहे थे।

श्रीअरवि

थों। हां, ये

देतीं। सतही

सपनों से भ

कि चूहे को

होता। भौति

अपनी संगति

सबकी अपन

मैंने अपने-उ

को चित्रों की

शिष्य—

श्रीअरवि

वे 'गोब्लिन

अनुभव हो,

शिष्य—

उन्हें महान्

श्रीअरवि

वे भी ऐसा

इसके ब

होता है या

शिष्य—

के स्पर्श के

श्रीअरवि

में चले जा

सितंबर १९९१

शिष्य—आपने कैसे जाना ?

श्रीअरविंद—शायद तुम्हारे सिर के झुकाव से ।

शिष्य—मैं नहीं कह सकता । मुझे असंगत सपने और अंतर्दर्शन दिखायी दे रहे थे । बस मैं इतना ही कह सकता हूँ, शायद यह सतही चेतना में था ।

श्रीअरविंद—यह सब आंतरिक प्राणमय सत्ता की सतही चेतना की चीजें थीं । हाँ, ये बहुत सामान्य चीजें हैं । जरा गहराई में जाने पर ये नहीं दिखलायी देतीं । सतही चेतना और गहरे प्राण के बीच एक बिन्दु है जो स्वैर विहार और सपनों से भरा होता है । देखने में ये असंगत होते हैं । भौतिक में हो सकता है कि चूहे को हाथी में बदलने का कोई अर्थ न हो, लेकिन प्राण में ऐसा नहीं होता । भौतिक स्तर पर इनमें कोई संगति नहीं होती पर प्राणिक स्तर पर उनकी अपनी संगति होती है । एक बार तुम्हें चाबी मिल जाये तो पता लगता है कि इन सबकी अपनी संगति होती है और हर चीज दूसरी चीज के साथ जुड़ी होती है । मैंने अपने-आप ऐसी चीजें बहुत बार देखी हैं । यही जगत् है जहां से रवीन्द्रनाथ को चित्रों की प्रेरणा आती थी—जिसे यूरोपीय 'गोब्लिन' या प्रेत-जगत् कहते हैं ।

शिष्य—क्या टैगोर ये चित्र बनाने से पहले उन्हें देखते हैं ?

श्रीअरविंद—मुझे नहीं लगता । कुछ लोग उन्हें देखते हैं पर आंकते नहीं । वे 'गोब्लिन' उनके पास आते हैं । जिस किसी को इन लोकों का जरा भी अनुभव हो, वह झट बता सकेगा कि वे कहां से आते हैं ।

शिष्य—फिर यह कैसी बात है कि लोग सोचते हैं और वे अपने-आप भी उन्हें महान् चित्र मानते हैं ।

श्रीअरविंद—सभी उन चित्रों को "महान् और अद्भुत" कहते हैं इसलिये वे भी ऐसा ही सोचने लगते हैं ।

इसके बाद सिरदर्द की बात चल पड़ती है जो या तो भौतिक कारण से होता है या प्रतिरोध के कारण ।

शिष्य—मैंने बहुत बार देखा है कि मेरा सिरदर्द, प्रणाम के समय माताजी के स्पर्श के बाद शुरू होता है ।

श्रीअरविंद—यह इसलिये हो सकता है कि तुम चेतना के एक स्तर से दूसरे में चले जाते हो ।

शिष्य—अचेतन रूप से ?

श्रीअरविंद—क्यों नहीं ? एकाग्रचित्तता की स्थिति में से प्रणाम के तुरंत बाद जब तुम औरों से मिलते हो तो तुम आसानी से एक और स्थिति में जा पहुंचते हो। इसीलिये माताजी लोगों को सलाह देती हैं कि ध्यान या प्रणाम के बाद कुछ समय शांत और अचंचल बने रहें।

शिष्य—एक बार मुझे ऐसा लगा कि सिर हवा में लटका हुआ था और शरीर के अवयवों का अस्तित्व ही न था।

श्रीअरविंद—यह मानसिक चेतना का अलगाव है।

शिष्य—क्या आप जान सकते हैं कि साधक को कैसी अनुभूतियां हो रही हैं, विशेषकर यदि वे निर्णायक अनुभूतियां हों ?

श्रीअरविंद—नहीं, मैं नहीं जान पाता, परंतु माताजी जानती हैं। जब कभी चेतना का प्रश्न होता है तो वे देख सकती हैं कि साधक में क्या परिवर्तन हो रहे हैं। जब वे साधक के साथ ध्यान करती हैं तो वे जान सकती हैं कि वह कौन से मार्ग का अनुसरण कर रहा है, जो मार्ग उन्होंने दिखलाया है या साधक अपनी ही लीक पर चल रहा है और बाद में चेतना में क्या परिवर्तन लाये गये हैं।

शिष्य—और साधक को कोई अनुभूति होती है तो क्या वह आपकी दी हुई होती है ?

श्रीअरविंद—हमारी अपनी चीजें उन्हें देने से क्या लाभ ? उन्हें अपनी ही वृद्धि पाने दो। जिन लोगों को हमेशा बुरी स्थिति में रहने की आदत है उनमें से कोई शक्ति डाल सकता हूं, जो लोग गलत राह पर चलते रहते हैं, मैं ऐसी कोशिश कर सकता हूं कि उनकी अवस्था सुधर सके। अगर साधक सहयोग दे तो चीज अपेक्षाकृत सरल होती है, अन्यथा यदि साधक निष्क्रिय हो तो परिणाम आने में बहुत समय लगता है। वह आता है, चला जाता है, फिर लौट आता है और अंत में शक्ति की विजय होती है। 'क' जैसे लोगों की स्थिति में हम प्रबल शक्ति रखते थे तो वह प्रकृतिस्थ हो जाता था और सारा प्राण ऊपर उछल पड़ता था और उसे पकड़ लेता था; जब कि यदि साधक सक्रिय रूप से भाग ले तो फिर समय का दसवां हिस्सा ही लगता है।

(क्रमशः)

मनुष्य के अंतर्गत हैं; तब अंतर्गत प्रतिफलित हो

मध्ययुगीन जीवन में एक अपनी अहंता उनके पुरोहित उत्तम नहीं हुए क्षणजीवी पक्ष कुल नहीं है जीवन-यापन वैज्ञानिक क अधिक सफ

बल्कि साथ एक है विशुद्ध दिव्य भगवान् के दी गयी थी चाहिये।

मनुष्यज

विचारमाला और सूत्रावली

मनुष्य के अहंकार से उसकी रक्षा करने के लिये धर्म और दर्शनशास्त्र सर्वोत्तम हैं, तब अंतरस्थ स्वर्ग का राज्य अपने-आप एक बाह्य दिव्य नगरी में प्रतिफलित हो उठेगा।

*

मध्ययुगीय ईसाई-धर्म ने मनुष्यजाति से कहा, 'ऐ मनुष्य ! तू अपने पार्थिव जीवन में एक अशुभ चीज है और ईश्वर के सामने एक कीट है; त्याग दे अपनी अहंता, एक भावी अवस्था के लिये जीवन-यापन कर और ईश्वर तथा उनके पुरोहित के अधीन हो जा।' इसके परिणाम मनुष्यजाति के लिये अति-उत्तम नहीं हुए। आधुनिक ज्ञान मनुष्यजाति से कहता है, 'ऐ मनुष्य ! तू एक क्षणजीवी पशु है और प्रकृति के लिये एक चींटी और एक केंचुए से अधिक कुछ नहीं है, तू विश्व के अंदर एक अनित्य बिंदु है। तो फिर राष्ट्र के लिये जीवन-यापन कर और एक चींटी की तरह सुशिक्षित शासक तथा सूक्ष्म वैज्ञानिक की अधीनता स्वीकार कर।' क्या यह शिक्षा पहली की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त करेगी ?

*

बल्कि वेदांत कहता है, 'ऐ मनुष्य ! तू स्वभावतः और तत्त्वतः भगवान् के साथ एक है, अपने साथी मनुष्यों के साथ एक आत्मा है। तो फिर जाग अपनी विशुद्ध दिव्यता तक अग्रसर हो, अपने अंदर तथा दूसरों के अंदर विद्यमान भगवान् के लिये जीवन यापन कर।' यही शिक्षा जो केवल थोड़े-से लोगों को दी गयी थी, अब समूची मनुष्यजाति को उसकी मुक्ति के लिये दी जानी चाहिये।

*

मनुष्यजाति सर्वदा अधिक-से-अधिक प्रगति तभी करती है जब वह प्रकृति

के सामने अपना महत्त्व, अपनी स्वाधीनता तथा अपनी विश्वव्यापकता को अधिक-से-अधिक प्रस्थापित करती है।

*

पशु-मानव धुंधला प्रारंभ-बिंदु है, आधुनिक प्राकृत मानव, बहुविध और जटिल मानव मध्य-पथ है, पर अतिप्राकृत मानव हमारी मानव-यात्रा का ज्योतिर्मय और परात्पर लक्ष्य है।

*

जब तुम अपने प्रत्येक विचार और कार्य में, कला साहित्य और जीवन में अपने परिवार, राजतंत्र और समाज में, धनोपार्जन, धनसंग्रह या धनव्यय करने में एकमेव अमर सत्ता का, उसके निम्नतर मर्त्य-स्वरूप के अंदर, प्रतिरूप बन जाने और उसे अभिव्यक्त करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हो, तब तुम्हारे लिये जीवन और कर्म संसिद्ध हो जाते हैं, सदा के लिये पूर्णता का मुकुट धारण कर लेते हैं।

—श्रीअरवि

पाठक जानते ही हैं कि देश में चीजों के दाम बेतहाशा बढ़ रहे हैं। अग्निशिखा, पुरोधा भी कोई अपवाद नहीं हैं। अब भी उनपर जो खर्च आता है वह उनसे मिलनेवाले चन्दे की अपेक्षा बहुत ज्यादा होता है, और अब नये बजट के साथ सम्भवतः खर्च और भी ज्यादा बढ़ जायेगा। क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे ग्राहक और पाठक हमारी कठिनाई को समझते हुए अपनी ओर से ही यथासंभव अधिक चन्दा भेजना शुरू करेंगे।

इसी तरह आजीवन सदस्यता का शुल्क भी हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम है। क्या हम आशा करें कि आजीवन सदस्य भी हमारी सहायता करने के लिये तत्पर रहेंगे।

स्फुट वचन

जब मैं दूसरों को दुःख भोगते हुए देखता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि मैं अभागा हूँ; परन्तु वह प्रज्ञा, जो मेरी नहीं है, आनेवाले श्रेय को देखती और मंजूर कर लेती है।

*

अपराधी को फांसी पर चढ़ाने के लिये ले जाते हुए देखकर सर फिलिप सिडनी¹ ने कहा था, “वह देखो, भगवान् की कृपा से वंचित सर फिलिप सिडनी जा रहा है।” पर और भी अधिक ज्ञान की बात होती यदि उन्होंने कहा होता, “वह देखो, भगवान् की कृपा से सर फिलिप सिडनी जा रहा है।”

*

भगवान् बहुत बड़े और निर्दयी उत्पीड़क हैं, क्योंकि वह प्यार करते हैं। तुम इस बात को नहीं समझते, क्योंकि तुमने न तो कृष्ण को देखा है और न उनके साथ खेले हो।

*

किसी ने कहा था कि नेपोलियन एक निरंकुश शासक तथा बहुत बड़े हत्यारे थे; परन्तु मैंने सशस्त्र भगवान् को यूरोपभर में विचरण करते हुए देखा।

*

मैं भूल गया हूँ कि पाप क्या है और पुण्य क्या; मैं तो केवल भगवान् को, जगत् के अंदर उनकी लीला को तथा मानवता के अंदर उनकी इच्छा को ही देख पाता हूँ।

—श्रीअरविंद

¹ इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध कवि और असाधारण प्रतिभासंपन्न व्यक्ति।

SRI AUROBINDO SOCIETY
Society House, Pondicherry - 605 002

Notice for the Annual General Meeting

The Annual General Meeting of the members of Sri Aurobindo Society will be held on Saturday the 26th October 1991 at 4.00 p.m. at Sri Aurobindo Bhawan, 8, Shakespeare Sarani, Calcutta - 700 071, to transact the following business :-

1. To confirm the minutes of the last Annual General Meeting held on 20.10.1990.
2. To consider and approve the audited Balance Sheet as at 31.3.1991 and Income and Expenditure Account of the Society for the year ending 31.3.1991.
3. To consider and adopt the Executive Committee's annual report of activities for the year 1990-91.
4. To appoint an auditor for the Society for the year 1991-92.
5. To consider any other matter with the permission of the Chair.

BY ORDER of the Executive Committee

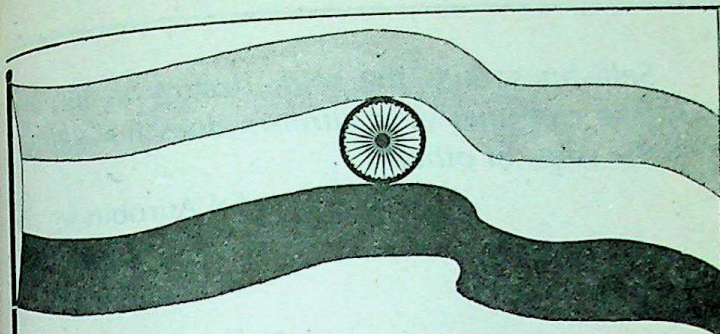
26th August 1991
Pondicherry

Sd-
Kishorilal Dhandhanla
General Secretary

Note: The members are entitled to appoint Proxy if they so desire. Proxies, if any, must be deposited at the Registered Office of the Society at 8, Shakespeare Sarani, Calcutta - 700 071, during office hours, in advance, but not less than 48 hours before the time fixed for holding the meeting.



सितंबर १९९१



इसे हृदय से लगायें

यह झंडा प्रतीक है
हमारी स्वतंत्रता का,
स्वतंत्रता संग्राम के दौरान शहीद हुए
करोड़ों देशभक्तों की कर्बानियों का।

आज हम याद करते हैं
उन सभी देशवासियों को
जो सभी भाषाओं और राज्यों के थे,
जिनमें अमीर भी थे और गरीब भी,
पुरुष भी थे और महिलाएं भी,
बूढ़े भी थे और जवान भी,
और जिन्होंने राष्ट्र की सुरक्षा
और खुशहाली की लड़ाई लड़ी।

यह झंडा हमारे दिल में बसता है,
हम इसका सम्मान करते हैं,
यह भारत की शक्ति का प्रतीक है,
और यह हमें एक सूत्र में बांधता है।

इस झंडे के गौरव की रक्षा करें

devp 91/274

*Selfishness kills the soul; destroy it. But
take care that your altruism does not kill
the souls of others.*

Sri Aurobindo

Assam Tea Warehousing Corporation

*Registered and approved Warehouse
at Gauhati (Assam)*

H.O.: 8, Camac Street, Room No. 7
Shantiniketan Building
CALCUTTA – 700 017

प्रतिनिधि

ut
ll

0

tion

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

बुन्देल (राजस्थान) - ३३३ ००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवं शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर - २४७००१

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अक्टूबर १९९१

अग्निशिखा

अग्निशिखा

संदेश

'संपादकीय'

देवन्दिनी

साध्य-वार्ता

माताजी और

तरुण स

सोसायटी स

अग्निशिखा

संपादक :

प्रकाशक :

मुद्रक : अ

अग्निशिखा अक्टूबर १९९१

वर्ष २२, अंक ३, पूर्णांक २५५

विषय-सूची

संदेश	श्रीमां	२
'संपादकीय' : आशीर्वाद	अनुबेन	३
देवन्दिनी		५
साम्य-वार्ताएं (गतांक से आगे)		७
माताजी और श्रीअरविंद के साथ एक		
तरुण साधक का पत्र-व्यवहार		३५
सोसायटी समाचार		३९

अग्निशिखा वार्षिक १०.००

आजीवन २२५.००

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



उद्बुध्यस्वाम्रे प्रति जागृहि

संदेश

उन लोगों के लिये जो मिथ्यात्व से छुटकारा पाने के लिये उत्सुक हैं यह मार्ग है :

अपने-आपको खुश करने की कोशिश न करो, औरों को खुश करने की भी कोशिश न करो। केवल प्रभु को खुश करने की कोशिश करो क्योंकि केवल वे ही सत्य हैं। हम मनुष्यों में से सभी और प्रत्येक अपने भौतिक शरीर में भगवान् पर डाला गया असत्य का एक लबादा हैं जो उन्हें छिपा रहा है।

चूँकि वे ही अपने प्रति सत्य हैं इसलिये हमें उन्हीं पर एकाग्र होना चाहिये, मिथ्यात्व के लबादों पर नहीं।

—माताजी

संपादकीय :

कई बरस पह
हुए कहा था
तरह होगा ज
दीखता है अ
है।" आजक
रहे हैं; उन्हें
होने को है।
मन से परे उ
जगत् में उस
दिखलायी दे
परिवर्तन हमें
किंतु जब दृ
चमत्कारिक
अगर ह
स्वार्थ से प्रेरि
अधिकारी व
लगाये हैं, व
करने में, का
हो छोड़िये,
चलाते रहते
होती; फिर
नागरिकों की
विदेश जाकर
किसलिये ?

संपादकीय :

आशीर्वाद

कई बरस पहले किसी प्रसंग में माताजी ने संसार की स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा था, "परिस्थितियों में बदलाव हठात्, आकस्मिक होगा। वह इसी तरह होगा जैसा अंडे के साथ होता है; एक क्षण अंडा जैसा-का-वैसा ही दीखता है और दूसरे ही क्षण उसे फोड़कर एक नन्हा चूड़ा बाहर निकल आता है।" आजकल संसार में बिजली की गति से, प्रायः चमत्कारिक परिवर्तन होते हैं; उन्हें देखकर ऐसा लग रहा है मानों माताजी की भविष्यवाणी चरितार्थ होने को है। १९५६ में श्रीअरविंद के तप और उनके बरसों के संघर्ष के बाद मन से परे अतिमानसिक ज्योति का धरती पर अवतरण हुआ था और भौतिक जगत् में उसका प्रभाव इसी तरह के आकस्मिक, अकल्पनीय परिवर्तनों द्वारा दिखलायी देता है। इस समय चाहे यूरोप में हो, चाहे रूस में, ये अप्रत्याशित परिवर्तन हमें दिखायी दे रहे हैं। निश्चय ही हम इन घटनाओं से प्रसन्न होते हैं किंतु जब दृष्टि अपने ही घर, भारत की ओर जाती है तो वहां कहीं भी ऐसे चमत्कारिक परिवर्तन दिखलायी नहीं देते। कारण क्या है ?

अगर हम सच्चाई से देखना चाहें तो यही देखते हैं कि हमारी राजनीति स्वार्थ से प्रेरित है, कोई राष्ट्र का हित नहीं देखता, सब अपना हित देखते हैं। अधिकारी वर्ग की ओर देखें, तो वे अपनी ही सुरक्षा और कुर्सी पर नजर लगाये हैं, कहीं भी सेवा-भाव से कार्य नहीं हो रहा, व्यापारी-वर्ग को तस्करी करने में, काला-बाजार गरम रखने में कोई शर्म नहीं आती। शिक्षकों की बात हो छोड़िये, वे परीक्षा के प्रश्नों के उत्तर रटवा देते हैं, अपना अलग व्यवसाय चलाते रहते हैं; उन्हें बच्चों के विकास में, उनकी प्रगति में कोई रुचि नहीं होती; फिर भला बच्चों में ज्ञान-पिपासा कहां से जागे ? रही बात सामान्य नागरिकों की तो वे पहले अपना स्वार्थ देखते हैं फिर परिवार को देखते हैं और विदेश जाकर बसने के सपने देखते हैं। अब देशप्रेम की बला को अपनायें तो किसलिये ? देश के लिये मर-मिटनेवाले स्वाधीनता संग्राम में बहुत थे किंतु

स्वाधीन भारत के लिये किसी विरले को ही प्रेम है। इनकी संख्या इतनी कम है कि विराट् जनसमूह में वे बालू में एक-दो चावल के दानों के बराबर हैं।

आज के भारत का वातावरण व्यथा से भरा हुआ, संघर्षमय और प्रदेशों की अस्तव्यस्तता से भरा हुआ है। यह स्थिति देखकर स्वाधीनता से पहले लिखी गयी माताजी की एक प्रार्थना याद आती है :

“हे प्रभो, हे शाश्वत स्वामी !

शक्तियों के संघर्ष से प्रेरित मनुष्य एक उत्कृष्ट यज्ञ कर रहे हैं। वे अपने जीवन को रक्तरंजित पूर्णाहुति में अर्पित कर रहे हैं...

“हे प्रभो, हे शाश्वत स्वामी, वर दे कि यह सब व्यर्थ न जाये। वर दे कि तेरी दिव्य शक्ति की अनंत धाराएं सारी धरती पर फैल जायें और व्यक्ति वातावरण, संघर्षमय ऊर्जाओं, युद्धरत तत्त्वों की उग्र अस्तव्यस्तता में प्रवेश करें, वर दे कि तेरे ज्ञान का शुद्ध प्रकाश और तेरे आशीर्वाद का अक्षय प्रेम मनुष्यों के हृदय को भर दे, उनकी आत्माओं में व्याप्त हो जाये, उनकी चेतना को प्रज्वलित कर दे और इस अस्पष्टता में से, इस उदासी में से, इस भयानक और सशक्त अंधकार में से तेरी तेजस्वी उपस्थिति के वैभव को प्रकट करे !”

इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानों इसे कुछ महीनों पहले लिखा गया हो। क्या कारण है कि संसार में इतने परिवर्तन हुए किंतु भारत इस समय त्रिशंकु की तरह लटक रहा है ?

हम अन्य राष्ट्रों का अतिमानसिक प्रभाव स्वीकार करने के लिये अभिन्न रह करते हैं और अपने देशवासियों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने हृदय को गहराई में जाकर अपने लिये, राष्ट्र के लिये उचित मार्गदर्शन के लिये प्रार्थना करें।

अगर हम सब प्रयास करें तो भारत अखंड होगा, समृद्ध होगा और पृथ्वी पर स्वर्ग बन जायेगा।

आइये हम परम प्रभु से ऐसा ही आशीर्वाद मांगें।

—अनुके

अक्तूबर

१. एक प्रव है।
२. अभी ज
३. स्वर्ग क दे।
- अपने ह
४. हे भग किसलि
- विजय
५. वर दे लक्ष्य
६. अपने पाने के
७. अंतरा के स्वा
८. सबसे
९. मनुष्य तू है,
१०. जैसे-उ
११. किसी
१२. सुरक्षि
१३. उसकी
१४. हर रे संयोग

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. एक प्रकाश है वहां जो पथ दिखाता है, एक शक्ति है जो सहायता करती है।
२. अभी जो नहीं है या दूर है वह सब निकट आ जायेगा।
३. स्वर्ग की पुकार विरल होती है और विरलतर होता है वह हृदय जो कान दे।
अपने हृदय की धड़कनों को जीत ले। तेरा हृदय भगवान् में धड़के।
४. हे भगवान् के सैनिक और वीर, यह सब दुःख, लज्जा और कष्ट किसलिये? तेरा जीवन तो एक गौरव है, तेरे कार्य आत्म-निवेदन हैं, विजय तेरा देवत्व है और पराजय तेरी जीत है।
५. वर दे कि हमारा मार्ग पूर्णता का मार्ग हो, परित्याग का नहीं, हमारा लक्ष्य युद्ध में विजय हो, समस्त संघर्ष से पलायन नहीं।
६. अपने ऊपर जो भी विजय प्राप्त होती है उसका अर्थ होता है नयी विजयें पाने के लिये बल पाना।
७. अंतरात्मा की आंतरिक शक्ति से जीवन का चेहरा देखो और परिस्थितियों के स्वामी बन जाओ।
८. सबसे अधिक सुखी है वह जो श्रद्धा पर ऐसे खड़ा हो जैसे चट्टान पर।
९. मनुष्य आशा और साहस इसीलिये करता है क्योंकि तू उसमें है।
तू है, इसीलिये मनुष्य की आत्माएं स्वर्ग तक चढ़ सकती हैं।
१०. जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है, अंदर से प्रकाश चमकता है।
११. किसी दिन, निश्चय ही प्रेम जगत् को मृत्यु से बचा लेगा।
१२. सुरक्षित वही है जो भगवान् को अपने हृदय में रखे।
१३. उसकी असफलता असफलता नहीं है जिसे भगवान् राह दिखलाते हैं।
१४. हर रेखा और हर गोलाई का कुछ अर्थ है।
संयोग के हर खेल का कुछ अर्थ होता है।

१५. जब सब कुछ असफल हो जाये तो हम अपने ही अंदर पूर्ण परिवर्तन की चाबी छिपी हुई पा सकते हैं।
१६. पीड़ा मनुष्यों को महानता में गढ़नेवाला प्रकृति का हाथ है।
१७. असली कठिनाई हमारे परिवेश में नहीं, सदा-सर्वदा हमारे अंदर होती है।
१८. तीव्रता से अभीप्सा करो परंतु अधीर हुए बिना।
१९. पलायन, चाहे जितना ऊंचा हो, जीवन का उद्धार नहीं करता।
२०. जीवन, जीवन, जीवन—मैं भावावेशों को चिल्लाते हुए सुनता हूँ। भगवान्, भगवान्, भगवान्—यह रहा अंतरात्मा का उत्तर। जबतक जीवन को भगवान् के रूप में न देखे, उससे प्यार न करे तबतक स्वयं जीवन तेरे लिये मुहरबंद आनंद रहेगा।
२१. अनंत में ही हमारे जीवन का विश्राम है।
२२. ऊतकों और कोषाणुओं में एक दिव्य शक्ति बहेगी और श्वास, वाणी तथा क्रिया को बदल देगी।
२३. भीतर एक चैत्य अग्नि जलानी चाहिये जिसमें भगवान् का नाम लिख-लिख कर हर चीज झोंक दी जाये।
२४. सत्य वास्तविक आध्यात्मिकता का आधार है और साहस है उसके अंतरात्मा।
२५. सभी वस्तुओं को मधु में बदल दो, दिव्य जीवन का यही गुर है।
२६. अंतरात्मा भगवान् की एक चिनगारी है, भगवान् की ओर ज्वाला के रूप में बढ़ना उसका सच्चा जीवन और उसके अस्तित्व का प्रयोजन है।
२७. नीरव हृदय अनुच्चारित शब्द को सुनता है।
२८. यह एक आशा नहीं, निश्चिति है कि प्रकृति का पूर्ण रूपांतर होके रहेगा। भागवत स्पर्श हो तो सब कुछ हो सकता है।
२९. सभी विपरीतताएं भगवान् के चेहरे के पहलू हैं।
३०. परोपकार, कर्तव्य, परिवार, देश, मानवजाति जब अंतरात्मा के यंत्र न हों तो उसके कारागार होते हैं।
३१. नीचे ले जानेवाला रास्ता तेज और आसान होता है।

२७ दिसम्बर

श्रीअरवि
हैं कि 'स'
और उसके
पांडिचेरी की
"पांडिचेरी"
आखिर मैं
कॉर्पोरेशन
हैं।"

शिष्य—
ही बुरी हाल
श्रीअरवि
ऐसे भ्रष्टाचार
स्थिति है।
किसी संस्था
जिसका इरा
पता नहीं ल
का महापौर
अफसर उ
बात नहीं त
इंग्लैंड
कि संसदी
में है।

शिष्य—
सबसे अच
श्रीअर
हर चीज

सांध्य वार्ताएं

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
(गतांक से आगे)

२७ दिसम्बर १९३८

श्रीअरविंद ने अपने-आप बातचीत शुरू की और 'क' से कहा, "मैंने सुना है कि 'स' अपनी गाड़ी में एक अंगरक्षक को साथ लेकर घूमता-फिरता है और उसके आगे-पीछे साइकिल पर दो पुलिसवाले रहते हैं।" उसके बाद पांडिचेरी की राजनीति के बारे में बात चल पड़ी। तब श्रीअरविंद ने कहा, "पांडिचेरी और कलकत्ता कॉरपोरेशन को देखकर मैं सोचने लगता हूं कि अखिर मैं गणतंत्र के लिये इतना उत्सुक क्यों था ? पांडिचेरी और कलकत्ता-कॉरपोरेशन दो ऐसे 'वस्तु-पाठ' हैं जो स्वशासन के लिये सारा उत्साह हर लेते हैं।"

शिष्य—क्या कांग्रेस के आने से पहले भी कलकत्ता-कॉरपोरेशन की ऐसी ही बुरी हालत थी ?

श्रीअरविंद—नहीं, तब उसके लिये इतना क्षेत्र न था—हमें कम-से-कम ऐसे भ्रष्टाचारों का पता न था। अन्य म्यूनिसिपल शासनों के बारे में भी यही स्थिति है। न्यूयार्क और शिकागो में आवे का आवा ही भ्रष्ट है। कभी-कभी किसी संस्था का अध्यक्ष ही ऐसा होता है तो कभी-कभी एक महापौर आता है जिसका इरादा होता है कि सब कुछ साफ किया जाये, लेकिन सफाई के बाद पता नहीं लगता कि पहले की स्थिति ज्यादा अच्छी थी या बाद की। शिकागो का महापौर बहुत बड़ा अपराधी था पर वहां के सभी न्यायाधीश और पुलिस-अफसर उससे वेतन पाते थे। फ्रांस में भी यही चीज है। तो यह आश्चर्य की बात नहीं है कि लोग गणतंत्र से बेज़ार हो गये।

इंग्लैंड अपेक्षाकृत कम भ्रष्ट है। अंग्रेज जाति अकेली ही है जो जानती है कि संसदीय व्यवस्था का काम कैसे किया जाये। संसदीय शासन उनके रक्त में है।

शिष्य—ऐसा लगता है कि हमारे लिये हमारी प्राचीन भारतीय व्यवस्था ही सबसे अच्छी थी। वह इतनी अच्छी तरह सफल कैसे हो पायी ?

श्रीअरविंद—प्राचीन भारतीय व्यवस्था जीवन में से उपजी थी, उसके अंदर हर चीज के लिये, हर हित के लिये स्थान था। उसमें राजतंत्र, कुलीनतावाद,

गणतंत्र सबके लिये स्थान था जब कि यूरोप में पाश्चात्य राजतंत्र मन से फैल हुआ। तर्कबुद्धि उनका नेतृत्व करती है और वे चाहते हैं कि हर चीज कठो-छंटी तथा विधिपुरःसर हो जिसमें स्वाधीनता या परिवर्तन के लिये कोई स्थान नहीं। अगर गणतंत्र रखना है तो बस गणतंत्र ही हो जिसमें हेर-फेर का कोई स्थान न हो। वे नमनीय नहीं हो सकते।

अब भारत पश्चिम की नकल करने की कोशिश कर रहा है। संसदीय शासन भारत के लिये उपयुक्त नहीं है, परंतु हम हमेशा वही चीजें लेते हैं जिन्हें पश्चिम फेंक देता है। सर अकबर हैदरी एक नये प्रकार का शासन चलाना चाहते थे जिसमें शीर्षस्थ निष्पक्ष अधिकारी होता। वहां हैदराबाद में हिंदू बहुमत को शिकायत है कि यद्यपि मुसलमान अल्प-संख्यक हैं पर अधिकतर अधिकार उन्हींके हाथ में हैं। सर अकबर के उपाय के अनुसार प्रायः सभी हितों का शासन में प्रतिनिधित्व होता और स्वभावतः अधिक हिंदू आ जाते, लेकिन हिंदुओं की अनुत्तरदायी प्रशासन की पुकार के कारण उनकी यह योजना सफल न हो पायी। उनके मन में निश्चित विचार होते हैं और वे हर चीज को उसीमें बांध देना चाहते हैं। वे अपने-आप अपने लिये नहीं सोच सकते अतः उन चीजों को अपना लेते हैं जिन्हें औरों ने फेंक दिया है।

शिष्य—भारत के लिये आदर्श शासन के बारे में आपका क्या विचार है? हैदराबाद में यह संभव है जहां निज़ाम-राज्य है, लेकिन भारतीय विधान में इसे कैसे बिठाया जा सकता है?

श्रीअरविंद—सर अकबर का विचार और विचारों की तरह ही अच्छा है। मेरा विचार कुछ ऐसा है जैसा एक बार टैगोर ने लिखा था। एक शीर्षस्थ राष्ट्रपति हो जिसके हाथ में काफी अधिकार हो ताकि वह नीति के सातत्य को चला सके और राष्ट्र की प्रतिनिधि-सभा हो। प्रांतों का एक संघ होगा जो ऊपर केंद्र से जुड़ा होगा, जो स्थानीय संस्थाओं के हाथ में काफी क्षेत्र छोड़ देगा ताकि वे स्थानीय समस्याओं की आवश्यकता के अनुसार कानून बना सकें। मसोलिनी ने भारतीय पद्धति के आधार पर काम करना शुरू किया था पर पीछे चलकर साम्राज्यवाद के लिये अन्य देशों को डराना-धमकाना शुरू किया। अगर वह अपने पहले विचारों के अनुसार ही चलता रहता तो वह एक महान् स्रष्टा बन जाता।

शिष्य—
चाहिये जिसमें
लोग हों।

श्रीअरविंद—
तुलत लड़ना—

राजाओं का
हुए थे।

शिष्य—
जाये।

श्रीअरविंद—
लड़ने दिया

वर्तमान

गांधी स्टालिन

कुछ कह दे

अनुसरण कर

उसके बाद

सिवा किसी

ही मतभेद

सब प्रांतों के

हों। किसी

निश्चित होती

का अधिकार

या कि कांग्रेस

जनता के लि

शिष्य—

दी। उन्हें इ

दिया था। वे

श्रीअरवि

अक्टूबर १९९१

शिष्य—डा० भगवान् दास कहते हैं कि एक ऐसी विधान सभा होनी चाहिये जिसमें सब चालीस वर्ष से ऊपर के तथा ऋषियों के सदृश निःस्वार्थ लोग हों।

श्रीअरविंद—ओ, ऋषि-सदन ! यह तो बहुत आशाजनक न होगा। वे तुरंत लड़ना-झगड़ना शुरू कर देंगे। कहा जाता है कि प्राचीन काल में ऋषि राजाओं का मार्ग-दर्शन कर सकते थे क्योंकि वे अलग-अलग स्थानों पर बैठे हुए थे।

शिष्य—उनका विचार है कि सभी महापुरुषों को एक जगह इकट्ठा किया जाये।

श्रीअरविंद—(हंसते हुए) और शायद उनको किलकेनी बिल्लियों की तरह लड़ने दिया जाये।

वर्तमान स्थिति में कांग्रेस एक फासिस्ट संस्था के सिवा और क्या है ? गांधी स्टालिन की तरह डिक्टेटर है, मैं हिटलर की तरह नहीं कहूंगा। गांधी जो कुछ कह दे लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं और कार्यकारिणी समिति भी उसका अनुसरण करती है। फिर चीज अखिल भारतीय समिति के पास जाती है और उसके बाद अखिल भारतीय कांग्रेस उसे स्वीकार कर लेती है। सोशलिस्टों के सिवा किसी और को मतभेद प्रकट करने का अवसर नहीं मिलता, केवल उन्हें ही मतभेद करने का अधिकार है। वे जो भी प्रस्ताव पारित करें उन्हें मानना सब प्रांतों के लिये बाध्यकारी होता है चाहे वे प्रांतों के लिये उपयुक्त हों या न हों। किसी अन्य स्वतंत्र मत के लिये गुंजाइश नहीं होती। सभी चीजें पहले से निश्चित होती हैं और स्टालिन की संसद की तरह इन्हें भी बस बातचीत करने का अधिकार होता है। जब हमने आंदोलन शुरू किया था तो हमारा विचार था कि कांग्रेस के गुटतंत्र को निकाल बाहर करेंगे और सारा संगठन सामान्य जनता के लिये खोल देंगे।

शिष्य—श्रीनिवास आयंगर ने गांधी के साथ मतभेद के कारण कांग्रेस छोड़ दी। उन्हें इस बात पर आपत्ति थी कि गांधी ने राजनीति को धार्मिक रंग दे दिया था। वे राजनीति में धर्म को लाने के विरोध में थे।

श्रीअरविंद—उन्होंने चरखे को श्रद्धा का एक सूत्र बना लिया था और उन

सब लोगों को कांग्रेस से अलग कर दिया जो सूत नहीं कातते थे। किन्तु हैं जिन्हें उनके चरखा-सिद्धांत में विश्वास है ? ऊर्जा का इतना अधिक अपव्यय और वह भी कुछ आनों के लिये, बिल्कुल बेतुका है।

शिष्य—उन्होंने शायद नियंत्रण लाने के लिये यह किया होगा ?

श्रीअरविंद—नियंत्रण तो ठीक है लेकिन एक बार तुम केंद्रित होना शुरू कर दो तो फिर केंद्रित होते चले जाते हो।

शिष्य—यह कृषि-प्रधान प्रांतों में सफल नहीं हुआ और ऐसा लगता है कि अन्य स्थानों में सफल रहा, विशेषकर उन स्थानों पर जहां लोगों के पास काम न था।

दूसरा शिष्य—बंगाल में यह सफल नहीं हुआ।

श्रीअरविंद—बंगाल में यह सफल नहीं हुआ। दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्र में राहत-कार्य के रूप में यह ठीक हो सकता है, लेकिन जब वह अखिल भारतीय कार्यक्रम का रूप ले लेता है तो बेतुका बन जाता है। अगर तुम कोई ऐसा कार्यक्रम बनाओ जो कृषिप्रधान प्रजा की स्थिति के अनुकूल हो तो ठीक है। उन लोगों को शिक्षा दो, तकनीकी प्रशिक्षण दो, संगठन या व्यवस्था के आधारभूत सूत्र समझाओ—राजनीतिक नहीं व्यापारिक दृष्टि से। लेकिन गांधी को ऐसा कोई औद्योगिक संगठन पसंद नहीं है। वे अपना जादुई सूत्र लेकर आते हैं, “कातो, कातो, कातो।” इसके विरोध में चित्तरंजन दास और दूसरे लोग इसमें संतुलन लाने का प्रयास कर सकते थे, परंतु यह सारी चीज अंधविश्वास जैसी बन गयी है।

डेनमार्क और आयरलैंड ने इसी तरह की व्यवस्था की थी। लेकिन अब उनके कष्ट भोगने की बारी है, क्योंकि अब अन्य देश आत्म-निर्भर होने की कोशिश कर रहे हैं। मैं इस तरह की आत्म-निर्भरता पर विश्वास नहीं करता क्योंकि यह जीवन के सिद्धांत के विपरीत है। देशों के लिये इस तरह आत्म-निर्भर होना संभव नहीं है।

शिष्य—हिन्दी के लोक-भाषा होने के बारे में आपकी क्या राय है ? मुझे लगता है कि अंग्रेजी ने इतना स्थान ले लिया है कि उसे अपने स्थान से हटाना बुद्धिहीन और कठिन काम होगा।

श्रीअरविंद और आवश्यक होना चाहिये, भाषा के रूप दी और इस विश्वविद्यालय जब राष्ट्रीय क्रांति से पहले चाहते थे, पंडा पड़ गया शिष्य— क्यों देता है दूसरा शिष्य— दिया था। श्रीअरविंद सहायता की उनसे इच्छा दो! सच्चा कि लोग कि जाता है— एक भविष्य उन्हें येरूशाल यहूदियों था। संसार लेकिन अंग्रेज स्कॉट में अंग्रेजों दो आदमी

श्रीअरविंद—अगर भारत को अंतर्राष्ट्रीय राज्य होना है तो अंग्रेजी ठीक और आवश्यक भी होगी। उस दशा में अंग्रेजी को अभिव्यक्ति का साधन होना चाहिये, विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जब आजकल अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में फ्रेंच का स्थान ले रही है। लेकिन राष्ट्रीय भावना इसे न आने देगी और इसलिये भी कि वह एक विदेशी भाषा है। लेकिन साथ ही हिन्दी विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी या प्रादेशिक भाषाओं के स्थान पर न आ सकेगी। जब राष्ट्रीय भावना उठती है तो यह कहना मुश्किल होता है कि क्या होगा। क्रांति से पहले लोग आयरलैंड में अंग्रेजी को हटाकर गैलिक भाषा चलाना चाहते थे, परंतु समय बीतने पर जब चीजें स्थिर होने लगीं तो उनका उत्साह ठंडा पड़ गया और अंग्रेजी वापिस आ गयी।

शिष्य—मेरी समझ में नहीं आता कि हिटलर यहूदियों को इतनी यातना क्यों देता है ?

दूसरा शिष्य—मैंने सुना है कि युद्ध के समय यहूदियों ने जर्मनी को धोखा दिया था।

श्रीअरविंद—बकवास, इसके विपरीत उन्होंने युद्ध में जर्मनी की बहुत सहायता की थी। यह इसलिये है कि वह एक चालाक जाति है और दूसरों को उनसे ईर्ष्या होती है। जो भी गड़बड़ हो बस, यहूदियों की ओर इशारा कर दो! सच्चा कारण खोजने की अपेक्षा यह बहुत ज्यादा आसान है, या फिर यह कि लोग किसी पर प्रहार करना चाहते हैं और इसके लिये एक आम नारा मिल जाता है—“यहूदी, यहूदी।” तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें यहूदियों के बारे में एक भविष्यवाणी बतलायी थी कि जब यहूदियों को यातनाएं दी जायेंगी और उन्हें येरूशलम खदेड़ दिया जायेगा तब सुनहरा युग आयेगा ?

यहूदियों ने ही जर्मनी के व्यापारिक बेड़ों और उसकी नौ-सेना का निर्माण किया था। संसार के हर क्षेत्र की प्रगति में यहूदियों का योगदान बहुत अधिक है।

लेकिन इस तरह की नापसंदगी अन्य जातियों में भी है; उदाहरण के लिये अंग्रेज स्कॉट लोगों को पसंद नहीं करते, क्योंकि स्कॉट लोगों ने व्यापार के क्षेत्र में अंग्रेजों को पीछे छोड़ दिया है। पंच पत्रिका में एक प्रसिद्ध चुटकुला था : दो आदमी आपस में बातें कर रहे थे। एक ने कहा, “बिल, यह आदमी कौन

है ?" दूसरे ने कहा, "चलो उसे पीटें, कोई अजनबी मालूम होता है।"

और फिर बंगाल में पश्चिम बंगाल के लोग पूरबी बंगालवाले को "बांगाल" कहा करते थे। वे कहते थे, "बांगाल मानुष नोहे ओ एकटा जनु" यानी पूर्व बंगाल के लोग मनुष्य नहीं पशु हैं। एक समय था जब मैं सारे साल मोजे पहने रहता था। पश्चिम बंगालवाले इसका मजाक उड़ाया करते थे। वे मुझसे कहते थे, "तुम बांगाल हो।" वे समझते थे कि वे संसार में सबसे ज्यादा सभ्य लोग थे। यह पशु जगत् की वसीयत है, जैसे एक गली के कुत्ते दूसरी गली के कुत्तों को नहीं देख सकते।

शिष्य—मैं आशा करता हूँ चीजों में सुधार होगा ?

श्रीअरविंद—अगर यह चीज चली जाये तो विश्वास करो कि सुनहरा युग आ रहा है ! मेरे सारे मत वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर हैं। लेकिन अगर अतिमानस नीचे उतर आये तो चीजें और तरह की होंगी।

शिष्य—आप अपने अतिमानस की बातों से हमें बहुत प्रलोभन दे रहे हैं, लेकिन क्या उससे सारी मनुष्यजाति को लाभ होगा ?

श्रीअरविंद—इससे ऊपर की ओर एक आकर्षण तो होगा ही, लेकिन काफी परिवर्तन लाने के लिये और प्रभावशाली होने के लिये आश्रम के दो सौ आदमी काफी नहीं हो सकते। इसके लिये हजारों लोग होने चाहियें जिनका प्रभाव सारे जगत् पर फैल सके, जो वास्तविक परीक्षण द्वारा प्रमाणित कर सकें कि अभीतक जिन साधनों का उपयोग हुआ है यह उनसे अधिक श्रेष्ठ है।

शिष्य—क्या उसका वैश्व चेतना की तरह सारी मानवजाति पर प्रभाव होगा ?

श्रीअरविंद—हम इस प्रश्न का उत्तर अतिमानस पर ही छोड़ेंगे। वह जब आयेगा तब बतलायेगा।

शिष्य—जड़वादी और वैज्ञानिक कहते हैं कि योगियों ने मानवजाति के सुख के लिये कुछ नहीं किया। बुद्ध और अन्य अवतार आये और चले गये पर मानव दुःख-दैन्य जैसा का वैसा बना रहा।

श्रीअरविंद—क्या अवतार मानव जाति के दुःख दूर करने के लिये आते हैं ? केवल बुद्ध ने पीड़ा से मुक्ति की राह दिखायी थी। लेकिन उनका मार्ग

अक्टूबर १९११

था जगत् से बाहर होकर निर्वाण में प्रवेश करना। क्या मानवजाति उनका अनुसरण करती है ? और अगर वह उनका अनुसरण नहीं करती और कष्ट से मुक्ति नहीं पाती तो यह बुद्ध का दोष नहीं !

शिष्य—वे कहते हैं कि वैज्ञानिक और चिकित्सा-संबंधी अन्वेषणों ने जगत् की स्थिति में बहुत सुधार किया है : उदाहरण के लिये हैजे और बड़ी माता के मूचीवेधों के कारण इन रोगों से मृत्यु की दर बहुत कम हो गयी है।

श्रीअरविंद—और क्या वे खुश हैं ? टीका ! बुद्धि-प्रधान लोगों का कहना है कि टीके ने लाभ की अपेक्षा हानि ज्यादा पहुंचायी है।

शिष्य—परंतु यह डॉक्टरों की नहीं बुद्धिवादियों की राय है।

श्रीअरविंद—क्यों ? बुद्धिवादियों ने अपनी राय देने से पहले विषय का अध्ययन किया है। इन टीकों ने हैजा वगैरह को कम कर दिया होगा पर वे जो अन्य चीजों को लेकर आये उनके बारे में क्या ? पीड़ा के बारे में ! पीड़ा तबतक नहीं जा सकती जबतक अज्ञान बना रहेगा। अतिमानस के उतर आने के बाद भी पीड़ा बनी रहेगी। अगर तुम पीड़ा में रहना पसंद करो तो वह कैसे जा सकती है ?

शिष्य—डॉक्टर लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध भी टीका लगवाने के लिये बाधित कर सकते हैं, क्या आध्यात्मिक शक्ति ऐसा कर सकती है ? योगी अपनी ही मुक्ति में लगे रहे और मानवजाति जैसी की वैसी बनी रही।

श्रीअरविंद—विकास जड़ पदार्थ से पशु में से होता हुआ भौतिक मनुष्य, प्राणिक मनुष्य, मानसिक और आध्यात्मिक मनुष्य तक पहुंचा है। जब मानसिक या आध्यात्मिक मनुष्य प्रकट होते हैं तो दूसरे गायब नहीं हो जाते। इसी तरह शेर, सांप वगैरह आदमी नहीं बन जाते। तुम यह नहीं कह सकते कि मानव चेतना के आरोहण में बुद्ध, ईसा आदि ने कोई भाग नहीं लिया।

मैं ऐसा मानता हूं कि अतिमानस आध्यात्मिक मनुष्य की पराकाष्ठा है। मैं आशा करता हूं कि जब अतिमानस प्रतिष्ठित हो जायेगा तो आदमी को जीवन से भागने की जरूरत न रहेगी। वह कुछ ऐसी क्रियात्मक चीज है जो जीवन और प्रकृति को बदल देगी। वह प्राणिक, मानसिक और भौतिक को भी अंतर्भासात्मक और अधिमानसिक स्तरों की ओर खोल देगा।

तुम आराम और सुख चाहते हो, इस अवस्था में सत्य और ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है।

आधुनिक विज्ञान की खोजें अपनी उपयोगिता, उनका उपयोग करने की मानव क्षमता को पार कर चुकी हैं और अब वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आता कि वे इन खोजों का करें क्या। उनका उपयोग विनाश के लिये ही किया जाता है। अब बड़ी माता के जीवाणुओं को आकाश से बरसा कर लोगों को मारने की कोशिश की जाती है, वे कम-से-कम मृत्यु द्वारा पीड़ा को समाप्त कर देते हैं, पर बम-वर्षा द्वारा मनुष्य को सारे जीवन के लिये विकृत कर देते हैं। राजनीति, विज्ञान, समाजवाद में से कोई भी पीड़ा से बाहर निकलने का रास्ता नहीं निकाल पाया। उन्होंने लोगों की हत्या की है, वे एक दूसरे की हत्या करते हैं और राष्ट्र को संकट में डाल देते हैं, हां, यदि तुम कहो कि हत्याकांड जरूरी है तो और बात है। अव्यवस्था और कष्ट की इस स्थिति में से बच निकलने के उपाय दिये गये हैं और लोगों को इनमें से निकलने का मार्ग दिखाया गया है। तुम कहते हो ये बेकार हैं।

नहीं, नहीं यह वस्तुओं की ऊपरी दृष्टि है। तुम्हें कोई राय बनाने से पहले समस्त सभ्यता पर विचार करना होगा।

चूंकि आजकल पाश्चात्य सभ्यता असफल होती जा रही है इसलिये हक्सले जैसे लोग योग की ओर आकर्षित हो रहे हैं।

२८ दिसंबर १९३८

शाम के ५.३० के आस-पास 'क' ठहाका मारकर हंस पड़ा। श्रीअरविंद ने पूछा, "यह क्रियाशील धमाका क्या है?" किसी ने कोई उत्तर न दिया, केवल एक दबी चुप्पी थी। ६.३० बजे फिर से हंसी का विस्फोट हुआ। इस बार श्रीअरविंद ने कुछ नहीं कहा, स्वयं 'क' कह बैठा, 'ग' मुझे हंसा रहा है। श्रीअरविंद ने उत्तर में कहा, "जरा सावधान रहो, वह कहीं पटाखे की तरह तुम्हारा विस्फोट न कर दे।"

सब-के-
ली, दूसरा
पूछा, "क्या

शिष्य -
श्रीअरवि
हो सकती

यहां एव
के लक्षण

शिष्य -
दूसरा
श्रीअरवि

की बात य
संकेत आ

सामूहिक
थे। जब

शान्तों पर
करते थे।

और त

छोड़ दिये
योजना ब

अगर इत
हैं।

शिष्य
सकते हैं

श्रीअ

शिष्य

श्रीअ

अक्टूबर १९९१

सब-के-सब श्रीअरविंद की खाट के आस-पास बैठ गये। एक ने जम्हाई ली, दूसरा भी चुप न रहा और सबमें दबी हुई हंसी फूट पड़ी। श्रीअरविंद ने पूछा, "क्या मजाक है?"

शिष्य—'क' मेरी जम्हाई पर मुझे चिढ़ा रहा है।

श्रीअरविंद—उसे यह मालूम नहीं है कि कभी-कभी जम्हाई घातक लक्षण हो सकती है।

यहां एक और साधक के पत्र का जिक्र आया जिसमें रात के समय जम्हाई के लक्षण की बात कही गयी थी।

शिष्य—इस बारहमासी बीमारी के लिये क्या इलाज बताया गया है?

दूसरा शिष्य—यह गोपनीय है।

श्रीअरविंद—इससे मुझे यूनान के शगुनियों (भविष्यवेत्ताओं) के विज्ञान की बात याद हो आयी। सरकारी शगुनियां हुआ करते थे जिन्हें सगुन और संकेत आदि की व्याख्या करने के लिये बुलाया जाता था। इन लोगों की एक सामूहिक संस्था भी बन गयी। संस्था में ये शगुनिये बहुत गंभीर हुआ करते थे। जब वे संस्था में मिलते तो बहुत गंभीर शकलें बनाकर रहते थे और शगुनों पर भाषण देते थे। बाद में जब वे आपस में मिलते तो हंसी-मजाक करते थे।

और हां, आज हमें कटे-फटे समाचार मिले हैं जिनमें से दो महत्वपूर्ण शब्द छोड़ दिये गये हैं। यह कहने की जगह कि इतालवी लोग जीबूती में घुसने की योजना बना रहे हैं, यह कहा गया है कि इतालवी लोग जीबूती में घुस रहे हैं। अगर इतालवी जीबूती में घुसे तो फ्रेंच उसके जवाब में ट्रिपोली में घुस सकते हैं।

शिष्य—फ्रेंच लोग इटली के विरुद्ध अबीसीनियावालों को संगठित कर सकते हैं।

श्रीअरविंद—उसके लिये समय न होगा।

शिष्य—इतालवी अच्छे सैनिक नहीं मालूम होते।

श्रीअरविंद—नहीं, मुझे बहुत आश्चर्य होगा अगर वे फ्रांसवालों को हरा

सकें। अगर ऐसा हो तो यह मानना होगा कि मसोलिनी ने इतालवी जाति को बहुत अधिक बदल दिया है।

शिष्य—उन्हें अबीसीनिया में बहुत कठिनाई हुई थी।

श्रीअरविंद—हां, वे अपने श्रेष्ठ हवाई बमों और मस्टर्ड गैस के विष के कारण जीत पाये।

शिष्य—लेकिन उन्हें जर्मनों की सहायता मिलेगी।

श्रीअरविंद—हां, इतालवी लोग जर्मनों के बिना चल नहीं सकते।

शिष्य—ऐतिहासिक फिशर ने कहा है कि पिछले युद्ध में जर्मन सेना ही सबसे मजबूत और सुसंगठित सेना थी।

श्रीअरविंद—हां, सारी दुनिया में जापानियों को छोड़कर वे सबसे अधिक सुसंगठित और सबसे योग्य सैनिक हैं। परंतु जापानी संख्या में कम और धन की दृष्टि से भी कमजोर हैं।

लेकिन फिर भी पिछले युद्ध में जर्मन फोख के जैसी कोई सामरिक प्रतिभा न दिखा सके। अगर फोख कुछ पहले सेनापति बनाया गया होता तो लड़ाई बहुत पहले खतम हो जाती।

बालकन और तुर्की के लोग भी अच्छे सैनिक होते हैं।

शिष्य—सिक्खों और गुरुखों के बारे में आप क्या कहते हैं?

श्रीअरविंद—वे अतुलनीय हैं, लेकिन युद्ध योद्धाओं पर नहीं, जनरलों पर निर्भर होता है।

शिष्य—यहां का अंग्रेज राजदूत कहता है कि चीनी लोग अच्छे सिपाही नहीं होते और रूसी रक्षात्मक युद्ध में अच्छे होते हैं। जर्मन यूक्रेन में फैलने की कोशिश कर रहे हैं। उसके बाद हिटलर केंद्रीय यूरोप की ओर बढ़ सकता है।

श्रीअरविंद—हां, लेकिन उससे रूस, पोलैंड, रूमानिया और युगोस्लाविया एक साथ हो जायेंगे। ये छोटी शक्तियां अपनी सुरक्षा के लिये भयभीत होंगी।

शिष्य—मेरी समझ में नहीं आता कि जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करने के लिये इटली का साथ क्यों देता है। यूरोपीय ज्योतिष के अनुसार हिटलर के ग्रह दिसंबर १९३८ तक ही उसका साथ देंगे।

कि फ्रांस वे
में यही बा
ख्याल है कि
बात उनकी
देगा।

जवाब में त

कर सकते

युद्ध अनिव

करेंगे। ले

है, इसलिये

देश को इ

मजा लूट

श्रीअरविंद

कि इटली

वाधित न

कहा जा स

जायेगा।

मैनिंगडल

अक्टूबर १९१९

श्रीअरविंद—क्यों ! स्वयं हिटलर ने अपनी पुस्तक “माइन काम्फ” में कहा है कि फ्रांस के विनाश के बिना जर्मनी सुरक्षित नहीं है और फ्रांस जर्मनी के बारे में यही बात कहता है। शायद उन्होंने यह समय इसलिये चुना है कि उनका ख्याल है कि आम हड़ताल के कारण फ्रांस कमजोर हो गया है। लेकिन यह बात उनकी आंखों से ओझल हो गयी कि आक्रमण सारे फ्रांस को इकट्ठा कर देगा।

शिष्य—मैंने आज के अखबार में पढ़ा है कि इंग्लैंड में इतालवी दावों के जवाब में लोग नारे लगा रहे हैं कि अमरीका उनका है।

श्रीअरविंद—इस तरह तो वे जर्मनी और डेनमार्क और इटली पर भी दावा कर सकते हैं।

शिष्य—ये लोग जिस तरह की तैयारी कर रहे हैं उससे तो लगता है कि युद्ध अनिवार्य है।

श्रीअरविंद—लेकिन हमारा ख्याल था कि वे अगले वर्ष तक कुछ न करेंगे। लेकिन शायद वे सोचते हैं कि आम हड़ताल के कारण फ्रांस विभक्त है, इसलिये आक्रमण करने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन युद्ध एकदम सारे देश को इकट्ठा कर देगा। बहरहाल हम देखते हैं कि जर्मन लोग बड़े दिन का मजा लूट रहे हैं।

शिष्य—अधिक संभव है कि इंग्लैंड को फ्रांस का साथ देना पड़ेगा।

श्रीअरविंद—तुमने देखा है कि चेम्बरलेन ने क्या कहा है ? वह कहता है कि इटली के साथ लड़ाई की हालत में इंग्लैंड फ्रांस का साथ देने के लिये बाधित नहीं है। लेकिन अगर इटली जर्मनी के साथ मिल जाये तो कुछ नहीं कहा जा सकता।

शिष्य—अगर व्यापक युद्ध हो तो भारत की स्वाधीनता के लिये मौका मिल जायेगा।

श्रीअरविंद—कैसे ?

शिष्य—वह सहयोग करने से इंकार कर देगा। मेरा ख्याल है कि कांग्रेस मंत्रिमंडल का त्याग-पत्र यूरोप में लड़ाई के अंदेश के कारण था।

श्रीअरविंद—हां, वह हिंदुस्तानियों को शांत करने के लिये था।

२९ दिसंबर १९३८

(आज एक शिष्य ने किसी शिष्य डॉक्टर का एक प्रश्न श्रीअरविंद के सामने रखा।)

शिष्य—‘कारण शरीर’ और ‘चैत्य सत्ता’ में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद—‘साइकिक बीग’ हृदय में स्थित चैत्य पुरुष है और कारण शरीर अतिचेतना है। वे दोनों एक ही नहीं हैं।

शिष्य—यह अतिचेतन सत्ता है जिसे बाद में वेदांत की भाषा में “आत्मा” का नाम दिया गया। कुछ लोगों के मतानुसार रमण महर्षि ने आत्मा का साक्षात्कार किया है।

श्रीअरविंद—पॉल ब्रंटन ने जैसा लिखा है उसके अनुसार तो ऐसी बात नहीं है। वह ‘हृदय से आनेवाली आवाज’ की बात कहता है जिसका अर्थ होगा चैत्य-पुरुष।

इसी समय माताजी आ गयीं और उन्होंने पूछा, “आप किस विषय पर बातचीत कर रहे हैं ?”

श्रीअरविंद—‘क’ एक प्रश्न कर रहा है जिसका ठीक मेल नहीं बैठता।

और उन्होंने प्रश्न दोहरा दिया।

शिष्य—मैंने रमण महर्षि की अनुभूति के बारे में उन्हींके एक शिष्य से सुना है : “एक दिन हृदय-चक्र खुल गया और मैंने “अहं, अहं” सुनना शुरू किया और हर जगह मैंने यह “अहं” ही देखा।”

और एक शिष्य—भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक लोग भिन्न-भिन्न बातें कहते हैं। यह कैसे जाना जाये कि सबसे ऊंची चीज कौन-सी है ? यह जरूरी नहीं है कि हमारा चुनाव सबसे ऊंचे का ही हो।

माताजी—हर एक अपनी चेतना की सीमा तक जाता है। मैंने यूरोप, भारत और जापान में बहुत-से लोग देखे हैं जो अलग-अलग गुरुओं की अधीनता में योग करते थे। हर एक यह दावा करता था कि उसकी सिद्धि सबसे ऊंची है। उसे अपनी बात से पूरा संतोष था और वह अपनी स्थिति से खुश था।

अक्तूबर

परंतु हर

था कि व

शिष्य

क्या है ?

माताजी

अद्भुत च

में टैगोर

कर चुके

जो शांति

उनसे अप

ली। मैंने

पहुंचे। मैं

पीछे जाना

ही पूरी त

शिष्य-

माताजी

लेकिन उस

शिष्य-

चाहिये कि

दूसरा

पहुंचे हैं ?

शिष्य-

माताजी

होना चाहि

यह चु

तुहारी आं

सहज वृत्ति

है। मनुष्य

अक्टूबर १९९१

परंतु हर एक चेतना में एक अलग ही स्थान पर खड़ा था और हर एक कहता था कि वह उच्चतम स्थिति में है।

शिष्य—लेकिन हम किस कसौटी से परख सकते हैं कि उनका मतलब क्या है ?

माताजी—कौन-सी कसौटी ? तुम उनसे पूछो तो वे कहेंगे, “वह एक अद्भुत चीज है पर मन द्वारा उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।” मैं जापान में टैगोर के साथ थी। उनका कहना था कि वे निर्वाण की शांति का अनुभव कर चुके हैं और वे खुशी से फूले हुए थे। मैंने सोचा, “यह रहा एक आदमी जो शांति प्राप्त कर लेने और निर्वाण पा लेने का दावा करता है, देखें।” मैंने उनसे अपने साथ ध्यान करने के लिये कहा और ध्यान में मैं उनके साथ हो ली। मैंने देखा, वे प्राण और मन के पीछे एक प्रकार की रिक्तता तक जा पहुंचे। मैं प्रतीक्षा करती रही कि देखें वे इसके परे जाते हैं या नहीं; मैं उनके पीछे जाना चाहती थी लेकिन वे आगे गये ही नहीं। मैंने देखा कि वे उतने से ही पूरी तरह संतुष्ट थे और यह मान रहे थे कि वे निर्वाण तक जा पहुंचे हैं।

शिष्य—लेकिन किसी प्रकार की एक आधारभूत सिद्धि तो होगी ही ?

माताजी—कहने का अर्थ यह है कि चेतना का एक आधारभूत सत्य है, लेकिन उसे पाना आसान नहीं है।

शिष्य—तो फिर गुरु का चुनाव कैसे किया जाये ? हमें यह तो जानना ही चाहिये कि किसे चुनें।

दूसरा शिष्य—तुम अपने मन से यह कैसे जान पाओगे कि वे कहां तक पहुंचे हैं ?

शिष्य—वह हमारे चैत्य पुरुष द्वारा किया गया चुनाव नहीं होता क्या ?

माताजी—यह एक और ही प्रश्न है। पहले तुम्हें चेतना की सीमा का पता होना चाहिये और लोग जहां तक पहुंचे हों उनका फर्क जानना चाहिये।

यह चुनाव प्रायः तुम्हारी आवश्यकता के उत्तर में होता है और इसपर तुम्हारी आंतरिक आवश्यकता का शासन होता है। कभी-कभी यह चुनाव उस सहज वृत्ति के द्वारा होता है जिससे पशु अपने भोजन का उचित स्थान पा लेते हैं। मनुष्य में यह चीज अंदर से काम करती है। अगर तुम अपने मन को

बहस करने, युक्तियाँ करने दो तो तुम्हारी सहजवृत्ति ढक जाती है। जब तुम चुनाव कर लो तो स्वभावतः मन उसे उच्चतम मानना चाहता है; परंतु यह चुनाव आत्म-निष्ठ होता है।

शिष्य—अगर चुनाव ठीक हो तो व्यक्ति को प्रसन्नता और संतोष का अनुभव होता है।

माताजी—संतोष ? तुम भावनाओं और संवेदनों पर आश्रित नहीं रह सकते, क्योंकि ये बहुत बार भटका देते हैं। संतोष बिल्कुल ही अलग चीज है। ऐसे लोग होते हैं जो सर्वोत्तम स्थिति में भी संतुष्ट नहीं होते जब कि कुछ लोग बुरी-से-बुरी स्थिति में भी संतुष्ट रहते हैं।

अपने चारों ओर दुनिया के लोगों पर नजर डालो, वे अपनी स्थिति से पूर्ण तरह खुश रहते हैं और फिर कुछ ऐसे लोग होते हैं जिनका संतोष पूरी तरह उनके यकृत पर निर्भर होता है—यह एकदम पाशविक रूप से भौतिक स्थिति है; और फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो बहुत अधिक दुःख पाते हैं पर वे यह जानते हैं कि उनके लक्ष्य तक पहुंचने के लिये यही एक रास्ता है।

शिष्य—शास्त्रों ने ऐसे चिह्न बतलाये हैं जिनसे हम जान सकते हैं कि कैसे निर्णय करें।

श्रीअरविंद—कौन-से शास्त्रों ने ? और शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है हम उस सब पर विश्वास नहीं कर सकते।

माताजी—हो सकता है कि यह हिंदुस्तानियों के लिये ठीक हो; लेकिन फिर यूरोपियनों के लिये क्या ? तुम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने कोई सत्य नहीं पाया है।

इसके बाद माताजी ध्यान के लिये चली गयीं और कुछ क्षण तक एकदम मौन रहा। फिर श्रीअरविंद ने कहा, “तुम किन लक्षणों की बात कर रहे थे ?”

शिष्य—वे सामान्य हैं और सब जगह पाये जाते हैं। वे गीता में भी दिये गये हैं : समता, सबके लिये प्रेम, समचित्तता आदि।

श्रीअरविंद—ये तो सिद्धि के लिये शर्तें हैं। सभी अनुभूतियाँ सच्ची होती हैं और उनका अपना स्थान होता है। तुम यह नहीं कह सकते कि चूंकि एक

अक्टूबर १९९१

सत्य है इसलिये दूसरी मिथ्या है। सत्य अनंत है, सत्य तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। तुम जितने ही विस्तृत होते हो उतने ही ऊंचे भी उठते हो। तुम जितना अधिक पाते हो, पाने के लिये उतना ही अधिक और अधिक होता है। उदाहरण के लिये, रमण महर्षि का 'अहं' का अपना अनुभव है, लेकिन जब मुझे निर्वाण की अनुभूति हुई तो 'अहं' के बारे में सोच ही नहीं सकता था—मैं चाहे जितना भी प्रयास करता पर किसी 'अहं' के बारे में सोच न पाता था। शब्द स्थानांतरित हो गया था। तुम उसे 'अहं' नहीं कह सकते। वह या तो 'सः' होता है या 'तत्'। मैं उसे 'लय' कहता हूँ। आत्मा की उपलब्धि ठीक है। 'लय' सिद्धि का भाग था जो बहुत ज्यादा व्यापक है।

जब मैं मायावाद को स्वीकार नहीं करता तो इसका यह मतलब नहीं है कि मैंने सत्य को (उसके पीछे के सत्य को) प्राप्त नहीं किया है या मैं 'एक में सर्व' या 'सर्व में एक' के बारे में नहीं जानता—लेकिन चूंकि मुझे दूसरी सिद्धियां प्राप्त हैं जो समान रूप से प्रबल हैं और जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती इसलिये महर्षि भी ठीक हैं और अन्य सब भी ठीक हैं।

मन जब इन चीजों को समझने की कोशिश करता है तो वह अंशों को लेकर उनके साथ ऐसे व्यवहार करता है मानों वे समग्र हों और उनमें अवास्तविक भेद-भाव करता है। ये लोग निर्गुण को आधारभूत अनुभूति और सगुण को व्युत्पन्न या कृत्रिम मानते हैं। लेकिन उपनिषद् का अनंत निर्गुण और अनंत सगुण से क्या मतलब है? उन्हें अलग रूप में नहीं सोचा जा सकता। जब तुम यह सोचते हो कि 'निर्वैयक्तित्व' आधारभूत सत्य है और 'व्यक्तित्व' उसपर आरोपित कोई चीज है और गौण है; तुम अपने मन द्वारा किसी ऐसी चीज को काटते हो जो दोनों के परे है। या ऐसा तो नहीं है कि 'व्यक्तित्व' मुख्य चीज है और 'निर्वैयक्तित्व' 'व्यक्तित्व' का एक पहलू या एक दशा है? नहीं, 'व्यक्तित्व' और 'निर्वैयक्तित्व' एक अविभाज्य चीज के पहलू हैं। शंकर भी ठीक हैं और निम्बार्क भी, लेकिन जब वे दोनों अपने सत्य को मानसिक परिभाषाओं में व्यक्त करते हैं तो भयंकर घपला हो जाता है। शंकर का कहना है, "वह एक और अनिर्वचनीय है," निम्बार्क कहते हैं, "द्वैत भी है और अद्वैत भी" और माधव का कहना है, "द्वैत सत्य है।"

उपनिषद् उसके बारे में बात करते हैं, "जिसे जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है।" इसका मतलब क्या है? विज्ञान 'एक' का आधारभूत ज्ञान नहीं है। इसका मतलब है, 'दिव्य सत्ता' के तत्त्वों का ज्ञान, जिसे कृष्ण ने गीता में 'तत्त्वतः' कहा है। हम पूर्ण ब्रह्म को अतिमानस तक पहुंचे बिना जान नहीं सकते। इसीलिये कृष्ण कहते हैं, "कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः"—ऐसा आदमि विरला ही होता है जो मुझे तत्त्वतः जानता हो। उपनिषद् ब्रह्म को चतुष्पाद बतलाते हैं। वह केवल 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर ही चीज को समाप्त नहीं कर देता। आत्म-साक्षात्कार ही सब कुछ नहीं है। उसके परे भी बहुत-से चीजें हैं। मेरे अंदर के दिव्य मार्गदर्शक ने मुझे आगे बढ़ने का आदेश दिया, अनुभव के बाद अनुभव बढ़ता गया। मैं ऊंचे-से-ऊंचा उठता गया, किसी को अंतिम मानकर रुका नहीं, यहां तक कि अतिमानस की झलकों तक जा पहुंचा। वहां मैंने सत्य को अविभाज्य पाया, वहां हर चीज अपना उचित स्थान पाती है। वहां निर्गुण और सगुण का अस्तित्व नहीं है। वे सब एक अविभाज्य सत्य के पक्ष हैं।

अधिमानस की स्थिति में तुम्हारे ऊपर सब ओर से ज्ञान उमड़ पड़ता है और तुम सभी वस्तुओं को सभी दृष्टिकोणों से देख सकते हो और प्रत्येक चीज को सभी दृष्टिकोणों से देखते हो। सभी वस्तुएं एक-दूसरे के साथ जुड़ जाती हैं और वहां विश्व चेतना केवल अपनी निश्चल स्थिति में नहीं बल्कि सचल सक्रिय वास्तविकता में भी होती है, वह 'ऊपर' की किसी चीज की अभिव्यक्ति होती है। जब तुम वैश्व हो जाते हो तब भले, तुम अपने-आपको "मैं" कहो फिर भी वह "मैं" अहं नहीं होता, अहंकार गायब हो जाता है और मानसिक, प्राणिक और भौतिक उस चेतना के प्रतिनिधिस्वरूप प्रतीत होते हैं। रामकृष्ण उस स्थिति के बारे में कहते हैं कि वह अहं का वह भाग है जो कार्य करने के लिये बचा रहता है। जब तुम अतिमानस में पहुंचते हो तो केवल वैश्व नहीं, वैश्व के भी परे परात्पर हो जाते हो और वहां एकत्व और व्यक्तित्व का अविभाज्यता होती है। वहां वैश्व और व्यक्ति सब का सह-अस्तित्व होता है।

विज्ञान में भी वही सिद्धांत काम करता है। एक समय वैज्ञानिक तत्त्वों की सारी बहुलता को ईथर (आकाश) में बदल देते थे और उसकी व्याख्या

अक्टूबर १९९१

अत्यधिक परस्पर-विरोधी शब्दों में करते थे। अब उन्होंने इलेक्ट्रॉन को जड़-पदार्थ का आधार मान लिया है। इलेक्ट्रॉन के स्थान और संख्या के भेद द्वारा तुम वस्तुओं की समस्त बहुलता को पा सकते हो। वहां भी तुम एक को पाते हो जो अनेक हैं और फिर भी ये दो भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं। एक और अनेक दोनों सच्चे हैं और तुम्हें इन दोनों में से होकर सत्य तक पहुंचना होता है।

जब तुम राजनीति, गणतंत्र, धनिक-तंत्र, राजतंत्र आदि की ओर आते हो तो देखते हो कि सबमें कुछ सत्य है; यहांतक कि हिटलर और मसोलिनी भी किसी सत्य के प्रतिनिधि हैं।

यह बहुत महान् योग है, तुम्हें बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है (एक शिष्य के बारे में) मेरा ख्याल है कि 'क' इतना कष्ट न उठायेगा।

शिष्य—कभी नहीं, देव, मैं यहां आया ही इसलिये हूं कि इतना कष्ट नहीं उठा सकता।

श्रीअरविंद—तुम्हें यह करने के लिये बुलाया नहीं गया है। मुझे भी अगर यह अपने-आप करना पड़ता तो यह असंभव होता, लेकिन किसी विशेष अवस्था में स्वर्ग खुल गया और चीज मेरे लिये कर दी गयी।

ऐसा लगा कि विषय समाप्त हो गया लेकिन 'क' ने उसे यह कहकर आगे बढ़ाया कि उसके मित्र ने महर्षि से पूछा कि क्या अमरता पाना संभव है? महर्षि ने उत्तर के रूप में कुछ भी न कहा, लेकिन 'ख' डटा रहा तो उन्होंने कहा, "भागवत कृपा से यह संभव है।"

श्रीअरविंद—इसे मुश्किल से ही उत्तर कहा जा सकता है। भागवत कृपा से तो सब कुछ संभव है। अमरता के बारे में दो बातें हैं। पहली मृत्यु पर विजय। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि आदमी कभी न मरे। इसका अर्थ होता है अपनी इच्छा से शरीर छोड़ना। दूसरा अर्थ यह कि शरीर को बदलने या नया करने की शक्ति हो। एक ही शरीर को बरसों बनाये रखने का कोई अर्थ नहीं है; यह तो भयंकर बंधन होगा। इसी कारण मृत्यु आवश्यक है ताकि तुम एक और शरीर धारण कर सको और नया विकास कर सको। तुम जानते हो कि दशरथ साठ हजार वर्ष जिये थे। उनकी समझ में न आ रहा था कि इतने लंबे जीवन का करें क्या, इसलिये उन्होंने बच्चे पैदा करना शुरू कर

दिया। क्या तुमने बर्नाड शाँ का "बैक टु मिथ्युसिला" पढ़ा है? उससे पता लगता है कि बुद्धिवादी कितना मूर्ख हो सकता है और उसने "जॉन ऑफ आर्क" का कैसा ढोंग-सा बना दिया? वह उसके अंतर्दर्शनों की बात ऐसे करता है मानों वे उसके (जॉन ऑफ आर्क के) अपने मानिसक विचार और निर्णय हों। शाँ जब इंग्लैंड, आयरलैंड और समाज के बारे में बोलता है तो वह बहुत ठीक होता है, परंतु वह कोई रचनात्मक चीज नहीं दे सकता। उस क्षेत्र में वह बुरी तरह असफल हो जाता है। रसल के जैसे ये बुद्धिवादी जब अपने क्षेत्र से बाहर की किसी चीज के बारे में बोलते हैं तो उनकी बड़ी दयनीय स्थिति हो जाती है। तुम देख सकते हो कि उसने "अंतर्मुख" के बारे में क्या लिखा है। ये लोग रिक्तता या विचारों के बंद होने की और बाहरी हितों से नाता तोड़ने की बात नहीं सह सकते! अगर तुम उनसे अपने विचारों को बंद करने के लिये कहो तो वे इसे नहीं स्वीकार कर सकते और तुम रिक्तता से वापिस आ जाते हैं, लेकिन तथ्य यह है कि रिक्तता से होकर पगे जाया जा सकता है।

जनवरी १९३९

१-१-१९३९

शिष्य—हम ध्यान में कैसे सफल हो सकते हैं?

श्रीअरविंद—मन की अचंचलता से। मन के ऊपर स्वयं अनंत ही नहीं है बल्कि शान्ति, आनंद, ज्योति, शक्ति आदि का अनंत सागर होता है। जो मन के ऊपर है और जो मन के नीचे है उनके बीच हिरण्यमय पात्र है। एक बार यदि तुम उस पात्र को तोड़ सको तो तुम जब चाहो ये तत्त्व नीचे उतार जा सकते हैं। और उसके लिये अचंचलता जरूरी है। ऐसे लोग हैं जिन्हें ये चीजें अचंचलता के बिना भी मिलती हैं पर यह बहुत कठिन है।

शिष्य—कहा जाता है कि हृदय में एक पर्दा भी होता है। क्या यह सच है?

श्रीअरविंद—हां, पर्दा कह लो या दीवार। अपनी सतही चेतना के साथ

प्राण, उथल-पुथल के साथ भाव, ये पर्दे हैं और इनके पीछे जो है उसे पाने के लिये इन्हें तोड़ना जरूरी है। वहां तुम्हें हृदय मिल जाता है। कुछ लोगों में उच्चतर शक्ति पर्दे के पीछे से काम करती है क्योंकि अगर वह सामने काम करे तो उसे बहुत-सी अड़चनों से पाला पड़ेगा। वह आवश्यकता के अनुसार निर्माण करती या तोड़ती है, यहांतक कि एक दिन पर्दा हट जाता है और आदमी अपने-आपको अनंत में पाता है।

शिष्य—क्या उच्चतर शक्ति सारे समय काम करती है? क्या ऐसे समय भी जब व्यक्ति में कोई अभीप्सा न हो?

श्रीअरविंद—हां, जिनके अंदर आंतरिक प्रेरणा हो, स्वयं अभीप्सा की आवर्तन-क्रिया ही पीछे की उच्चतर शक्ति की क्रिया के कारण हो सकती है।

शिष्य—हम जानना चाहते हैं कि अनंत शांति आदि को कैसे पाया जाये?

श्रीअरविंद—पहले तो केवल उसीकी चाह करो। यह कठिन है, है न? ऐसी स्थिति में तुम्हें प्रतीक्षा करनी होगी। योग धैर्य की मांग करता है। पुराने योग कहते हैं कि कोई भी अनुभूति पाने के लिये तुम्हें बारह वर्ष प्रतीक्षा करनी होती है। उसके बाद तुम शिकायत कर सकते हो। लेकिन तुम कहते हो कि तुम्हें अनेक अनुभूतियां हो चुकी हैं तो हालत इतनी खराब नहीं है।

शिष्य—जी हां, मैंने आपसे कहा था कि अपने घर पर किसी भी समय सहज रूप से मेरा ध्यान लग जाता था और तब मुझे ध्यान करने के लिये बैठना पड़ता था। कभी-कभी तो दफ्तर जाते हुए ही ध्यान लग जाता था और शांति आदि की अनुभूति कभी-कभी तो कुछ दिनों तक रहती थी। लेकिन कभी-कभी काफी लंबे समय तक कुछ नहीं होता। कम-से-कम पंद्रह दिन में एक बार तो कोई अनुभूति होनी ही चाहिये।

दूसरा शिष्य—कभी-कभी मुझे सिर से ऊपर की ओर खिंचाव का अनुभव होता है। यह किस कारण होता है?

श्रीअरविंद—निश्चय ही यह भौतिक सिर में नहीं सूक्ष्म शरीर में होता है जब मन उच्चतर चेतना की ओर चढ़ने की कोशिश करता है।

शिष्य—अगर हम समुद्र, पहाड़, आदि के स्वप्न या अंतर्दर्शन देखें तो इसका क्या मतलब होता है?

श्रीअरविंद—ये प्रतीक हैं : समुद्र ऊर्जा का, पहाड़ भिन्न-भिन्न सतों और भागोंवाली सत्ता का—जिसके शिखर पर आत्मा होती है। ये अंतर्दर्शन करने सामान्य हैं; तुम इन्हें तब देखते हो जब मन और हृदय का विस्तार होता है।

शिष्य—एक बार मुझे लगा कि मेरा सिर माताजी के चरणों पर था। इसका क्या अर्थ है ?

श्रीअरविंद—यह चैत्य सत्ता की अनुभूति है, तो लो तुम्हें चैत्य अनुभूति मिल गयी।

शिष्य—मैंने आपको बताया था कि यह अनुभूति कैसे हुई और कैसे इस डर से खो गयी कि मैं मरा जा रहा था। लेकिन मैं इसे चैत्य अनुभूति के रूप में न जान सका। (हंसी)

श्रीअरविंद—यह “मैं” ही रास्ते में बाधक होता है। तुम्हें उसे भूल जाना चाहिये और इस तरह अनुभव करना चाहिये कि मानों किसी और को अनुभूति हो रही है। अगर तुम यह कर सको तो यह एक बड़ी विजय होगी। जब मुझे निर्वाण की अनुभूति हुई थी तो मैं अपने-आपको पूरी तरह भूल गया था। मैं एक तरह से “कोई नहीं” बन गया था।

तुम्हारे महाशय अमुक होने से, अमुक के बेटे अमुक होने का क्या लाभ ? अगर तुम्हारा ‘अहं’ मर जाता तो यह एक शानदार मृत्यु होती।

शिष्य—जब मानव चेतना का स्थान दिव्य चेतना ले लेती है तो क्या होता है ?

श्रीअरविंद—तुम्हें सतत अचंचलता, सतत बल का अनुभव होता है—तुम अनंतता के बारे में अभिज्ञ रहते हो, तुम केवल अनंतता में ही नहीं बल्कि शाश्वतता में भी जीते हो। तुम अमरता को अनुभव करते हो और शरीर के मरण की परवाह नहीं करते और तुम्हारे अंदर सर्व में ‘एक’ की चेतना रहती है। हर चीज ब्रह्म की अभिव्यक्ति बन जाती है। उदाहरण के लिये, जब मैं कमरे के चारों ओर देखता हूँ तो मुझे हर चीज ब्रह्म के रूप में दीखती है—यह सोचना नहीं, ठोस अनुभूति है—दीवार और पुस्तक भी ब्रह्म हैं। मैं तुम्हें ‘क’ के रूप में नहीं देखता, भगवान् में एक भागवत सत्ता के रूप में देखता हूँ। यह एक अद्भुत अनुभूति होती है।

अक्टूबर १९११

२ जनवरी १९३९

शिष्य—मुझे लगता है कि माताजी मेरी परीक्षा कर रही हैं।

माताजी—यहां ऐसा नहीं किया जाता। यह शक्तियों का, बल्कि यूं कहें विरोधी शक्तियों का खेल है, जो साधकों की परीक्षा लेने की कोशिश करती हैं। अगर तुम उनकी बात सुनने से इंकार करो या दृढ़ बने रहो तो वे पीछे हट जाती हैं। यहां लोगों पर वैसे ही काफी कठिनाइयां आती हैं। नयी कठिनाइयां क्यों बढ़ायी जायें। यह कहना कि हम जान-बूझकर उनकी परीक्षा करते हैं, सच नहीं है। हम ऐसा कभी नहीं करते, कभी नहीं।

(माताजी ध्यान के लिये आयी थीं और जल्दी ही पौने सात बजे चली गयीं।) लेकिन वे शाम के ध्यान के लिये साढ़े सात के आस-पास नीचे गयीं।

शिष्य—आश्रम के लिये आत्मनिर्भर होना कहां तक वांछनीय है ?

श्रीअरविंद—किस तरह आत्मनिर्भर ?

शिष्य—अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताएं पूरी करने में, उदाहरण के लिये, अपने लिये वस्त्र तैयार करने में। मेरा एक मित्र जो बंबई से आया है वह चाहता है कि हम अपने कपड़े बुनने के लिये करघे और तकली को अपनायें। प्रश्न यह है कि हमारे जैसे आश्रम में आत्मनिर्भरता कहां तक और कितनी वांछनीय है।

श्रीअरविंद—प्रश्न यह नहीं है कि यह कहां तक वांछनीय है। प्रश्न यह भी है कि यह किस हद तक व्यावहारिक है। कातने और बुनने में कोई आपत्ति नहीं है। “न” कितना कातना पसंद करेगा ?

शिष्य—मैं अब भी कातता जाता हूं।

श्रीअरविंद—सब तरह के मानसिक विचार हैं या यूं कहें कि मौनसिक रचनाएं हैं जिन्हें कार्यान्वित किया जा सकता है और अन्य स्थानों पर उन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है, परंतु यह आश्रम उन्हें कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त स्थान नहीं है।

शिष्य—किस तरह अनुपयुक्त है ?

श्रीअरविंद—यहां बहुत-सी कठिनाइयां हैं।

वे सब लोग दयालबाग जैसी संस्था की ओर इशारा करते हैं। उस अवस्था में तुम्हें साधना को एक ओर रखकर अपनी सारी ऊर्जाएं उसी दिशा में मोड़ने होंगी।

अन्य संस्थाओं में नियम और बल द्वारा बाहर से नियंत्रण आरोपित किया जाता है और आज्ञा-पालन करवाया जाता है। वे लोग किसीसे आज्ञा लेने के लिये बाधित होते हैं।

लेकिन यहां हम इस तरह बाहर से नियंत्रण आरोपित नहीं करते इसलिए लोगों से मिलकर काम करवाना प्रायः असंभव है। यह उनके अहंकार और मानसिक स्वाधीनता के विचार के कारण होता है। अगर तुम उस तरह का काम करना भी चाहो तो तुम्हें दो चीजों के बारे में सावधान रहना होगा :

(१) केवल यांत्रिक और व्यापारिक क्रिया-कलाप में जा गिरने की वृत्ति।

(२) तुम्हें महत्वाकांक्षा से बचना होगा। जगत् के सामने अपना एक चित्र बनाने की वृत्ति या यह दिखाने की वृत्ति कि आश्रम और आश्रमवाले महान् हैं—यह चीज जानी चाहिये।

(३) और फिर तीसरी चीज है स्वास्थ्य—अगर डॉक्टर साधकों को होम्योपैथी से स्वस्थ बना देने का वचन दे तो और बात है।

कर्म साधना का एक भाग है यह बात ठीक है, लेकिन कर्म को आध्यात्मिक सृजन के रूप में हम तबतक नहीं ले सकते जबतक आंतरिक कठिनाइयों को न जीत लें। ऐसी बात नहीं है कि हम यह नहीं करना चाहते, परंतु हम मानसिक रचना नहीं आध्यात्मिक सृजन चाहते हैं। यहां यह बात माताजी के अंतर्भास पर छोड़ दी गयी है, फिर भी कठिनाइयां होती ही हैं।

शिष्य—शांति और नीरवता में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब क्या है ?

शिष्य—क्या शांति नीरवता के अंतर्गत है या इसके विपरीत ?

श्रीअरविंद—अगर तुम्हें नीरवता प्राप्त है तो शांति भी है, लेकिन इसका उल्टा सत्य नहीं है, यानी तुम्हें शांति प्राप्त हो सकती है पर नीरवता नहीं।

शिष्य—क्या नीरवता केवल रिक्तता है ?

श्रीअरविंद—नहीं, जरूरी नहीं है। वह भगवान् की भावात्मक उपस्थिति से भरी हो सकती है।

शिष्य—क्या यह उदास और शुष्क स्थिति नहीं है ?

श्रीअरविंद—नहीं, जरूरी नहीं है। जैसा कि मैंने कहा, वह भागवत उपस्थिति से भरी हो सकती है या वह मानसिक शांति हो सकती है—जिसके साथ रिक्तता का भाव हो जो मन के लिये उत्साहहीन हो सकता है, लेकिन यह ऐसी रिक्तता होगी जो किसी उच्चतर वस्तु के आने और उसे भर देने के लिये हो।

शिष्य—उस रिक्तता में—शून्य में—एक बड़ा छुटकारा होता है, है न ?

श्रीअरविंद—हां, जरूर, यह बड़ी प्रिय अवस्था होती है। रसल आदि जैसे लोग यह नहीं समझते कि रिक्तता क्या होती है। वे अंदर जाने की कोशिश करते हैं और अपने-आपको एकदम खाली पाते हैं। उन्हें यह पसंद नहीं आता। वे समझते हैं कि जो कुछ चेतना में आता है वह बाहर से ही आता है। उन्हें इसका कोई ख्याल नहीं है कि ऐसी आंतरिक चीजें भी हैं जिनसे सत्ता भर सकती है।

शिष्य—आपने 'द' के नाम एक पत्र में लिखा है कि हमें शुष्कता के काल में से गुजरने के लिये तैयार रहना चाहिये।

श्रीअरविंद—मन को एक निष्क्रिय शांति का अनुभव होता है जो साधारण मनुष्य के लिये शुष्क और मंद हो सकती है।

शिष्य—क्या हम नीरवता में भी कार्य कर सकते हैं ?

श्रीअरविंद—निश्चय ही। क्यों नहीं ? जब मैं नीरवता की बात करता हूं तो मेरा मतलब आंतरिक नीरवता से होता है। यह पूरी तरह संभव है कि उस आंतरिक नीरवता को रखते हुए सब तरह की चीजें सुनी और की जायें।

शिष्य—क्या नीरवता सक्रिय और निष्क्रिय दोनों होती है ?

श्रीअरविंद—स्वयं नीरवता सक्रिय नहीं होती, लेकिन तुम आंतरिक नीरवता रखते हुए सक्रिय बन सकते हो। तुम कुछ भी किये बिना भी रह सकते हो। यह निर्भर करता है।

जो सक्रिय लोग होते हैं वे कुछ-न-कुछ किये बिना नहीं रह सकते। वे यह

नहीं समझ पाते कि अगर उनमें आंतरिक नीरवता हो तो उनके बाहरी काम का प्रभाव सौ गुना बढ़ सकता है।

जब मैं पांडिचेरी आया तो यहां एक मराठा मुझसे यह पूछने आया कि मैं यहां क्या कर रहा था। जब उसने सुना कि मैं “कुछ नहीं” कर रहा था तो उसने कहा “अगर तुम यह कर सको तो बहुत बड़ी बात है। कुछ भी न कर सको तो यह एक बहुत बड़ी क्षमता होगी।”

शिष्य—एक साधक ने सचमुच अपने ओठों पर मुहर लगा ली थी ताकि वह बोल न सके।

श्रीअरविंद—यह आसुरिक तपस्या है।

शिष्य—क्या इस आसुरिक तपस्या से कुछ लाभ हो सकता है ?

श्रीअरविंद—हां, सब तरह की तपस्या से कुछ-न-कुछ लाभ होता है।

भौतिक और प्राणिक तपस्या भी तुम्हें कुछ दे सकती है। वह तुम्हें भौतिक और प्राणिक संयम दे सकती है, यद्यपि वह और कुछ होने की जगह निरर्थक अधिक होता है।

शिष्य—क्या यह भागवत उपलब्धि का भाग नहीं है ? भागवत उपलब्धि क्या ?

श्रीअरविंद—शांति और आनंद का अनुभव आध्यात्मिक उपलब्धि है। अगर तुम आत्मा के प्रभाव से प्राणिक सत्ता पर अधिकार प्राप्त कर सको तो यह भागवत उपलब्धि होगी।

शिष्य—लेकिन ऐसे भौतिक और बाहरी संयम के लिये प्रयास करने की जगह व्यक्ति मन के द्वारा आवश्यक संयम पा सकता है।

श्रीअरविंद—ये चीजें भगवान् की ओर ले जानेवाले चरण हो सकती हैं। उदाहरण के लिये हठयोग और राजयोग।

शिष्य—हमारे मित्र ‘क’ का कहना है कि योगियों में त्रुटियां होती हैं।

श्रीअरविंद—महत्त्व त्रुटियों का नहीं होता, जो कुछ भी ऊपर की ओर भगवान् की ओर वृद्धि में सहायता दे, व्यक्ति की महिमा को बढ़ाये, प्रकाश की ओर मानव प्रगति में सहायक हो—उसीका महत्त्व होता है। किसी उन्मुख प्रगति से घृणा न करो।

अक्तूबर १९९१

३ जनवरी १९३९

एक मराठी लेखक के एक निबंध पर जो समाजवादी थे, बड़ी हंसी हुई, जिन्होंने प्रमाणित करने की कोशिश की कि स्वामी रामदास समाजवादी थे !

शिष्य—ऐसा लगता है कि कुछ साधक बहुत नाजुक हो जाते हैं। वे जरा से घाव या जलते घी की गंध से परेशान हो जाते हैं। कुछ लोग जो इन बातों को नहीं समझते, वे सोचते हैं कि यह केवल बनना है।

श्रीअरविंद—यह देखने के लिये कि आदमी सचमुच समाधि में है या नहीं लोग उसके शरीर पर गरम लोहे से चुरका लगा देते थे ! वे सोचते थे कि शायद यह गहरी समाधि ही होगी, निर्विकल्प समाधि नहीं ! (हंसी)

शिष्य—क्या यह हो सकता है कि आदमी को कुछ भी अनुभव न हो ?

श्रीअरविंद—ऐसे लोगों के उदाहरण हैं जो सम्मोहन के प्रभाव में अपने शरीर पर कुछ अनुभव नहीं करते, भले उनके शरीर में पिनें चुभो दी जायें। ऐसे भी उदाहरण हैं कि आदमी से अपनी भुजा पसारने के लिये कहा गया और तीन चार मजबूत आदमी भी भुजा को झुका न पाये। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां सम्मोहन के प्रभाव में शक्कर कड़वी लगती है। और प्रश्न यह है कि क्या मिठास या वस्तु का कोई और गुण व्यक्ति में होता है—जैसा सौंदर्य के भाव में—या वस्तु में।

शिष्य—यह क्षमता किस कारण होती है ?

श्रीअरविंद—इनके कोई भौतिक कारण नहीं होते। ये चीजें अति-भौतिक कारणों से होती हैं और वहां भौतिक के नियम लागू नहीं होते।

शिष्य—लेकिन शक्कर के मामले में मिठास किस कारण होती है ?

श्रीअरविंद—प्रश्न यह है कि मिठास का अनुभव सभी मनुष्यों की सामान्य प्रतिक्रिया है या वस्तु के अंदर मिठास जैसी कोई चीज है।

शिष्य—लेकिन वस्तु के गुण की कोई चीज बनी रहती है, जैसे होम्योपैथिक मात्राओं में औषध का प्रभाव—छोटी-से-छोटी मात्रा में प्रभाव बना रहता है।

अन्य शिष्य—लेकिन देव, आपका निष्कर्ष क्या है ?

श्रीअरविंद—मुझे पता नहीं।

इसी समय माताजी आ गयीं और उन्हें बातचीत का विषय बतलाया गया।
माताजी—मैं नहीं मानती कि ये घटनाएं सम्मोहन के कारण थीं। सम्मोहन में तुम अपनी इच्छा दूसरे पर लादते हो, तुम्हारी इच्छा-शक्ति उस व्यक्ति की इच्छा का स्थान ले लेती है।

मैं जानती हूँ कि मैंने क्या देखा है। मैंने देखा है कि अधिकतर उदाहरणों में सम्मोहक और सम्मोहित दोनों व्यक्ति बिना जाने अपने-आपको गुह्य शक्तियों के अधीन कर देते हैं। ऐसी अवस्था में जो कुछ होता है, उन शक्तियों के प्रभाव के अधीन होता है। मैं एक उदाहरण जानती हूँ जो असाधारण था, अपने-आपको बाहर निकालने का उदाहरण, जिसमें सम्मोहित व्यक्ति के शरीर से प्रायः जड़-प्राणिक और प्राणिक-भौतिक रूप अलग कर दिया गया था। अगर सम्मोहक सम्मोहित व्यक्ति को वश में रखता है और उसमें कोई दुर्भावना न हो तो अधीनस्थ व्यक्ति को कोई हानि नहीं हो सकती, लेकिन बहुधा वह अपने-आपको अलग-थलग रखता है और शरीर पर रखवाली नहीं रख सकता और इस बीच कुछ और शक्तियाँ आकर शरीर पर अधिकार कर लेती हैं।

किसी मार्ग-दर्शक के बिना या इन बातों को जाननेवाले की उपस्थिति के बिना ये चीजें करना खतरनाक है। तुम लोगों को अचेत अवस्था में ऐसी भाषाएं बोलते हुए सुनते हो जिनका उन्हें जरा भी परिचय नहीं है। इसका कारण यह है कि उनकी कोई सत्ता भूतकाल में या अवचेतना में उस भाषा से परिचित थी और इस समय अवचेतना के उस भाग के साथ संपर्क बन जाता है और आदमी वह भाषा बोलने लग जाता है। यह ऐसी बात नहीं है कि सम्मोहित व्यक्ति का कोई भाग कोई विशेष भाषा न जानता था फिर भी सम्मोहक व्यक्ति ने इच्छा की कि वह उस विशेष भाषा को बोलने लग जाये और वह बोलने लग जाता है। ऐसी चीज असंभव है। वह उस भाषा को तभी बोल सकता है जब उसके अंदर कोई भाग उस भाषा को जानता हो और उस भाग के साथ संपर्क स्थापित किया जा सके।

शिष्य—क्या योग के लिये यह ज्ञान अनिवार्य है ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। यह भौतिक के ज्ञान के लिये उपयोगी है और मृत्यु पर अधिकार के लिये भी यह जरूरी है।

यहूदियों के भगवान् के शक्ति होगी अपना शरीर जानना जरूरी और भौतिक यह अज तीन-चार वि शरीर को होते।

यह ज्ञान तुम्हें इन स् आसान होत बीच में है। का काम क नहीं फटक है और धी मृत्यु के का

शिष्य—

श्रीअरवि

कर भी सव

और विश्राम

अनियमित

तिब्बत

छोड़ते सम

जाये तो हो

शिष्य—

बुला छोड़

अक्टूबर १९९१

३३

यहूदियों के काबाल में एक पुरानी भविष्यवाणी है कि मानवजाति में भगवान् के राज्य की प्रतिष्ठा तब होगी जब ऐसा आदमी आयेगा जिसमें ऐसी शक्ति होगी कि वह मरकर वापिस आ सके, अर्थात् मृत्यु के बाद फिर से अपना शरीर धारण कर सके। अगर तुम मृत्यु पर विजय पाना चाहो तो यह जानना जरूरी है कि मृत्यु है क्या। इसका मतलब यह है कि प्राचीन लोग ज्ञान और भौतिक रूपांतर की आवश्यकता के बारे में पूर्वंदृष्टि रखते थे।

यह अजीब बात है कि कुछ लोग बड़ी आसानी से अपने सूक्ष्म शरीर को तीन-चार दिनों में ही अलग कर सकते हैं। वे शरीर से बाहर जाकर अपने शरीर को सामने लेटा हुआ देखते हैं जब कि और लोग इसमें सफल नहीं होते।

यह ज्ञान रोगमुक्त करने के लिये भी उपयोगी है। उदाहरण के लिये, अगर तुम्हें इन स्तरों का ज्ञान हो तो रोगों को रोकना या उन्हें दूर करना बिल्कुल आसान होता है। एक स्नायविक कोष होता है जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बीच में है। वह सब प्रकार के रोगों के आक्रमण से तुम्हें बचाने के लिये कोष का काम करता है। अगर स्नायविक कोष स्वस्थ हो तो कोई रोग तुम्हारे पास नहीं फटक सकता। वयस्क होते हुए अधिकतर लोगों में यह कोष घिस जाता है और धीरे-धीरे शक्तियां उसमें भिंदना और उसे छेदना शुरू कर देती हैं। मृत्यु के कारणों में से यह भी एक है।

शिष्य—क्या रोगी में यह स्नायविक कोष देखा जा सकता है ?

श्रीअरविंद—हां, और अगर तुम जान सको कि क्या जरूरी है तो तुम वह कर भी सकते हो। उसे स्वस्थ रखने के लिये तुम्हें अचंचलता, संतुलित जीवन और विश्राम आदि की जरूरत होती है। साधारणतः लोग उसे उत्तेजना और अनियमितता के कारण बिगाड़ देते हैं।

तिब्बत के लोग शरीर से बाहर होने की जो प्रक्रिया करते हैं उसमें शरीर छोड़ते समय एक पतला-सा धागा बनाये रखा जाता है और अगर वह टूट जाये तो हो सकता है कि मनुष्य शरीर में वापिस न आ सके।

शिष्य—ऐसे तिब्बती लोगों के उदाहरण हैं जो अपने-आपको बरफ में खुला छोड़ देते हैं और कोई बुरी प्रतिक्रिया नहीं होती। एक ऐसे संदेशवाहक

के बारे में भी सुना गया है जो सारे तिब्बत में लामा के समाचार लेकर उड़ता फिरता था।

श्रीअरविंद—ये जानी हुई बातें हैं।

शिष्य—विजय गोस्वामी के बारे में कितने सारे चमत्कारों की बातें सुनकर हैं। क्या वे सब सच हैं ?

श्रीअरविंद—मुझे इनके बारे में व्यक्तिगत जानकारी नहीं है। लेकिन मुझे लगता है कि विजय गोस्वामी के बारे में बताये गये चमत्कारों में से अधिकतर भौतिक नहीं, सूक्ष्म शरीर से संभव हैं।

इसके बाद श्रीअरविंद ने माताजी के बारे में वह घटना सुनायी जब माताजी ने तैयारी और उनकी पत्नी के साथ अलजीरिया में योगाभ्यास करते हुए मृत्यु के कगार तक पहुंच गयी थीं। वे दोनों बड़े रहस्यवादी थे, विशेषकर मादाम तेअं एक विलक्षण महिला थीं।

श्रीअरविंद—माताजी ने अपने-आपको शरीर से बाहर निकाला और पेरिस जा पहुंचीं और वहां अपने मित्रों से मिलीं। यह बाहर निकलना काफी भौतिक था जिससे माताजी पेंसिल से एक कागज पर लिख पायीं। तिब्बत के लोग आध्यात्मिक की अपेक्षा गूढ़-विद्या से ज्यादा परिचित होते हैं।

यूरोपीय लोगों को गूढ़-विद्या के लिये बहुत आकर्षण होता है। वे या तो हर बात पर विश्वास कर लेते हैं या हर बात से इंकार कर देते हैं। इससे उनका गूढ़-विद्या का वातावरण लिये तिब्बत, भूटान आदि जैसे स्थानों के प्रति आकर्षण का रहस्य समझ में आता है। आजकल इन विषयों को लेकर कहानियां और उपन्यास लिखे जा रहे हैं। जापान के जेन बौद्धधर्म और चीन के लाओत्से ने भी उन्हें आकर्षित किया है।

मैंने भी कुछ ऐसी कहानियां लिखी थीं परंतु दीमकों ने उन्हें समाप्त कर दिया है और उनके साथ-ही-साथ कहानी-लेखक के रूप में मेरी भावी ख्याति भी समाप्त हो गयी। खेद है कि मैंने मेघदूत का जो अनुवाद किया था वह लुप्त हो गया। वह अच्छा हुआ था। मेरी अधिकतर कहानियां गूढ़-विद्या से संबंध रखती थीं।

(क्रमशः)

माताजी और श्रीअरविंद के साथ एक तरुण साधक का पत्र-व्यवहार

[इस पत्र-व्यवहार के समय यह साधक १७ वर्ष का था]

महीने तेजी से गुजर रहे हैं और मेरी कमजोरी बढ़ती जा रही है। मैं कितना बेचैन हूँ। कितना अवज्ञाकारी, कपटी, ईर्ष्यालु, कमजोर, आवेशों, अज्ञान और मिथ्यात्व से घिरा। मैं अपनी निम्न प्रकृति को देख ही नहीं सकता। हे मां, मैं क्या करूँ ?

उसकी ओर बहुत अधिक न देखना ही ज्यादा अच्छा है। अपना ध्यान ज्यादा मजेदार चीजों की ओर मोड़ लो। तुम जो सोचते हो वही बन जाते हो। तुम्हें शक्ति, ईमानदारी और निष्कपटता के बारे में सोचना चाहिये, जो तुम बनना चाहते हो।

मार्च १९३४

—माताजी

यह देखते हुए कि निम्न प्रवृत्ति को शुद्ध करने के लिये कोई उग्र प्रयास नहीं, मेरे लिये कोई आशा हो ही कैसे सकती है ? मैं औरों के बारे में सोचता ही क्यों हूँ ? इससे मेरा क्या भला होगा ? हे मां, मैं किसी भी चीज के लिये अयोग्य हूँ। मां, अभी तक कोई सच्ची और निष्कपट अभीप्सा नहीं है। हे मां, मुझे कोई सलाह दो। मैं अज्ञानी, अंधकारमय बालक हूँ। मेरा पथप्रदर्शन करो, मुझे सच्चा रास्ता दिखाओ।

ऐसा लगता है कि तुम इस बारे में अभी से बहुत सचेत हो कि क्या होना चाहिये और क्या नहीं। लेकिन तुम्हारी मुश्किल शुरू होती है व्यावहारिक प्रयोग में। तुम्हें अधिक ज्ञान के लिये मांग न करनी चाहिये, तुम्हें मांगना चाहिये बल और साहस ताकि जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान पहले से तुम्हारे पास है उसका सचाई और ईमानदारी के साथ उपयोग कर सको।

४ अप्रैल १९३४

—माताजी

अग्निशिखा

अक्तूबर १९

माताजी, मैं आज सवेरे से बेचैनी अनुभव कर रहा था। जब मैं तीसरे पहर साढ़े तीन के लगभग जागा तो बेचैनी गायब हो गयी थी और उसकी जगह खुशी ने ले ली। मैं इस प्रक्रिया को नहीं समझता।

यह कोई प्रक्रिया हर्गिज नहीं है। यह केवल तुम्हारी अवस्था में उतार-चढ़ाव है। जबतक प्राणिक स्थिरता न आ जाये ये चीजें होती रहती हैं।

४ अप्रैल १९३४

—श्रीअरवि

पता नहीं मेरे अंदर ऐसी क्या चीज है जो 'ब' को कष्ट देती है। चूंकि मेरी प्रकृति 'ब' से घटिया है इसलिये मैंने सोचा कहीं उसपर इसका असर न पड़े।

किसने कहा कि तुम्हारी प्रकृति 'ब' से घटिया है। हर एक की अपनी प्रकृति होती है। और हर एक अपने पथ पर चलता है। औरों के साथ तुलना हमेशा व्यर्थ और प्रायः संकटपूर्ण होती है।

वह कौन-सी चीज है जिससे 'ब' को कष्ट पहुंचता है ?

तुमसे किसने कहा कि 'ब' को किसी चीज से कष्ट पहुंचता है ? बहरहाल तुम्हारे अंदर एक ही चीज है जो 'ब' को कष्ट पहुंचा सकती है और वह है तुम्हारी ईर्ष्या।

५ अप्रैल १९३४

—माताजी

इस ईर्ष्या को दूर करने के लिये मुझे क्या करना चाहिये ? यह किस प्रकार की ईर्ष्या है ?

ईर्ष्या के प्रकार नहीं हुआ करते—ईर्ष्या सब जगह वही पुरानी चीज है।

५ अप्रैल १९३४

—श्रीअरवि

अक्टूबर १९९१

कमजोरी : कल रात 'द' ने मुझसे पूछा, गुजराती में 'मुझे पानी दो' कैसे कहेंगे ? मैंने उसे बतला दिया। मैं किसीको नाराज नहीं कर सकता। मुझे अपना स्वभाव बचकाना लगता है। कैसी कमजोरी है ? इस कमजोरी के कारण मैं अपने लिये अनगिनत कठिनाइयां खड़ी कर लेता हूं।

तुम्हें इन छोटी-मोटी चीजों को बहुत अधिक महत्व न देना चाहिये। महत्वपूर्ण बात है उस आदर्श को कभी अपनी आंखों से ओझल न होने दो जिसे तुम सिद्ध करना चाहते हो और उसे सिद्ध करने के लिये अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करो।

६ अप्रैल १९३४

—माताजी

'रधा का समर्पण' फूल का अर्थ क्या है ?

प्रेम का समर्पण।

६ अप्रैल १९३४

—माताजी

मेरी बहन मेरे साथ बातचीत करना चाहती है लेकिन मैं उसके साथ बहुत गंभीर रहता हूं। जब हम मिलते हैं तो मैं कभी मुस्कुराता नहीं। लेकिन प्रायः सभी के साथ ऐसा ही है।

अगर तुम औरों को देखकर मुस्कुराते हो तो 'स' को देखकर भी मुस्कुरा सकते हो। एक तरह से 'क' और 'झ' की ओर मुस्कुराने से 'स' की ओर मुस्कुराना कम संकटापन्न है।

१० अप्रैल १९३४

—माताजी

माताजी, मैं यह जानकर बहुत खुश हूं कि मुस्कान भी संकटापन्न हो सकती है। अब से मैं किसी स्त्री की ओर देखकर न मुस्कुराऊंगा।

यह निश्चय शायद कुछ कठोर है। मेरे वाक्य का यह उद्देश्य न था। बल्कि यह कि तुम्हें अपनी बहन के साथ बहुत बुरा व्यवहार न करना चाहिये—वह उससे कुछ नहीं समझ पाती। सत्य तो यह है कि भगवान् के प्रति तुम्हारा समर्पण इतना पूरा पक्का होना चाहिये कि तुम औरों के साथ इन संबंधों को कोई महत्त्व न दो।

११ अप्रैल १९३४

आपने मुझसे कहा है, “सत्य तो यह है कि भगवान् के प्रति तुम्हारा समर्पण इतना पूरा पक्का होना चाहिये कि तुम औरों के साथ इन संबंधों को कोई महत्त्व न दो।” मैं इसे व्यवहार में कैसे ला सकता हूँ?

तुम और लोगों के साथ अपने संबंध के ब्योरो पर ध्यान देने की जगह अपने आपको भगवान् के प्रति समर्पण के लिये ज्यादा मजबूत बनाने में लगाओ।

दिव्या जननी, कल आक्रमण का दिन है। यह प्राणिक विद्रोह लगभग सात बजे आता है।

मेरी समझ में नहीं आया कि तुम्हारा मतलब क्या है। एक बुरी आदत को स्वीकार करते और मान्यता क्यों देते हो?

२१ अप्रैल १९३४

मैंने यह इसलिये लिखा था कि पिछले रविवार को और उससे पिछले रविवार को भी आक्रमण हुआ था अतः मैंने सोचा कि वह इस रविवार को भी हो सकता है।

इन विचारों को त्यागना ज्यादा अच्छा है क्योंकि वे आक्रमण को लाने में सहायता देते हैं।

सोसायटी समाचार

१५ अगस्त को श्रीअरविंद का ११९वां जन्मदिन था, उस दिन माताजी की निम्नलिखित प्रार्थना बांटी गयी :

“हे प्रभो, हे शाश्वत स्वामी !

शक्तियों के संघर्ष से प्रेरित मनुष्य एक उत्कृष्ट यज्ञ कर रहे हैं। वे अपने जीवन को रक्तरंजित पूर्णाहुति में अर्पित कर रहे हैं...

हे प्रभो, हे शाश्वत स्वामी, वर दे कि यह सब व्यर्थ न जाये। वर दे कि तेरी दिव्य शक्ति की अनंत धाराएं सारी धरती पर फैल जाएं और व्यथित वातावरण, संघर्षमय ऊर्जाओं, युद्धरत तत्वों की उग्र अस्तव्यस्तता में प्रवेश करें, वर दे कि तेरे ज्ञान का शुद्ध प्रकाश और तेरे आशीर्वाद का अक्षय प्रेम मनुष्यों के हृदयों को भर दें, उनकी आत्माओं को व्याप्त कर दें, उनकी चेतना को प्रज्वलित कर दें और इस अस्पष्टता में से, इस उदासी में से, इस भयानक और सशक्त अंधकार में से तेरी तेजस्वी उपस्थिति के वैभव को प्रकट करें !”

सवेरे श्रीअरविंद के कमरे के दर्शन हुए और १० बजे से साढ़े दस तक समाधि के चारों ओर ध्यान हुआ। शाम को हमेशा की तरह मार्च-पास्ट, बैंड-वादन और ध्यान हुआ।

पांडिचेरी वानोलि निलयम से “भारत और हम” नामक कार्यक्रम प्रसारित हुआ जिसमें सर्वश्री नीरदवरण ने राजनीति पर, अरिन्दम् बसु ने दर्शन, अमल किरण ने काव्य, माधव पंडित ने योग और झूमुर ने शिक्षा पर भाषण दिये। दूसरा कार्यक्रम १५ अगस्त को प्रसारित हुआ जिसमें श्री किशोरीलाल ढांडगिया ने “श्रीअरविंद और आगामी कल का समाज” पर भाषण दिया।

दूरदर्शन ने दिल्ली से १५ अगस्त को श्रीअरविंद के बारे में एक कार्यक्रम प्रसारित किया।

सारे भारत में सोसायटी के केंद्रों और शाखाओं में समुचित रूप से श्रीअरविंद-दिवस मनाया गया।

१२, १३, १४ को सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें सक्रिय कार्यकर्ताओं का आपस में परिचय हुआ। सभा में माताजी की जीती जागती

उपस्थिति के लिये प्रार्थना की गयी और श्री किशोरीलाल ढांडणिया ने वार्षिक विवरण सुनाया। सदस्यों ने अपने क्षेत्र के काम के बारे में बताया। मोन सरकार ने माताजी के साथ अपनी बातचीत सुनायी, नीरदवरण ने 'सावित्री' और विजय ने सोसायटी के काम के बारे में भाषण दिये।

ग्राहकों और पाठकों के नाम आवश्यक सूचना

कई वर्षों से हम यह प्रयास करते आ रहे हैं कि पुरोधा व अग्निशिखा का चंदा न बढ़ाया जाये, परंतु अब वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह एकदम असंभव हो गया है और अभी के लिये हमने यह निश्चय किया है कि अग्निशिखा का वार्षिक चंदा १५ रु. और पुरोधा का २० रु. कर दिया जाये।

आजीवन सदस्यता के लिये भी दोनों पत्रिकाओं का चंदा मिलाकर ७०० रु. और अलग-अलग—पुरोधा के ४०० और अग्निशिखा के ३०० रु. होंगे। आप अपनी सुविधा के लिये ये रुपये किस्त में भी भेज सकते हैं।

आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

वी. पी. पी. का खर्च भी बहुत ज्यादा बढ़ गया है और वी. पी. पी. वापिस आ जाये तो हमें एक करारी चपत लगती है, इसलियें विचार यह है कि दिसंबर से वी. पी. पी. की व्यवस्था स्थगित कर दी जाये। अगर कोई अपने-आप मंगवाना चाहे तो उनके लिये वी. पी. पी. भेजी जा सकेगी।

यहां से पुरोधा हर महीने की दस तारीख को और अग्निशिखा महीना शुरू होने से पहले २५ को भेजी जाती है। यदि पत्रिका आपके पास पंद्रह दिनों के अंदर न पहुंचे तो सूचना अवश्य दीजिये।

कृपया अपना चंदा धनादेश, पोस्टल-ऑर्डर या ड्राफ्ट द्वारा ही भेजें, चेक आने पर हमें बहुत ज्यादा असुविधा होती है। चंदा भेजते समय अपनी सदस्य-संख्या लिखना न भूलें।

—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा।

मानसिक तनाव व शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति के लिये
सारे परिवार की सुरक्षा का प्राकृतिक साधन

“योगी रसायन” (रजि०)

निर्माता

योगी फार्मेसी प्रा० लि०

लक्ष्मर रोड, हरिद्वार—२४९४०४

(आयुर्वेदिक अनुसंधान एवं निर्माण में अग्रणीय)

श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर

झुन्झुनू (राजस्थान) - ३३३ ००१

हम एक शिक्षण संस्था "श्रीअरविन्द विद्यामन्दिर" चला रहे हैं जो श्रीमां-श्रीअरविन्द के दर्शन को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील है। जो व्यक्ति संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत, कला एवम् शारीरिक शिक्षा आदि (श्रीमां-श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुरूप) के अध्यापन में रुचि रखते हों वे सम्पर्क करें।

साधन की व्यवस्था व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप की जा सकती है।

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर - २४७००१

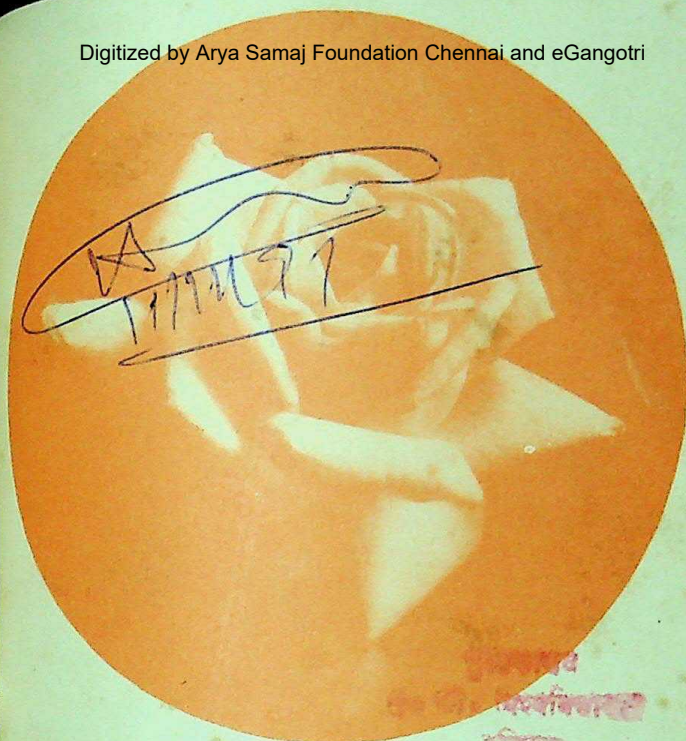
India

8731

2887

ला रहे
लिए
एवम्
इप) के

को जा



अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

नवंबर १९९१

अग्निशिखा नवंबर १९९१

वर्ष २२, अंक ४, पूर्णांक २५५

विषय-सूची

संदेश

'संपादकीय' : शुभस्य शीघ्रम्

दैनन्दिनी

सान्ध्य-वार्ताएं (गतांक से आगे)

श्रीमां
अनुबेन

कई वर्षों से हम यह प्रयास करते आ रहे हैं कि पुरोधे व अग्निशिखा का चंदा न बढ़ाया जाय परंतु अब वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह एकदम असंभव हो गया है और अभी के लिये हमने प्रयत्न किया है कि अग्निशिखा का वार्षिक चंदा १५ रु. और पुरोधे का २० रु. कर दिया जाय।

आजीवन सदस्यता के लिये भी दोनों पत्रिकाओं का चंदा मिलाकर ७०० रु. और अलग-अलग—पुरोधे के ४०० और अग्निशिखा के ३०० रु. होंगे। आप अपनी सुविधा के लिये ये चंदा किस्त में भी भेज सकते हैं।

आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

वी० पी० पी० का खर्च भी बहुत ज्यादा बढ़ गया है और वी० पी० पी० वापिस आ जाये तो हमें एक करारी चपत लगती है, इसलिये विचार यह है कि दिसंबर से वी० पी० पी० की व्यवस्था रद्द कर दी जाये। अगर कोई अपने-आप मंगवाना चाहें तो उनके लिये वी० पी० पी० भेजी जा सकती।

यहां से पुरोधे हर महीने की दस तारीख को और अग्निशिखा महीना शुरू होने से पहले २५ को भेजी जाती है। यदि पत्रिका आपके पास पंद्रह दिनों के अंदर न पहुंचे तो सूचना अवश्य दीजिये।

कृपया अपना चंदा धनादेश, पोस्टल-ऑर्डर या ड्राफ्ट द्वारा ही भेजें, चेक आने पर हमें बहुत बुरा असुविधा होती है। चंदा भेजते समय अपनी सदस्यता-संख्या लिखना न भूलें।

हम आशा करते हैं कि जिन ग्राहकों ने पुराने चंदे के हिसाब से अग्रिम धनराशि भेज दी है कृपया बकाया पैसा चुकाकर पत्रिकाओं को जारी रखने में हमारी पूरी मदद करेंगे।

अग्निशिखा वार्षिक १५.००

आजीवन ३००.००

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२



उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

संदेश

जीवन में तुम जो कुछ करो, भगवान् की सेवा के रूप में करो, किसी और की सेवा के लिये नहीं।

तुम जो कुछ हो, जो कुछ सोचते या अनुभव करते हो, उसके लिये तुम भगवान् के प्रति उत्तरदायी हो किसी और के प्रति नहीं।

वे ही तुम्हारी सत्ता और तुम्हारे जीवन के एकमात्र स्वामी हैं। अगर पूरी सचाई के साथ तुम अपने-आपको उनके अर्पण कर दो तो वे तुम्हारा दायित्व ले लेंगे और तुम्हारा हृदय शांत रहेगा।

शेष सब कुछ अज्ञान के जगत् का है और उसपर अज्ञान का शासन है जिसका अर्थ है अस्त-व्यस्तता और दुःख-दर्द।

आशीर्वाद।

—माताजी

१९६६

संपादकीय :

शुभस्य शीघ्रम्

हम एक ऐसे कालखंड में जी रहे हैं जहां सब असंभाव्य घटनाएं घटती जानती हैं। इनमें से कुछ विस्मयकारी और सुखद होती हैं तो कुछ त्रास देनेवाले बिडंबनाएं होती हैं। इस समय संसार एक ही साथ दो विपरीत दिशाओं में चल रहा है; जैसे रूस में साम्यवाद का आश्चर्यजनक खंडन और महाशक्ति कहलानेवाले रूस के टुकड़ों में बंटने की तैयारी। दूसरी ओर भारत, जो इन्ने वर्षों की गुलामी के बाद स्वाधीन हुआ है, आंतरिक कलह, मतभेद और कहीं-कहीं धार्मिक मतांधता के कारण टूटने की तैयारी करता प्रतीत होता है।

यह समझ में आ सकता है कि प्रदेशों या राष्ट्रों का भाषाई या राजनैतिक मतभेद हो और उसके कारण कई कलह उठ खड़े हों लेकिन धार्मिक ! क्या धर्म, सच्चा धर्म एकता नहीं लाता।

श्रीअरविंद ने धर्म की एक सटीक व्याख्या की है। उनका कहना है कि धर्म वह उचित आचरण और जीवन प्रणाली है जिसके द्वारा मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार उन्हीं प्रवृत्तियों का, उन्हीं आदर्शों का पालन करता है जो उसके स्वभाव के लिये उपयुक्त हों। इस व्याख्या के प्रकाश में आजकल धर्म के नाम से जो दंगे, जो हत्या-कांड और जो विनाश होते हैं, उन्हें रोकने के लिये हमें यह समझना चाहिये कि आखिर धर्म को राजनीति, व्यक्तिगत जीवन आदि के साथ कैसे बिठाया जाये ?

वास्तव में धर्म एक व्यक्ति के आंतरिक जीवन और उसके व्यक्तिगत आदर्श के साथ अधिक संबंध रखता है। सचेतन व्यक्ति अपनी धार्मिक भावनाओं को सामाजिक जीवन के पचड़े में नहीं लाता।

समाज एक ऐसी इकाई है जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व को गौण बनाकर समष्टि को समर्पित होता है। लेकिन समाज को व्यक्ति से ऐसी मांग करनी चाहिये जो समाज के हित में हो, जिसके द्वारा समाज की उन्नति हो या उसका हित हो। अगर समाज व्यक्ति के घनिष्ठतम अंग, धर्म, को न छुए और उससे

नवंबर १९९१

एक नागरिक
और धर्म सम्
है। समाज
राजनीति। उ
तानाशाह एव
उतना ही स
आजकल अ
राग अलाप
व्यादा गंभीर
कर देते हैं।
सिवा विनाश
हम घूम
हल कर स
सर्वोपरि स्थ

बिना लग
कभी व्यक्ति
दोनों को भ
जायेगा—ए
अगर हम
दिन दूर न
के लिये त
अपनी राह
कहा ज

नवंबर १९११

एक नागरिक के कर्तव्यों का पालन करवाये और अपनी सीमा में रहे तो समाज और धर्म समांतर रेखाओं में चलकर व्यक्ति का और राष्ट्र का हित कर सकता है। समाज के बाद एक राष्ट्र के लिये सबसे महत्वपूर्ण अंग है उसकी एजनीति। उसके लिये यूनानी प्रसिद्ध चिंतक का यह वाक्य "परोपकारी तानाशाह एक राष्ट्र के लिये सबसे अच्छा शासक हो सकता है" आज भी उतना ही सार्थक है जितना वह यूनान के सुदूर भूतकाल में था। लेकिन आजकल अनेक 'वादों' को लेकर जो विभिन्न दल बनते हैं और अपना-अपना राग अलापते हैं उसके साथ इस आदर्श का मेल करना दुरूह है। स्थिति ज्यादा गंभीर हो जाती है जब ये दल राजनैतिक आदर्श के साथ धर्म को नथी कर देते हैं। ऐसे दल प्रदेश के लिये विस्फोटक बम का काम करते हैं और सिवा विनाश और दिशाभ्रम के और कुछ नहीं लाते।

हम घूम-फिरकर उसी अपूर्व इकाई की ओर मुड़ते हैं जो इन समस्याओं का हल कर सके और वह है व्यक्ति। हर व्यक्ति अपने निजी जीवन में धर्म को सर्वोपरि स्थान दे और समाज में सामाजिक हित के कार्यों में धर्म को घसीटे बिना लग जाये तो वह अच्छा व्यक्ति और अच्छा नागरिक बन जायेगा। जब कभी व्यक्ति को राष्ट्र-सेवा का सुअवसर प्राप्त हो और वह समाज और धर्म दोनों को भूलकर राष्ट्र की सेवा में लग जाये तब वह एक संपूर्ण इकाई बन जायेगा—एक सचेतन व्यक्ति, एक सचेतन नागरिक और सचेतन देशप्रेमी। अगर हम भारत में इसका थोड़ा अंश भी अपने जीवन में उतार सकें तो वह दिन दूर नहीं जब लड़ते-झगड़ते प्रदेश अखंड भारत के स्वप्न को सार्थक करने के लिये तत्पर हो जायेंगे। तो नेताओं को भूलकर, वादों को छोड़कर हम अपनी राह पर चलें, देश के हित के लिये, भारतमाता की सेवा के लिये।

कहा जाता है कि शुभस्य शीघ्रम्।

—अनुबेन

देनन्दिनी

नवंबर

१. बहुत सीधे और सच्चे रहो। अपने अंदर किसी ऐसी चीज को आश्रय न दो जिसे तुम बिना डरे मुझे न दिखा सको। ऐसा कुछ भी न करो जिसके लिये तुम्हें मेरे सामने लज्जा आये।
२. मेरे साथ संबंध बच्चे की तरह सरल और सहज रहे—यह तुम्हें बहुत-सी कठिनाइयों से बचायेगा।
३. सचमुच और प्रभावी रूप से हमेशा मेरे निकट रहने के लिये तुम्हें अधिकाधिक सच्चा, मेरे प्रति खुला हुआ, निष्कपट होना चाहिये। सभी दुराव और कपट को निकाल फेंको, ऐसा नियम करो कि तुम कोई ऐसी चीज न करोगे जो मुझे तुरंत न बता सको।
४. वास्तव में भगवान् हर व्यक्ति को वही देते हैं जिसकी वह उनसे आशा करता है।
५. अगर तुम यह मानते हो कि भगवान् तुम से बहुत दूर और क्रूर हैं तो वे दूर और क्रूर ही होंगे, क्योंकि तुम्हारी चरम भलाई के लिये जरूरी होगा कि तुम भगवान् के कोप का अनुभव करो...
६. जो भगवान् को हर क्षण, हर गति में आंतरिक पथ-प्रदर्शक मानते हैं उनके लिये वे भाई की तरह निकट, मित्र, सदा निष्ठावान्, हमेशा सहायता करने के लिये तैयार होंगे।
७. और अगर तुम्हें यह विश्वास हो कि वे सभी चीजों को मिटा सकते हैं, तो वे तुम्हारी सभी भूलों, सभी भ्रांतियों को निश्चित रूप से मिटा देंगे और हर क्षण तुम उनकी असीम कृपा का अनुभव करोगे।
८. मनोवृत्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है, बाहरी मनोवृत्ति भी। लोग यह नहीं जानते कि श्रद्धा कितनी महत्त्वपूर्ण है, श्रद्धा कितना बड़ा चमत्कार और चमत्कारों की रचना करनेवाली है।
९. अगर तुम हर क्षण यह आशा रखो कि तुम्हें ऊपर उठाया और भगवान्

नवंबर १९९९

की अ
निकट,
१०. मैं कि
भगवान्
११. मैं कि
किसी
१२. उन्हीं
जीवन,
१३. यदि उ
हूं। व
१४. उनकी
आनंद
१५. मेरे प्र
है। त
उठने
१६. यदि ते
तो, व
अभीप
१७. ... ते
वास्त
१८. हे प्रभ
निकल
१९. विस्मि
नवाता
अपनी
नहीं है
२०. यह स
उच्चत

की ओर खींचा जायेगा तो वे तुम्हें ऊपर उठाने आयेंगे और तुम्हारे निकट, निकटतर सदा निकटतम रहेंगे।

१०. मैं किसी देश की, किसी संस्कृति की, किसी जाति की नहीं बल्कि भगवान् की हूँ।

११. मैं किसी स्वामी की आज्ञा नहीं मानती, किसी शासक, किसी विधान, किसी सामाजिक प्रथा को नहीं, केवल भगवान् को मानती हूँ।

१२. उन्हीं को मैंने सब कुछ समर्पण कर दिया है, अपनी इच्छा, अपना जीवन, अपनी आत्मा, सब कुछ सौंप दिया है।

१३. यदि उनकी इच्छा हो तो बूंद-बूंद करके अपना सारा रक्त देने को तैयार हूँ। वह भी पूरे आनंद के साथ...

१४. उनकी सेवा में कोई चीज बलिदान नहीं हो सकती क्योंकि सब कुछ पूर्ण आनंद है।

१५. मेरे प्रभो, मैं उस काम से बचने की कोशिश न करूंगी जो तूने मुझे दिया है। तू मेरी चेतना को जहां भी रखे, वह आनंद-भरे शिखरों की ओर उठने के प्रयास के बिना वहीं रहेगी।

१६. यदि तेरी इच्छा हो कि वह अत्यंत जड़-प्रकृति की गंदी कीचड़ में ही रहे तो, वह वहीं शांत और विश्रामशील रहेगी। वह चाहे जहां हो, तेरे लिये अभीप्सा किये बिना न रहेगी।

१७. ... तेरे प्रभाव की ओर खुलती और अपने अस्तित्व की एकमात्र वास्तविकता के रूप में वह तुझे अपने अंदर पुकारती रहेगी।

१८. हे प्रभो, किस उत्साह के साथ चेतना जड़ भौतिक स्पंदनों की कारा से निकल कर निष्कलंक शिखरों तक तेरी ओर उठना चाहती है !

१९. विस्मित शरीर मौन, समर्पणपूर्ण आराधना की धूलि में अपना मस्तक नवाता है।

अपनी निर्विकार शांति की भव्यता में तेरे सिवा और किसी का अस्तित्व नहीं है।

२०. यह सब ठीक है; तू जो चाहता है, वह होने और करने का आनंद उच्चतम आनंदों से कहीं बढ़कर है।

२१. लेकिन चेतना पुकार उठती है : “मैं तुझे चाहती हूँ, मैं तुझे चाहती हूँ...।”
२२. “... तेरे बिना मैं कुछ भी नहीं हूँ, तेरे बिना मेरा अस्तित्व तक नहीं है।”
२३. और पुकार का स्पंदन इतना तीव्र है कि उससे यह भारी जड़-द्रव्य तक हिल जाता है। “मैं तुझे चाहता हूँ, मैं तुझे चाहता हूँ।”
२४. “चूँकि तू मुझे सब कुछ यहां पीछे छोड़कर, अपने साथ रहने के लिये अपनी ओर छलांग लगाने की स्वीकृति नहीं देता इसलिये मैं तुझे यहीं से पुकारूंगी।”
२५. ... और मैं तुझसे इतनी अधिक अनुनय-विनय करूंगी कि तू नीचे उतर आयेगा ताकि तू अपने-आपको एक ऐसे जगत् में भर दे जो अंततः तेरी उपस्थिति की नितांत आवश्यकता के प्रति जाग गया है।
२६. और इस आवाहन की सिहरन इतनी तीव्र थी कि अंधेरी, अनगढ़ राशि में से पहली सिहरन प्रियतम के आगमन की घोषणा करती हुई आयी।
२७. हे मेरे भगवान्, तूने मुझसे कहा है : “जड़-द्रव्य में डुबकी लगा और अपने-आपको उसके साथ एक कर ले, मैं वहीं अभिव्यक्त होऊंगा।”
२८. और तेरी इच्छा पूरी कर दी गयी — लेकिन जड़-द्रव्य ने उपहार की उपेक्षा कर दी और वह अंधेरे तथा मिथ्या क्रिया-कलाप में एक संतोष पाने की कोशिश में लगा है, जिसे वहां नहीं पाया जा सकता।
२९. लेकिन फिर भी तूने मुझे ‘विजय’ का वचन दिया है...
३०. पृथ्वी के आरंभ से जब कहीं और जहां कहीं, चेतना की एक किरण को अभिव्यक्त करने की संभावना थी, मैं वहां उपस्थित थी।
- (‘श्रीमातृवाणी’ से)

— * —

जब तुम्हारे अंदर सच्ची मनोवृत्ति हो तो हर चीज सीखने का अवसर हो सकती है।

(गतांक से आगे)

४ जनवरी १९३९

'क' के चेहरे ने वह भाव दिखलाया जो वहां उपस्थित लोगों के लिये आते हुए प्रश्न का द्योतक था।

शिष्य—उपवास का योग पर क्या असर होता है ?

श्रीअरविंद—किस पर ?

शिष्य—उपवास का योग पर।

श्रीअरविंद—ओह, योग पर ? वह एक प्रकार की उत्तेजना देता है या प्राणिक सत्ता को प्रेरक शक्ति देता है, लेकिन उसका सामान्य असर अच्छा या बुरा नहीं मालूम होता।

मैंने दो एक बार उपवास किया था। एक बार अलीपुर जेल में दस दिन के लिये और दूसरी बार तेईस दिन के लिये पांडिचेरी में। अलीपुर में मैं अपने यौगिक क्रिया-कलाप में पूरी तरह व्यस्त रहता था, केवल भोजन नहीं करता था, उसे बाल्टी में फेंक दिया करता था। हां, सुपरिटेण्डेंट को इसका पता नहीं था, केवल दो वार्डर जानते थे। उन्होंने यह कहते हुए औरों को सूचना दी कि यह सज्जन जरूर बीमार होंगे, अब ज्यादा दिन न जियेंगे। यद्यपि मेरा शारीरिक बल घट रहा था पर मैं बाल्टी भर पानी सिर के ऊपर उठा सकता था जो साधारणतः मेरे लिये संभव न था।

पांडिचेरी में उपवास करते समय मैं पूरी तरह शारीरिक और मानसिक ऊर्जा से भरा था। मैं रोज बिना थके दिन में आठ घंटे टहला करता था। जब मैंने उपवास तोड़ा तो सामान्य संपूर्ण भोजन खाना शुरू किया, थोड़ा-थोड़ा करके खाने की तरकीब से नहीं।

शिष्य—बिना भोजन ऐसी ऊर्जा पाना कैसे संभव है ?

श्रीअरविंद—इसमें भौतिक पदार्थ पर निर्भर रहने की जगह आदमी प्राणमय क्षेत्र से ऊर्जा खींचता है, एक बार मैं कलकत्ते में लम्बे समय तक केवल भात और केले पर रहा था। यह बहुत अच्छा भोजन है।

शिष्य—लेकिन मुश्किल यह है कि हम आपके उदाहरण से निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

श्रीअरविंद—कम-से-कम यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि यह करना संभव है। एक बार रमेश दत्त ने मुझे खाने पर बुलाया था। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मैं शुद्ध शाकाहारी था, उन्हें यह विश्वास था कि वे मांसाहार के बिना जी तक नहीं सकते। केवल शाकाहार के साथ मुझे हल्का-फुल्का और शुद्ध लगता था। यह केवल एक मान्यता है कि मांसाहार के बिना काम नहीं चल सकता; यह उस आदत का सवाल है।

शिष्य—क्या उपवास रोगों का उपचार भी कर सकता है ?

श्रीअरविंद—हां, अगर तुम प्रक्रिया जानते हो। कुछ यूरोपीय लोग इस उद्देश्य से उपवास करते हैं, लेकिन उनके मामले में मानसिक विचार ही काम करता है। तुम अच्छे होने या बीमार होने के विचार को लेकर शुरू करो और उसी के अनुसार होने लगोगे।

शिष्य—क्या मनः-श्रान्ति को इस तरीके से ठीक किया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—मनः-श्रान्ति और हिस्टीरिया के रोगियों के स्नायविक कोष में चोट लग जाती है !

शिष्य—तो यह स्नायविक आवरण का प्रश्न है ?

श्रीअरविंद—सभी रोग बाहर से आते हैं। रोग की शक्ति उस चीज को भेदती है जिसे माताजी “स्नायविक-लिफाफा” कहती हैं और वे रोग वहां से शरीर में प्रवेश करते हैं। अगर तुम स्नायविक आवरण के बारे में सचेतन हो जाओ—सूक्ष्म स्नायविक कोष के बारे में—तो रोग को शरीर में प्रवेश करने से पहले ही निकाल बाहर किया जा सकता है, उसी तरह जैसे विचारों को मन में प्रवेश करने से पहले ही फेंका जा सकता है।

शिष्य—‘क’ ने एक बार हमसे कहा था कि उसके सिर में, ठीक सिर के ऊपर बहुत सख्त दर्द हुआ करता था। हम सब उसपर हंस पड़े थे क्योंकि हम यह न मान सकते थे कि सिर के ऊपर सिरदर्द हो सकता है।

श्रीअरविंद—तुम्हें कैसे पता कि ऐसा सिरदर्द नहीं होता ? अगर चेतना को सिर के ऊपर उठाया और वहां रखा जा सकता है तो सिरदर्द के साथ भी ऐसा क्यों नहीं हो सकता ?

शरीर प्रवि
तुम्हारे शरीर
शिष्य—
है ?

श्रीअरवि
भौतिक पिछ
की हुई चीज
स्थिति में क
ही सब कुछ
'अहं' और
शिष्य—

मैं समझ न
श्रीअरवि
व्यक्ति है श
और व्यक्ति
के अंदर प्रवि
के बारे में स

शिष्य—
श्रीअरवि
आत्मा को उ
नहीं होता।

गतिशील
और कैसे व
के साथ एव
होता। अगर
प्राण का ए
भौतिक स्तर
को वैश्व जड़

नवंबर १९९१

शरीर प्रतिक्रियाशील स्पन्दनों की राशि है, हर चीज बाहर से आती है और तुम्हारे शरीर में कोई प्रतिक्रिया पाती है।

शिष्य—अगर हर चीज बाहर से आती है तो हम क्या हैं? हमारा क्या है?

श्रीअरविंद—एक अर्थ में तुम्हारा कुछ भी नहीं है। हम कह सकते हैं कि भौतिक पिछले जन्मों से प्राप्त नाना प्रवृत्तियों, ऊर्जाओं और इस जन्म में प्राप्त की हुई चीजों से मिलकर बना है। ये प्रकृति के दबाव के नीचे, अनुकूल स्थिति में कार्य करने के लिये तैयार रहती हैं। वैश्व प्रकृति ही 'अहं' और 'मैं' ही सब कुछ कर रहा हूं का भाव देती है। किसी और अर्थ को छोड़कर इस 'अहं' और 'मेरे' का कोई अर्थ नहीं।

शिष्य—उस दिन आपने आधारभूत व्यक्तित्व के बारे में जो कहा था वह मैं समझ नहीं पाया। व्यक्तित्व के पीछे क्या सत्य है?

श्रीअरविंद—व्यक्तित्व और व्यक्ति दो चीजें हैं; ये एक ही नहीं हैं। सत्य व्यक्ति है शाश्वत भागवत पुरुष जो बहुत से व्यक्तित्व धारण करता है, वह वैश्व और व्यक्ति के रूप में किसी विशेष उद्देश्य, उपयोग या कार्य के लिये काल के अंदर प्रक्षिप्त होता है। यह सत्य पुरुष हमेशा वैश्व के सामने अपने तादात्म्य के बारे में सचेतन होता है। इसीलिये मोक्ष संभव है।

शिष्य—वैश्व मुक्ति स्थैतिक होती है या गतिशील?

श्रीअरविंद—दोनों में से कोई भी या दोनों। स्थैतिक अवस्था में तुम शुद्ध आत्मा को अनंत के रूप में अनुभव करते हो जिसमें कोई गति, क्रिया या गुण नहीं होता।

गतिशील मुक्ति में, यह इस पर निर्भर है कि तुम ऐक्य का अनुभव कहाँ और कैसे करते हो। अगर यह मन में हो तो तुम अपने मन को "वैश्व मन" के साथ एक अनुभव करते हो। उस स्थिति में तुम्हारे मन का अस्तित्व नहीं होता। अगर तुम प्राण में ऐक्य का अनुभव करो तो तुम्हारी प्राणिक सत्ता वैश्व प्राण का एक अंश बन जाती है, वैश्व जीवन के साथ एक हो जाती है। तुम भौतिक स्तर पर भी ऐक्य का अनुभव कर सकते हो और तब तुम अपने शरीर को वैश्व जड़तत्त्व का एक कण अनुभव करते हो; या तादात्म्य मन के ऊपर हो

सकता है, मन को अनंत से अलग करनेवाले ढक्कन को तोड़कर तादात्म्य हो सकता है। जैसे एक दीवार चैत्य सत्ता को प्रकृति से अलग करती है उसी तरह सिर के ऊपर एक दीवार होती है। तुम दीवार को या जिसे ढक्कन कहा जाता है उसे तोड़ते हो और अपने-आपको अनंत अनुभव करते हो। यह उद्घाटन क्षैतिज भी हो सकता है और ऊर्ध्वधर भी। यह अनुभूति गतिशील मुक्ति को संभव बनाती है—केवल लय की मुक्ति को नहीं।

शिष्य—क्या यह सच है कि रोग साधना से आता है ?

श्रीअरविंद—साधना से ? नहीं जरूरी नहीं है।

अन्य शिष्य—मेरा ख्याल है कि इसका मतलब यह है कि रोग शुद्धि के लिये साधना की प्रक्रिया में आ सकता है।

श्रीअरविंद—यह और बात है, यह साधना में एक घटना हो सकती है।

शिष्य—जब मैं यहां नया-नया आया था तो मुझे शारीरिक कष्ट हुआ करता था। लोग मुझसे कहते थे कि यह साधना के कारण था इसलिये मैं इसे छिपाया करता था ताकि आप कहीं अपनी शक्ति का उपयोग बंद न कर दें।

दूसरा शिष्य—कुछ सूफी और भक्त बीमारी और अन्य कठिनाइयों को प्रियतम का, भगवान् का उपहार मानते हैं। तो, क्या हम यह कह सकते हैं कि हर चीज भगवान् से ही आती है ?

श्रीअरविंद—एक तरह से उनकी बात ठीक है। वे यह मानते हैं कि हर चीज भगवान् से आ रही है और अगर आदमी सचमुच ऐसा मान सके तो यह बहुत अच्छी वृत्ति है। जो कुछ होता है परम पुरुष की स्वीकृति से होता है। अगर तुम बीच के कारणों की उपेक्षा कर दो तो हम कह सकते हैं कि हर चीज का श्रेष्ठतर कारण होता है।

शिष्य—अगर कोई चीज हमारी लापरवाही से होती है तो क्या हम कह सकते हैं कि यह भगवान् की स्वीकृति से हुई है ?

श्रीअरविंद—मैंने कहा था, “बीच के कारणों की उपेक्षा करके।”

शिष्य—क्या इस वृत्ति में कोई संकट न होगा ? हम अपनी जिम्मेदारियों से जी चुराकर सब कुछ भगवान् पर डाल देते हैं।

श्रीअरविंद—मैंने यह बात भक्त के बारे में कही थी, हर एक के बारे में

नहीं। भक्त वे
वह उसे प्रसन्न
योगी के
पास जीतने के
न होगी। तुम
और एक अश
लिये होता है
लेकिन एक
कार्य के लिये
भगवान् की
लिये कठिनाइ
हैं और भग
कठिनाइयों व
विरोध करने
विरोधी-शक्ति
सफलता के
यह मतलब
अर्जुन श्रीकृष्ण
और कहते हैं
हैं, “युद्ध क
शिष्य—
मनोवैज्ञानिक
थे। उन्होंने उ
बाहर निकाल
बड़े मनोविश
श्रीअरवि
और चेतना
अगर तुम वि

नहीं। भक्त के लिये जो कुछ होता है अच्छे-से-अच्छे के लिये होता है और वह उसे प्रसन्नता से लेता है।

योगी के लिये, जिसे इन चीजों को जीतना है, ये आयेंगी, अन्यथा उसके पास जीतने के लिये कुछ न रहेगा। तब वास्तविक विजय के जैसी कोई चीज न होगी। तुम हमेशा कठिनाइयों को अवसरों के रूप में अनुभव कर सकते हो और एक अर्थ में तुम कह सकते हो कि जो कुछ होता है अच्छे-से-अच्छे के लिये होता है। विरोधी शक्तियों को भी विरोधी के रूप में पहचाना जाता है, लेकिन एक और दृष्टि से वे दिव्य शक्तियां बन जाती हैं जो किये जानेवाले कार्य के लिये आक्रमणों को प्रक्षिप्त करती ही रहती हैं। अंततः सभी शक्तियां भगवान् की हैं जो कार्य में सहायता करती हैं। वे बल की कसौटी करने के लिये कठिनाइयों को उछालती हैं। स्वयं भगवान् ने ही विरोध का सृजन किया है और भगवान् ही तुम्हारे पास पराजय भेजते हैं ताकि उसके बाद तुम कठिनाइयों को जीत सको। यह अहंकार के उत्तरदायित्व के भाव के प्रति विरोध करने के लिये जरूरी है। एक बार तो मैंने ऐसा अनुभव किया कि विरोधी-शक्तियां असल में देवता थे जो मेरे बल की परीक्षा ले रहे थे। तुम्हें सफलता के लिये नहीं भगवान् के लिये कार्य करना चाहिये; लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हें सफलता के लिये काम न करना चाहिये। गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण से शिकायत करते हैं कि वे 'दोहरे शब्दों' में बोलते हैं : एक ओर कहते हैं, "परिणाम के लिये उत्सुक न होओ" और साथ-ही-साथ कहते हैं, "युद्ध करो और विजय प्राप्त करो।"

शिष्य—हमारे मित्र 'क' का एक पत्र था जिसमें वह कहता है कि गीता मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पुस्तक है और श्रीकृष्ण एक महान् मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने अर्जुन का मनोविश्लेषण किया और उसके मन की जटिलताओं को बाहर निकाला। वह आपकी पुस्तक 'योग के आधार' में संसार भर के सबसे बड़े मनोविश्लेषक फ्रायड की निन्दा से बहुत विक्षुब्ध हो गया था।

श्रीअरविंद—मानस-विश्लेषण का अर्थ है कि मनुष्य के अंदर अवचेतना है और चेतना पर अवचेतना का प्रभाव पड़ता है। इसका मतलब यह है कि अगर तुम किसी चीज को दबा दो तो वह तुम्हारी सत्ता के अंदर चली जाती है

और बाद में अजीब और असाधारण रूपों में बाहर निकल आती है।
 शिष्य—उनके अनुसार यह अवचेतना क्या है ?

श्रीअरविंद—उनका कहना है कि यह निश्चेतना है। तब फिर वह तुम्हारे चेतना में सब कुछ कैसे उछालती है और प्रतीक खड़े करती है ? आधुनिक मनोविश्लेषण केवल सतही चीज है। सच पूछो तो मानस शास्त्र के लिये एक नये आधार की जरूरत है। मानस विश्लेषण के वास्तविक ज्ञान के लिये केवल दो महत्वपूर्ण चीजों की जरूरत है : १. भीतर जाना और २. तादात्म्य। और ये दोनों योग के बिना संभव नहीं हैं।

५ जनवरी १९३९

शिष्य—मनुष्य की हड्डी कितने समय तक बढ़ती रहती है ?

श्रीअरविंद—कपाल ५५ वर्ष और मज्जिका ५० वर्ष।

शिष्य—जब आपने खुलकर राजनीति में प्रवेश किया तो आपकी उम्र कितनी थी ?

श्रीअरविंद—तैंतीस वर्ष।

शिष्य—और आपने योग कब शुरू किया ?

श्रीअरविंद—१९०५ के आस-पास।

शिष्य—और आपने कैसे शुरू किया ?

श्रीअरविंद—भगवान् जाने कैसे ! वह बहुत जल्दी शुरू हो गया था शायद। जब मैं भारतभूमि पर उतरा तो मेरे अंदर बड़ी शांति और अचंचलता का अवतरण हुआ। कुछ अन्य विशेष अनुभूतियां भी हुई—पुणें में, पार्वती गिरि पर, और फिर कश्मीर में शंकराचार्य की पहाड़ी पर, —एक महान् अंतर्गत यथार्थता का अनुभव हुआ। वह बहुत वास्तविक था।

उसके बाद बड़ौदा में देशपाण्डे ने मुझे योग की ओर मोड़ने की कोशिश की, लेकिन मेरे अंदर उसके बारे में वही सामान्य विचार थे कि इसके लिये सब कुछ छोड़ना होगा और वन में निवास करना होगा। मुझे देश का स्वाधीनता में रस था। लेकिन मैंने हमेशा यही सोचा कि संसार के महापुरुष

नवंबर १९

किसी ख-प

तो उसका

बारीन

मेरे पिता व

अपने परिच

बारीन को

किसी को

बात की प

वहां कोई

अपनी बात

इस बारे में

अब उसपर

जब उस

की परीक्षा

यह एक ऐ

रामकृष्ण व

गढ़ो"। उ

संन्यासियों

लगाया, "

प्राणायाम

जो स्वामी

गया। मैं

करता था।

दृश्य और

की शक्ति

सूख सी ग

गयी। मैं

प्रवाह फिर

नवंबर १९९१

किसी ख-पुष्प के पीछे नहीं लगे होंगे और अगर सचमुच कोई ऐसी शक्ति है तो उसका उपयोग देश की स्वाधीनता के लिये क्यों न किया जाये ?

बारीन बड़ौदा में स्वचालित लेखन किया करता था। एक बार बुलाने पर मेरे पिता की आत्मा आ गयी। उन्होंने कुछ बहुत विशेष भविष्यवाणियां कीं। अपने परिचय का प्रमाण देने के लिये उन्होंने यह तथ्य बतलाया कि उन्होंने बारीन को एक सोने की घड़ी दी थी, और यह बात वहां उपस्थित लोगों में से किसी को नहीं मालूम थी। उसके बाद उन्होंने देवधर के घर में एक चित्र की बात की पर उसका कहीं पता न लगा। लोगों ने खोजने की कोशिश की पर वहां कोई चित्र न मिला। जब यह बात उस आत्मा से कही गयी तो उसने अपनी बात दोहराई और कहा कि फिर से ढूंढो। जब देवधर की बूढ़ी मां से इस बारे में पूछा गया तो उसने कहा कि वहां एक चित्र हुआ करता था, परंतु अब उसपर सफेदी कर दी गयी है।

जब उस आत्मा से तिलक के बारे में पूछा गया तो उसने कहा, “जब कार्य की परीक्षा हो रही होगी और अधिकतर लोग अपना सिर झुका लेंगे तब भी यह एक ऐसा आदमी होगा जो कभी सिर न झुकायेगा।” उसके बाद हमने रामकृष्ण को बुलाया। उन्होंने कुछ भी न कहा केवल अंत में बोले, “मन्दिर गढ़ो।” उस जमाने के वातावरण में हमने इसका अर्थ दिया राजनीतिक संन्यासियों के लिये मन्दिर बनाओ। परंतु बाद में मैंने उसका ज्यादा ठीक अर्थ लगाया, “स्वयं अपने अंदर मन्दिर बनाओ।” मैंने लगभग १९०५ में प्राणायाम शुरू किया। मैंने इंजीनियर देवधर से उसकी शिक्षा लेनी शुरू की जो स्वामी ब्रह्मानंद के शिष्य थे और बाद में मैं अपने ही बल पर खड़ा हो गया। मैं बड़ौदा में खासीराव यादव के घर पर प्राणायाम का अभ्यास किया करता था। इसके परिणाम बहुत विलक्षण आये : (१) मैं बहुत-से अंतर्दर्शन, दृश्य और रूप देखा करता था। (२) मुझे अपने सिर के चारों ओर बिजली की शक्ति का सा अनुभव होता था। (३) मेरी लिखने की क्षमता लगभग सूख सी गयी थी, लेकिन प्राणायाम के अभ्यास के बाद फिर से तरोताजा हो गयी। मैं बड़ी गति के साथ गद्य और पद्य दोनों लिखने लग गया और यह प्रवाह फिर कभी नहीं सूखा। इसके बाद अगर मैंने और कुछ नहीं लिखा तो

इसका कारण यह था कि मेरे पास और बहुत-सा काम करने के लिये था। लेकिन मैं जब भी कुछ लिखना चाहूँ तो प्रवाह आ जाता है। (४) मेरा स्वास्थ्य सुधर गया, मैं हृष्ट-पुष्ट और बलवान् बन गया, मेरी त्वचा चिकनी और गोरी हो गयी और मेरी लार में मिठास का प्रवाह होने लगा। मुझे अपने सिर के चारों ओर प्रभा-मण्डल का अनुभव होने लगा। वहाँ मच्छर तो बहुत थे परंतु वे मेरे पास न आते थे।

मैं अधिकाधिक प्राणायाम करने बैठने लगा परंतु और कोई परिणाम न आया। उन्हीं दिनों मैंने मांसाहार छोड़ दिया जिससे मुझे अपने शरीर में हल्केपन और शुद्धि का अनुभव होने लगा। मांसाहार राजसिक है और विवेकानंद भारतीय लोगों से इसकी सिफारिश करते हैं। वह शरीर को एक तरह का बल और ऊर्जा देता है। इसी कारण भारत के क्षत्रियों ने मांसाहार नहीं छोड़ा। तुम तमस् से रजस् में चले जाते हो और विवेकानन्द की बात बिलकुल गलत नहीं थी।

एक संन्यासी ने आकर मुझे एक बहुत उग्र काली का स्तोत्र दिया जिसके अंत में आता था “जहि, जहि—मार डालो”, यह भारत की स्वाधीनता के लिये था परंतु इसका कोई परिणाम नहीं आया।

एक बार मैं ब्रह्मानंद की मृत्यु के बाद केशवानंद के होते हुए गंगानाथ (चांदोद) गया था।

अपने यूरोपीय मन के कारण मैं मूर्तिपूजा पर विश्वास न करता था, मुझे भगवान् की उपस्थिति पर भी मुश्किल से विश्वास था। मैं करनाली गया जहाँ बहुत-से मंदिर थे। उनमें से एक काली का था और जब मैंने काली की मूर्ति को देखा तो मुझे उसमें एक जीवित जाग्रत उपस्थिति दिखलायी दी। यह पहली बार मुझे भगवान् की उपस्थिति पर विश्वास हुआ।

एक बार साधना करते हुए मैं सब प्रकार के परीक्षण यह जानने के लिये किया करता था कि क्या होता है और इनका सत्य के साथ कहां तक संबंध है। मैंने भांग, गांजा, चरस आदि नशीली चीजें भी ली थीं। मैं यह जानना चाहता था कि इससे क्या होता है और साधु-संन्यासी इन्हें किसलिये लेते हैं। परिणामस्वरूप मैं कभी-कभी समाधि में चला जाता था और कभी-कभी

उच्चतर चेतना
बाहरी उद्दीपन
जब मैं

साथ ध्यान
हुआ। उसके
हना पड़ा।

और अमर्याद
सकती है।

दस पाउंड
भौतिक पदार्थ

घटना है। ते
प्राणिक स्तर

भौतिक स्तर
प्राणिक शक्ति

“यह ऐसा
हैं जो प्राण

और मजाक
आते हैं !

६ जनवरी

शिष्य—

श्रीअरवि

१. ऊपर

द्वारा।

२. हृदय

शिष्य—

श्रीअरवि

नवंबर १९९१

उच्चतर चेतना में चला जाता था। (परंतु इस पद्धति को सबसे बड़ी त्रुटि है बाहरी उद्दीपकों पर निर्भरता।)

जब मैं किसी पथ-प्रदर्शक की खोज में था तो लेले से मिला और उनके साथ ध्यान करते हुए, सरदार मजूमदार के मकान में, मुझे निर्वाण का अनुभव हुआ। उसके बाद मुझे साधना के लिये आंतरिक पथ-प्रदर्शन पर ही आश्रित रहना पड़ा। अलीपुर में साधना बहुत तेज चली; वह अत्यधिक आह्लादक और अमर्यादित थी। प्राणमय स्तर पर यह संकटमय और अनर्थकारी हो सकती है। मैंने अलीपुर में दस-ग्यारह दिन का उपवास किया और मेरा भार दस पाउंड कम हो गया। पांडिचेरी में भार इतना कम नहीं हुआ, यद्यपि भौतिक पदार्थ कम होना शुरू हो गया था। यह शंकर चेट्टी के मकान की घटना है। तेईस दिन के उपवास में मैं आठ घंटे रोज टहलता था। योगियों को प्राणिक स्तर पर जो चमत्कारपूर्ण या विलक्षण शक्तियां प्राप्त होती हैं वे सब भौतिक स्तर पर सच्ची नहीं होतीं। प्राण में बहुत-से गढ़े और फंदे होते हैं। ये प्राणिक शक्तियां हिटलर जैसे लोगों को भी हाथ में लेकर उससे यूं कहकर, "यह ऐसा होगा", अपना काम करवा लेती हैं। ऐसे साधकों के कई उदाहरण हैं जो प्राणमय लोक की इन आवाजों पर कान देकर अपनी साधना खो बैठे और मजाक यह है कि वे सभी कहते हैं कि ये आदेश माताजी से या मुझसे आते हैं !

६ जनवरी १९३९

शिष्य—अहंकार को हटाने के लिये साधना में कौन-से उपाय हैं ?

श्रीअरविंद—अहंकार मिटाने के दो तरीके हैं :

१. ऊपर स्थित आत्मा और उसकी शुद्धि, ज्ञान आदि की प्रकृति की प्राप्ति द्वारा।

२. हृदय में विनय द्वारा।

शिष्य—इनमें क्या अंतर है ?

श्रीअरविंद—दूसरी विधि अहंकार को हटाती नहीं परंतु उसे हानिरहित बना

देती है; अतः वह व्यक्ति के लिये आध्यात्मिक रीति से सहायक होती है। अहंकार पूरी तरह से तभी हटता है जब मनुष्य अपने-आपको आत्मा के साथ तदात्म कर लेता है और उसी आत्मा को सबके अंदर अनुभव करता है। और जब मानसिक, प्राणिक और भौतिक प्रकृति में वैश्व मन, वैश्व प्राण और वैश्व भौतिक से व्युत्पन्न होने का ज्ञान हो जाता है तब भी वही परिणाम आता है। व्यक्ति को अपनी दिव्यता का अनुभव होना चाहिये, उदाहरण के लिये उसे वैश्व अथवा परात्पर भगवान् के साथ तादात्म्य का अनुभव होना चाहिये।

सामान्यतः, जब तुम आत्मा का अनुभव करते हो तो अहंकार का मानसिक भाव चला जाता है; पूरा अहंभाव नहीं। क्रियाशील प्रकृति अहंकार को और विशेषकर प्राणिक अहंकार को बनाये रखती है। अतः, सबसे अच्छी चीज तो यह होगी कि दोनों को मिला दिया जाये—क्योंकि विनय की चैत्य वृत्ति प्राणिक क्रियात्मक अहंकार से पीछा छुड़ाने में सहायक होती है।

अहंकार का पूरी तरह विलोपन कोई आसान चीज नहीं है। ज्यादा महत्वपूर्ण है मानसिक और प्राणिक अहंकार को हटाना; भौतिक और अवचेतना के अहंकार को बाद में आसानी से हटाया जा सकता है अर्थात् वे इतने ज्यादा चित्ताकर्षक नहीं होते।

जैसा कि मैंने कहा, नम्रता प्राणिक अहंकार को हटाने में सहायक होती है, परंतु यह याद रखो कि यह बाहरी नम्रता नहीं होनी चाहिये।

बहुत-से लोग हैं जो बाहर से अपने-आपको अत्यधिक विनम्र दिखलते हैं परंतु अपने हृदय में सोचते हैं, “मैं ही मनुष्य हूँ!”

शिष्य—जब ‘क’ यहां थोड़े दिनों के लिये आया था तो उसे लगा कि आपके अंदर नम्रता और विनय की कमी है।

श्रीअरविंद—उसे कैसे पता? शायद मैं कुछ अन्य लोगों की तरह यह दावा न करता था कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। मैं ऐसा न कर सकता था क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह सच नहीं है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ।

शिष्य—क्या योग शुरू करने से पहले आप विनम्र थे?

श्रीअरविंद—एक प्रकार का ऐच्छिक आत्म-विलोपन था, मैं अपने-आपको

पीछे रखना
की अपेक्षा

शिष्य—

है तो वे कह
मतभेद रख

श्रीअरवि

श्रेष्ठतर मान

कहता था,

था। जब

समझौता क

पर डटा रह

हुगली

के लिये मैं

विरोध न क

से बहुत ना

मानते थे

पुाने, उच्च

उन नये यु

खड़े थे औ

उस स

भाव पैदा

करते थे।

उछलकर व

सुरेन्द्र

साथ बनाव

नम दलव

नेता बन ज

उसे स्वीका

नवंबर १९९१

पीछे रखना चाहता था, लेकिन मैं यह नहीं कह सकता कि अधिकतर लोगों की अपेक्षा मैं अधिक विनयशील था।

शिष्य—महात्माजी जब देखते हैं कि सिद्धांत में उनसे कोई मतभेद रखता है तो वे कहते हैं, “वह मुझसे श्रेष्ठ है, वह मुझसे बड़ा है आदि, पर मैं उससे मतभेद रखता हूँ।”

श्रीअरविंद—लेकिन प्रश्न यह है कि क्या वे सचमुच उस आदमी को श्रेष्ठतर मानते हैं। जब मैं किसी से मतभेद रखता था तो मैं केवल इतना ही कहता था, “नहीं” या “मैं सहमत नहीं हूँ।” और मैं अपना मत बनाये रखता था। जब सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी नरम दल और गरम दल के लोगों के बीच समझौता कराने के लिये आये थे तो मैंने बस “ना” कर दी और अपनी बात पर डटा रहा। शायद लोग मुझे विनयशील न कहें।

हुगली सभा में हम गरम दलवालों का बहुमत था। लेकिन एकता रखने के लिये मैंने गरम दलवालों को सलाह दी कि वे समझौते के प्रस्ताव का विरोध न करें। सभी गरम दलवाले बाहर चले गये। नरम दलवाले इस बात से बहुत नाराज हो गये कि लोग अपने पुराने, अनुभवी नेताओं की बात नहीं मानते थे और पूरी तरह जवान नेताओं की आज्ञा मानते थे। सुरेन बैनर्जी पुराने, उच्चतर मध्यमवर्ग के नेतृत्व के प्रभाव और धन के कारण उनमें तथा उन नये युवा नेताओं के फर्क को न समझ पाये जो किसी सिद्धांत के लिये खड़े थे और जिनके काफी अनुयायी थे।

उस समय लोगों में अनुशासन और अपने नेताओं की आज्ञा मानने का भाव पैदा हुआ। वे उग्र तो थे, पर आदेश का शब्द पाते ही आज्ञा पालन करते थे। इसने महात्मा के लिये रास्ता तैयार कर दिया। अश्विनी कुमार दत्त उछलकर कहते थे, “यही जीवन है।”

सुरेन्द्र बैनर्जी में व्यक्तिगत चुम्बकत्व था, वे मधुरभाषी थे और हर एक के साथ बनाकर रह सकते थे। उनका विचार था कि उग्रवादियों की तलवार और नरम दलवालों के सार्वजनिक रूप का उपयोग करके वे बंगाल में निर्विरोध नेता बन जायें। व्यक्तिगत रूप में वे क्रांतिकारी आंदोलन तक जा पहुंचते और उसे स्वीकार तक कर लेते थे। यहां तक कि खानगी तौर पर वे क्रांतिकारियों

के लिये प्रांतीय अधिकार-पटल बनाना चाहते थे। बारीन एक बार उनके पास एक बम लेकर गया था और वे उत्साह से भर उठे। जब वह माणिकटोला में पकड़ा गया तो उसके पास सुरेन बैनर्जी का एक पत्र भी था। लेकिन अदालत में जैसे ही नॉर्टन ने सुरेन बैनर्जी का नाम लिया कि मामला दबा दिया गया।

एक शिष्य ने औंध के विधान की बात चलायी।

शिष्य—औंध राज्य ने अपनी प्रजा को एक बहुत अच्छा विधान दिया है। उसने पंचायत को विस्तृत शक्तियाँ दी हैं। ग्रामीणों के बीच ऐसा सृजनात्मक कार्य कम्यूनिज्म को रोकेगा। वे सामुदायिक कृषि शुरू करने की भी सोच रहे हैं।

श्रीअरविंद—सामुदायिक कृषि बहुत अच्छी चीज है। वह खेती को विकसित करेगी परंतु सर्वहारा का अधिनायक एक और ही चीज है। कागज पर ऐसा विधान बहुत सुंदर लग सकता है परंतु व्यवहार में वह भिन्न होता है। ऐसी पद्धति में सब लोगों को समान रूप से सोचने के लिये बाधित किया जाता है।

धर्म एक और ही चीज है, वह ऐच्छिक होता है; लेकिन देश धर्म से भिन्न होता है। तुम अपने देश का चुनाव नहीं कर सकते। अगर तुम सभी मनुष्यों को एक ही तरह सोचने के लिये बाधित करो तो मानव प्रगति हो ही नहीं सकती। अगर तुम लेनिन या स्टालिन से भिन्न प्रकार से सोचो तो तुम मिटा दिये जाओगे।

इन तानाशाहों के पास बहुत ही कम विचार होते हैं। उदाहरण के लिये हिटलर को ले लो। उसे विश्वास है :

१. जर्मन प्रजा संसार में सबसे अच्छी है। २. हिटलर को ही नेता होना चाहिये। ३. सभी यहूदी दुष्ट हैं। ४. संसार के सभी लोगों को नाज़ी होना चाहिये।

मैं नहीं जानता कि ऐसी स्थिति में मानवजाति कैसे प्रगति कर सकती है।

शिष्य—सभी सरकारें कर बढ़ाने की ओर प्रवृत्त हैं।

श्रीअरविंद—सभी सरकारें डाके डालती हैं, कुछ कानून बनाकर, कुछ उसके बिना। तुम ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हो जहां तुम्हें अपना आमदनी का पचास प्रतिशत करों में दे देना पड़ता है और बाकी से अपना काम अच्छी-से-अच्छी तरह चलाना होता है।

शिष्य—

श्रीअर

फ्रांस कैसे

तुलना में

नहीं आता

हैं। इंग्लैंड

तस्कर-

डाका डाल

कुछ र

शिष्य—

करने के लि

श्रीअर

दोनों भागों

७ जनवरी

शिष्य—

किया जा

श्रीअर

स्वाभाविक

स्वाभाविक

इसलिये है

प्रगति करे

शिष्य—

श्रीअर

मतलब हु

स्वतंत्र है, व

हदा देती है

शिष्य—चुंगीवाले भी बहुत ले लेते हैं।

श्रीअरविंद—यह डाके का एक और रूप है, लेकिन इस सबके बावजूद फ्रांस कैसे केवल ढाई सौ हवाई जहाज तैयार कर पाता है। जब कि उसकी तुलना में जर्मनी एक हजार हवाई जहाज तैयार कर लेता है! मेरी समझ में नहीं आता कि इन सरकारों को जो मोटी रकमें मिलती हैं उनका वे क्या करती हैं। इंग्लैंड में काफी ईमानदार सरकार है। जनता युद्ध के बारे में परेशान है।

तस्कर-व्यापार तो एक तरह का गुण बन गया है क्योंकि इसमें डाकू पर डाका डाला जाता है! (हंसी)

कुछ राजा भी तस्करी करते पकड़े गये हैं।

शिष्य—आजकल हिन्दी-भाषी और मराठी-भाषी मध्य प्रदेश का बंटवारा करने के लिये भी आन्दोलन हो रहा है। इससे कांग्रेस कमजोर पड़ गयी है।

श्रीअरविंद—नागपुर राष्ट्रीयता का बहुत अच्छा केंद्र था। आरंभ में इन दोनों भागों—हिन्दी-भाषी और मराठी-भाषी—को अलग कर देना चाहिये था।

७ जनवरी १९३९

शिष्य—क्या चैत्य वृत्ति और आत्मा की अनुभूति द्वारा अहंकार को दूर किया जा सकता है?

श्रीअरविंद—चैत्य विनय अहंकार को हटा देती है पर अहं को नहीं। स्वाभाविक व्यक्तित्व के अहं को हटाना चैत्य का काम नहीं है। चैत्य स्वाभाविक व्यक्तित्व पर आधार रखता और उसे बनाये रखता है। चैत्य इसलिये है कि स्वाभाविक व्यक्तित्व भगवान् की ओर मुड़े और उनकी ओर प्राप्ति करे।

शिष्य—अहं को कैसे हटाया जाता है?

श्रीअरविंद—अहं को आत्मा का साक्षात्कार करके हटाया जाता है, जिसका मतलब हुआ, 'ऊपर' की आध्यात्मिक चेतना तक जाकर, वह चेतना प्रकृति से स्वतंत्र है, वह स्वयंभू है। वह आत्मा सभी के अंदर 'एक' है। उसकी प्राप्ति अहं को हटा देती है क्योंकि तब मनुष्य अपने-आपको आत्मा के साथ तदात्म कर लेता है।

शिष्य—तब फिर दिव्य शक्ति में “मैं” का स्थान कौन लेता है ? चैत्य व्यक्तित्व का स्वभाव या उसकी प्रकृति क्या है ?

श्रीअरविंद—चैत्य व्यक्तित्व के मामले में आदमी साधु, संत, भक्त या पुण्यात्मा के अहं का अनुभव कर सकता है। वह प्रकृति पर एक आत्मा और समस्त मानवजाति के लिये सहानुभूति का भाव आरोपित करके भी अहंकार से पिण्ड छुड़ा सकता है, लेकिन यह पूरी तरह अहं से पिण्ड छुड़ाना नहीं है। चैत्य अहं के निष्कासन के लिये रास्ता साफ कर देता है।

शिष्य—जब हम आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं तो क्या होता है ?

श्रीअरविंद—साधारणतः जब तुम आत्मा का साक्षात्कार कर लेते हो तो अहं का मानसिक भाव लुप्त हो जाता है, पर प्राणिक और भौतिक अपने अहंकार की गतियों को बनाये रखते हैं। बहुत-से योगी जब वे कहते हैं “यह स्वभाव या प्रकृति है” तो उनका यही मतलब होता है। बहुधा वे उसे अपने रास्ते पर चलने देते हैं और जब देह का पतन हो जाता है तो इसका भी पतन हो जाता है; लेकिन यह रूपांतर नहीं है। विवेकानंद का यही आशय था जब उन्होंने कहा था कि मानव स्वभाव नहीं बदल सकता; वह कुत्ते की दुम की तरह है, तुम उसे सीधा तो कर सकते हो, पर जैसे ही उसे छोड़ोगे वह फिर से टेढ़ी हो जायेगी।

शिष्य—इस ‘स्वभाव’ या ‘प्रकृति’ का क्या अर्थ है ?

श्रीअरविंद—इसका मतलब यह है कि अवचेतना में कुछ शक्तियाँ इकट्ठी होती हैं जो अपने-आपको मानव सत्ता पर आरोपित करती हैं।

शिष्य—इस मानव स्वभाव को कैसे बदला या रूपांतरित किया जाये ?

श्रीअरविंद—मानव स्वभाव को बदलने के लिये तुम्हें एक-एक स्तर पर काम करना होता है। तुम एक चीज को मन से बाहर करते हो तो वह प्राण में आ जाती है, जब तुम उसे प्राण से निकाल देते हो तो वह भौतिक में आ जाती है और फिर तुम उसे अवचेतना में पाते हो।

अवचेतना में एक केंद्र-बिन्दु होता है जिसे बदलना पड़ता है। यह हो जाये तो सब कुछ हो जाता है। इसी बिन्दु से प्रकृति से प्रतिरोध उठता है—विवेकानंद का यही मतलब था। संपूर्ण रूपांतर साधित करने के लिये

तुम्हें हर ची

शिष्य—

क्या यह वे

जा सकता

श्रीअरवि

ले सकते ह

या जड़ता

शिष्य—

श्रीअरवि

ज्वलन्त स

थीं और उ

तरह वहीं

के धर्म की

शिष्य—

जाती ?

श्रीअरवि

प्राणिक ल

गया। तब

गयीं और

तुम वैदिक

तैयार रहते

हो।

शिष्य—

आयेंगे उन्

श्रीअरवि

प्रकृति के

ऐसे भी

बहुत अच्

तुम्हें हर चीज को अवचेतन में उतारना होगा और यह बहुत कठिन है।

शिष्य—थकी हुई स्नायविक सत्ता को कैसे ताज़ादम किया जा सकता है ? क्या यह वैश्व प्राण से ऊर्जा खींचकर या उच्चतर शक्ति की सहायता से किया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—दोनों विधियों को मिलाया जा सकता है। तुम वैश्व प्राण से भी ले सकते हो और उच्चतर शक्ति भी कार्य कर सकती है। लेकिन कोई तमस् या जड़ता अथवा कोई अन्य बहाने नहीं होने चाहियें।

शिष्य—क्या ऐसा समय था जब इन चीजों का अनुभव किया गया था ?

श्रीअरविंद—जब हम 'गेस्ट हाऊस' में रहते थे तो हम प्राणिक साधना के ज्वलन्त समय में से गुज़र रहे थे। कई लोगों को चौंकानेवाली अनुभूतियां होती थीं और ऊर्जा की बड़ी-बड़ी लहरें उठती थीं। अगर हम भी अन्य योगियों की तरह वहीं रुक जाते तो हम एक प्रदीप्त सृजन कर सकते थे या किसी प्रकार के धर्म की स्थापना कर सकते थे; लेकिन वह सच्चा काम न होता।

शिष्य—क्या भौतिक सत्ता की विजय में उस समय एक बड़ी प्रगति न हो जाती ?

श्रीअरविंद—अगर साधक ठीक वृत्ति अपनाते तो कठिनाइयों के बावजूद, प्राणिक लाभ के कारण भौतिक में काम आसान होता; परंतु यह किया नहीं गया। तब हम नीचे भौतिक में उतर आये। वे उज्ज्वल अनुभूतियां गायब हो गयीं और भौतिक रूपांतर का धीमा, कठिन काम बचा रहा। वहां, शरीर में तुम वैदिक ऋचा के सत्य को पाते हो कि छिद्रान्वेषी हमेशा यह कहने के लिये तैयार रहते हैं कि तुम यह नहीं कर सकते, तुम असफल होने के लिये बाध्य हो।

शिष्य—तो क्या इसका यह मतलब होगा कि जो नये लोग योग करने आयेंगे उन्हें मानसिक और प्राणिक स्तरों का कोई अनुभव न होगा ?

श्रीअरविंद—यदि वे अलग-थलग रहें तो वे पा सकते हैं। हां, वे भौतिक प्रकृति के दबाव से नहीं बच सकते, क्योंकि यह वातावरण में है।

ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें भेद होता है : कोई व्यक्ति है 'क', उसने मन में बहुत अच्छी प्रगति की। दूसरे उदाहरण में साधक अलग-थलग रहा और

उसने प्रगति की; लेकिन जिस क्षण वह प्राणिक स्तर पर आया, ऐसा लगा कि सारी चीज बंद हो गयी !

शिष्य—क्या वह पूरी तरह ब्रह्म-चेतना से संपर्क खो बैठा ?

श्रीअरविंद—नहीं, यह केवल बाहरी रूप से समाप्त हो गया। लेकिन अगर वह आगे न बढ़ सके तो उसका योग यहीं समाप्त समझो; वस इतना ही।

शिष्य—क्या नवागन्तुक तेजी से प्रगति कर सकते हैं ?

श्रीअरविंद—निश्चय ही कर सकते हैं। मैं ऐसे उदाहरण जानता हूँ जहाँ वे तेजी से बड़ी अच्छी प्रगति करते चलते हैं।

शिष्य—क्या योग भाग्यवान् नवागन्तुक के लिये ज्यादा आसान होगा ?

श्रीअरविंद—हां, एक अर्थ में; लेकिन परिस्थितियाँ ज्यादा कठिन हो सकती हैं और हो सकता है कि उनसे ज्यादा ऊंची माँगों की जायें। तुम्हारे लिये समय आसान था। तुम अपने मन, प्राण तथा अन्य भागों में न्यूनाधिक रूप से अपनी मरजी के मुताबिक करने के लिये खुले छोड़ दिये गये थे। लेकिन जब अवचेतना में परिवर्तन लाना होगा तो बहुतों को कठिनाई होगी; कुछ ऐसे होंगे जो प्रगति करेंगे और कुछ नहीं, शायद टपक जायें। कुछ लोग पहले ही टपक चुके हैं, जैसा 'क' के साथ हुआ, जब माताजी ने उसकी प्राणिक सत्ता के बारे में निर्णय किया, "तुम्हें बदलना होगा।" उससे पहले वह अपनी कला तथा अन्य चीजों में तैर रहा था, लेकिन जैसे ही यह आया वह टपक पड़ा। ये सब चीजें—जैसे आसक्ति, काम-वासना आदि—अंततः अवचेतना में ही शरण पाती हैं। तुम्हें उन्हें वहाँ से निकाल फेंकना पड़ता है—अवचेतना में से बीज का नाश जरूरी है, नहीं तो वह फिर से अंकुरित हो उठेगा, जैसा कि हम कुछ योगियों के बारे में देखते हैं।

शिष्य—क्या भगवान् के साथ संपूर्ण ऐक्य होने के बाद भी ये चीजें मनुष्य में रह सकती हैं ?

श्रीअरविंद—"पूर्ण ऐक्य" क्या है ? उदाहरण के लिये रामकृष्ण ने दिव्य जननी से प्रार्थना की कि उनके पास "काम" को न भेजें और वे सफल हो

नवंबर १९९१

गये, परंतु सब तो एक जैसे नहीं होते। यह बिलकुल संभव है कि किसी चीज को केंद्रीय रूप से या थूं कहो पूरी तरह निकाल बाहर किया जा सके—लेकिन इन चीजों के बारे में कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

हमारा योग जंगल में बनायी गयी नयी पगडंडी के जैसा है और इस क्षेत्र में पहले से बने रास्ते नहीं हैं। स्वयं मुझे बहुत बड़ी कठिनाइयां हुई थीं; यह सुझाव तो हमेशा रहता था कि यह संभव नहीं है। एक अंतर्दर्शन ने, जो माताजी ने दिया था, मुझे संभाले रखा : यह दुरारोह पहाड़ी के शिखर पर चढ़ती हुई गाड़ी का अंतर्दर्शन था। इसकी सबसे ऊंची चोटी है उच्चतर चेतना की प्राप्ति द्वारा प्रकृति का रूपांतर।

शिष्य—क्या कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे अनौपचारिक रूप से सभी योगों में प्रतिष्ठित माना जा सके।

श्रीअरविंद—इस योग में तुम्हें एक ही चीज को बार-बार कार्यान्वित करते रहना पड़ता है। इस तरह यह लम्बा खिंचा हुआ संघर्ष बन जाता है जिसमें तुम गिरते, उठते और फिर गिरते हो। उदाहरण के लिये निर्वाण, स्थिरता, समता को लो। मुझे इन्हें तब तक बार-बार प्रतिष्ठित करते रहना पड़ा जब तक कि मैं इन्हें निश्चेतना में नहीं बिठा सका, और तब यह दुर्घटना हुई। शायद यह परीक्षा रही हो।

शिष्य—किस चीज ने इस दुर्घटना को संभव बनाया ?

श्रीअरविंद—भौतिक में दरारें थीं।

शिष्य—क्या हम इसे लीला या खेल मान सकते हैं ?

श्रीअरविंद—यह अज्ञान है और भगवान् उसमें से कार्य कर रहे हैं। अगर ऐसा न होता तो जीवन का अर्थ ही क्या था ?

सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था और ऐसा लगता था कि मैं अपने काम में अच्छी तरह बढ़ रहा था और तब यह दुर्घटना आयी। इसने यह बतलाया कि जब अवचेतन बदल जाता है तभी सत्य की शक्ति मूर्त रूप धारण कर सकती है; उसके बाद वह मानवजाति में लहर-पर-लहर के रूप में फैलती जाती है।

८ जनवरी १९३९

शिष्य—क्या यह कहा जा सकता है कि नौद में खरटि किसी व्यक्ति की उपस्थिति के विरुद्ध अवचेतना का प्रतिरोध है ? (हंसी)

श्रीअरविंद—किसके विरुद्ध ? जब आदमी अकेला ही खरटि भर रहा हो तब किसकी उपस्थिति के विरुद्ध ! (हंसी)

शिष्य—हमने अखबारों में पढ़ा है कि जॉन मिडलटन मुरे आस्तिक बन गया है। अवांछित तत्त्वों को साफ करने के बाद हिटलर ने जो कहा था कि वह “न्याय और विधान” का मूर्त रूप है, कि वह मुकद्दमों और कठिनाइयों से पिंड छुड़ाता है, इसने मुरे के मन में यह विचार दिया कि वह ईसा-विरोधी है। कहते हैं कि गांधीवादी अहिंसा भी हिटलर के मन को भायी है। वह एक ग्रामीण पादरी बनकर गांववालों का शहर में जाना बंद करना चाहता है। गांधी ने हिटलर के राज्य के बारे में लिखा है कि बिशप नाएमोलर की यातनाएं व्यर्थ नहीं गयीं। उसने अपने-आपको महिमान्वित कर लिया है। हिटलर का हृदय पत्थर से भी कड़ा हो सकता है परंतु अहिंसा में ऐसी शक्ति होती है जो अधिक-से-अधिक पथरीले हृदय को भी पिघलाने की गर्मी पैदा कर सके। क्या राय है आपकी इस बारे में ?

श्रीअरविंद—मेरा ख्याल है कि उसके लिये एक पूरी भट्टी की जरूरत होगी ! (हंसी) गांधी को मुख्य रूप से अंग्रेजों से ही काम पड़ा है और अंग्रेज अपने अंतःकरण को शांत रखना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेज अपने स्वाभिमान को बनाये रखना चाहते हैं और जगत्-प्रतिष्ठा भी चाहते हैं। लेकिन अगर गांधी को रूसी शून्यवादियों से—बोलशेविकों से नहीं—या जर्मन नाज़ियों से काम पड़ता तो वे उसे बहुत पहले रास्ते से बाहर कर देते।

शिष्य—गांधीजी को हिटलर के हृदय-परिवर्तन की आशा है या उन्हें आशा है कि जर्मन उसे निकाल बाहर करेंगे।

श्रीअरविंद—अगर हिटलर का हृदय कोमल होता तो आज वह वहां न होता जहां है। यह अजीब बात है कि कुछ भावुक लोग सबसे ज्यादा क्रूर होते

नवंबर १९३९

हैं। उदाहरण

हैं और भावुक

शिष्य—

कोचवान की

श्रीअरवि

से उठाकर

संभावना न

रक्त में है।

इसका

परंतु वे जर्म

अंग्रेज भा

व्यावहारिक

मिश्रण देख

गले लगा

जब तुम उ

शिष्य—

प्रतिज्ञाबद्ध

पंजाबी स

नियमित र

एक वि

जमीन पर

बस करो

दूसरा

को सधा

उसपर अ

अगले स्

समझा।

है।

नवंबर १९९१

हैं। उदाहरण के लिये हिटलर बहुत भावुक है, वह अपनी मां की कब्र पर रोता है और भावुकता भरे चित्र बनाता है।

शिष्य—जैसा कि आपने एक दिन कहा था उसके अंदर “लंदन के कोचवान की आत्मा” है।

श्रीअरविंद—हां, हिटलर जैसे लोग नहीं बदल सकते, उन्हें तो अस्तित्व में से उठाकर पटक देना चाहिये। उनके लिये इस जीवन में बदलने की कोई संभावना नहीं है। वह अपनी क्रूरता से अलग नहीं हो सकता—वह तो उसके रक्त में है।

इसका मतलब यह नहीं है कि अंग्रेज भी क्रूर और भावुक नहीं हो सकते। परंतु वे जर्मनों और रूसियों की तरह दृढ़ता के साथ पाशविक नहीं हो सकते। अंग्रेज भावुक हो सकता है, लेकिन वह दिखाना चाहता है कि वह व्यावहारिक, नीरस और बहादुर है। रूसी में तुम क्रूरता और भावुकता का मिश्रण देखते हो। वह तुम्हारी गर्दन तोड़ सकता है और दूसरे ही क्षण तुम्हें गले लगा सकता है। अंग्रेज तुम्हारे साथ बड़ी अच्छी तरह व्यवहार करता है जब तुम उसके बुरे व्यवहार के बदले में उसके मुंह पर तमाचा जड़ दो।

शिष्य—फिजी के एक भले घर के पंजाबी का किस्सा है जो वहां प्रतिज्ञाबद्ध मजदूर बनकर गया था। एक अंग्रेज उसका सुपरवाइजर था। पंजाबी साहब का दिया हुआ काम अच्छी तरह करता था, फिर भी साहब नियमित रूप से उसे हर रोज पीटता था।

एक दिन पंजाबी इस व्यवहार से ऊब गया और उसने साहब को पकड़ कर जमीन पर दे पटका और लगा पीटने। आखिर साहब चिल्लाया : “बस करो, बस करो !” दोनों ने हाथ मिलाया और अच्छे दोस्त बन गये ! (हंसी)

दूसरा शिष्य—बंगाल के एक पहलवान श्यामकान्त का किस्सा है जो शेरों को सधाया करता था। वह रेल से कहीं जा रहा था, साहब लोग आ गये और उसपर अपनी ताकत आजमाने लगे। उसने सबको ऐसी अच्छी तरह पीटा कि अगले स्टेशन पर ही उन्होंने उस डिब्बे को छोड़ने में ही अपने-आपको धन्य समझा। उन्होंने कभी न सोचा था कि कोई बंगाली इतना मजबूत हो सकता है।

एक और बार किसी अंग्रेज और बंगाली के बीच भिड़न्त के कारण रेल हावड़ा-स्टेशन पर रोक दी गयी। 'वन्दे मातरम्' का नारा सुनते ही सारे मुसाफिर उतर आये।

श्रीअरविन्द—स्वदेशी के दिनों की यह अचानक काया पलट थी। उससे पहले बंगाल में लोग अंग्रेज को देखते ही कांपने लगते थे। स्थिति एकदम पलट गयी।

मुझे याद है जब मैं राजनीतिक काम करना चाहता था तो मैं बंगाल गया और मैंने जैसोर, खुलना आदि जिलों का दौरा किया। हमने देखा कि लोग निराशा में डूबे हुए थे और सारे देश पर अंधकार का काला भार लदा हुआ था। आजकल उन दिनों की कल्पना करना भी मुश्किल है। मैं देवव्रत बोस के साथ घूम रहा था; वह केवल केले पर रहता था और लोगों के आगे भाषण देता था। उसका बोलने का ढंग बहुत विश्वासोत्पादक था। खुलना में हमें बहुत शाही सम्मान मिला, इसलिये इतना नहीं कि मैं राजनीतिक आदमी था, बल्कि इसलिये कि मैं अपने बाप का बेटा था। उन्होंने मेरे आगे सात-सात थाल सजा दिये जिन तक पहुंचना भी मेरे लिये मुश्किल था। वैसे भी मैं दूसरे थालों से कम खा पाया।

मेरे पिता खुलना में बहुत लोकप्रिय थे। वे जहां भी जाते थे बहुत शक्तिशाली बन जाते थे। जब वे रंगपुर में थे तो वे वहां के मजिस्ट्रेट के बहुत अच्छे दोस्त थे। हम इंग्लैंड में उनके एक रिश्ते के भाई डुएट्स के यहां ठहरे थे। रंगपुर में सब काम-काज डा० के० डी० घोष के द्वारा ही हो पाता था, उनके बिना कुछ भी न होता था। जब रंगपुर में नया मजिस्ट्रेट आया तो उसने देखा कि डा० के० डी० घोष के बिना तो कुछ हो ही नहीं पाता। उसने इनका तबादिला करवा कर इन्हें खुलना भेज दिया। इसके बाद वे राजनीतिज्ञ बन गये। अर्थात्, उन्हें अंग्रेजों का आधिपत्य पसंद न आया। इससे पहले उनके लिये हर पाश्चात्य चीज अच्छी होती थी। उदाहरण के लिये उन्होंने चाहा कि उनके सभी बेटे बड़े आदमी बनें; उन दिनों बड़े आदमी बनने का मतलब था आई० सी० एस० बनना। वे बहुत ज्यादा उदार थे। जो कोई उनके पास सहायता के लिये आता था वह खाली हाथ न जाता था।

शिष्य—

श्रीअरवि

था। उन्हें

जहाज से च

पुर्तगाल के

उस जहाज

शिष्य—

भेजा करते

श्रीअरवि

भेजना शुरू

छात्रवृत्ति नि

खर्च निक

उन्होंने मुझे

विरुद्ध एव

लेकिन

कठोर जी

काम कर

उसी पर

टुकड़ा ख

ओवरको

लेक्चर

हाऊस मे

केंब्रि

करता थ

भी मेरा

बाद हम

मुझसे उ

को पत्र

नवंबर १९९१

शिष्य—क्या आपने इंग्लैंड से लौटने पर उन्हें देखा था ?

श्रीअरविंद—नहीं, मैं नहीं देख पाया। वस्तुतः मैं ही उनकी मृत्यु का कारण था। उन्हें हृदय की तकलीफ थी। ग्रिडले ने उन्हें तार भेजा कि मैं अमुक जहाज से चल रहा हूँ और वस्तुतः मैं उस जहाज से न चला था। वह जहाज पुर्तगाल के पास डूब गया। उन्होंने यह समाचार सुना और मान लिया कि मैं उस जहाज में डूब गया। वे उसी धक्के से चल बसे।

शिष्य—जब आप इंग्लैंड में थे तो क्या वे आपको नियमित रूप से पैसा भेजा करते थे ?

श्रीअरविंद—हां, शुरू में। लेकिन बाद में उन्होंने कम और अधिक कम भेजना शुरू कर दिया और अंत में तो बंद ही कर दिया। मुझे कैम्ब्रिज में छात्रवृत्ति मिलती थी लेकिन वह इतनी न थी कि उससे मेरी फीस तथा अन्य खर्च निकल आते। तब मेरे अध्यापक ने उन्हें धन के बारे में पत्र लिखा। उन्होंने मुझे ठीक शुल्क के लायक पैसा भेज दिया और साथ ही अपव्यय के विरुद्ध एक भाषण भी लिख मारा ! (हंसी)

लेकिन यह बात सच्ची न थी। मैं और मेरे बड़े भाई बहुत सादा और कठोर जीवन बिताते थे। मेरे भाई हेनरी कॉटन के लिबरल एसोसियेशन में काम करते थे और उन्हें साप्ताहिक पचास शिलिंग मिल जाते थे। हम दोनों उसी पर बसर करने की कोशिश करते थे। हम सवेरे रोटी और बेकन का टुकड़ा खाते थे और रात को एक तरह की पेस्ट्री। जाड़े के लिये हमारे पास ओवरकोट न था। इस तरह एक वर्ष काटने के बाद अपव्यय के बारे में लेक्चर पाना बेतुका था। लेकिन मनमोहन इसे न सह सका, वह एक बोर्डिंग हाऊस में चला गया और बिना पैसा दिये आराम से रहने और खाने लगा।

कैम्ब्रिज में एक दर्जी था जो मुझे तरह-तरह के कपड़ों के प्रलोभन दिया करता था और उधार दे दिया करता था। फिर मैं लंदन चला गया। उसने वहां भी मेरा पता लगा लिया और मनमोहन द्वारा नये ग्राहक जुटा लिये। उसके बाद हमलोग हिंदुस्तान आ गये लेकिन उसने हमारा पीछा न छोड़ा। उसने मुझसे और मनमोहन से पैसा वसूल करने के लिये बंगाल और बड़ौदा सरकार को पत्र लिखा।

मैंने अपना सारा उधार चुका दिया था, सिर्फ चार पाउंड मैंने जानबूझ कर बाकी रखे थे क्योंकि वह हमेशा मुझसे दुगुने पैसा लिया करता था। लेकिन महाराजा ने सलाह दी और मैंने उसे वह पैसा भी चुका दिया।

शिष्य—क्या मनमोहन ने आपके राजनीतिक जीवन का अनुसरण किया था ?

श्रीअरविंद—वह हमारे राजनीतिक जीवन पर बहुत गर्व करता था। वह कहां करता था, “हिंदुस्तान में ढाई आदमी हैं—मेरे दो भाई अरविंद और बारीन तथा आधा तिलक !” (हंसी)

शिष्य—मनमोहन इंग्लैंड में कैसा था ?

श्रीअरविंद—वह कवि का अभिनय करता था। वह कविता-रोग से पीड़ित था और अपनी कविता की पंक्तियां कराहते हुए, गहरी गंभीर आवाज में गुनगुनाया करता था। एक बार हम कंबरलैंड में से गुजर रहे थे और रात अंधेरी हो चली थी। हमने उसे आवाजें दी पर उसके कान पर जूं तक नहीं रेंगी। वह बाद में आहिस्ता-आहिस्ता अपनी ही गति से आया। हिंदुस्तान लौटने के बाद उसका कवि का अभिनय समाप्त हो गया।

शिष्य—और सबसे बड़ा भाई कैसा था ?

श्रीअरविंद—वह जरा भी कवि या कल्पनाशील न था। वह मेरे पिता के जैसा था। वह बहुत व्यावहारिक था। उसके साथ चलना बहुत आसान था पर उसमें कंजूसी के दौर आया करते थे।

जब बारीन बड़ौदा आया तो उसका प्रश्न था कि मैं महीनों और वर्षों तक खासी राव या माधव राव के साथ बिना झगड़े कैसे रह सकता हूं ?

१२ जनवरी १९३९

एक लड़की के बारे में कुछ बहस हुई जो अभी अल्प-वयस्क थी। उसमें आश्रम में रहने की तीव्र अभीप्सा थी, यानी वह माताजी की सुरक्षा और पथ-प्रदर्शन में रहना चाहती थी; लेकिन चूंकि वह अपने मां-बाप की छत्र-छाया में थी इसलिये वह अपनी आंतरिक इच्छा पूरी न कर पायी। अंत में मां-बाप, विशेषकर मां ने उसे यहां से हटा लिया।

आगे की कुछ वार्ताओं में इसका उल्लेख है।

नवंबर १९९१

श्रीअरविंद—उस लड़की में अपनी उम्र से बहुत अधिक ज्यादा बुद्धि और चरित्र का विकास हुआ है। जब वह हमें पत्र लिखती थी तो उनमें दुनिया और मनुष्यों के बारे में ऐसे चिंतन होते थे जो प्रौढ़ स्त्रियों के भी परे होते थे। अपनी आयु के लिये वह विलक्षण है।

उसकी मां को उसे झुकाना बहुत कठिन लगता है। यह बात सच है कि उसकी मां को उसके लिये प्रेम नहीं है। उसका उस परिवार में जन्म लेना एक दुर्घटना ही है। वह अपने मां-बाप से एकदम भिन्न हैं। उसने पता लगा लिया है कि उसकी मां उसे झूठ बोल-बोल कर बहकाया करती थी।

शिष्य—कहते हैं कि लड़की वहां बहुत खुश है।

श्रीअरविंद—लेकिन उसने हमें लिखा है कि वह बाहर कभी खुश नहीं रहती।

शिष्य—अखबारों में लिखा है कि स्टालिन ने ट्रोट्स्की पर कुछ आरोप लगाये हैं। क्या उनमें कुछ सच हो सकता है ?

श्रीअरविंद—विश्वसनीय नहीं है।

शिष्य—लेकिन जनरलों की स्वीकारोक्तियां बड़ी नाटकीय थीं।

श्रीअरविंद—यह तो उन्होंने अपने रिश्तेदारों को बचाने के लिये किया।

शिष्य—एक जापानी जनरल जगत् को सभ्य बनाने के लिये सौ वर्ष के युद्ध की भविष्यवाणी करता है !

श्रीअरविंद—पहला विचार तो यह है कि यूरोपीय लोगों को एशिया से निकाल बाहर किया जाये, लेकिन जापानी उसे कोई शोर-शराबा किये बिना चुपके से करते रहेंगे।

शिष्य—क्या भारत की स्वाधीनता बहुत समय के बाद आयेगी ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है; वह शस्त्रों से नहीं, बिना शस्त्रों के आयेगी।

शिष्य—कैसे ?

श्रीअरविंद—संन्यासियों में एक भविष्यवाणी है और लेले ने भी हम से कहा था कि लड़ाई के द्वारा स्वाधीनता की कोई संभावना नहीं है।

शिष्य—इटली या जापान भारत की सहायता के लिये आ सकते हैं।

श्रीअरविंद—यह इतना सरल नहीं है। नौसेना का सामान काफी नहीं है;

मजबूत सेना के बिना भारत को जीतना बहुत कठिन है।

शिष्य—कांग्रेस के मंत्री संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत और बंबई में सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करने की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन पंजाब का सरसिकंदर हयात सैनिक और असैनिक जातियों के फर्क पर जोर दे रहा है।

श्रीअरविंद—यह भेद अंग्रेजों ने शुरू किया था ताकि भारत में पठान, गुरखा, पंजाबी को छोड़कर और सैनिक जातियां न रहें, लेकिन भूतकाल में भारत के हर हिस्से में अपना साम्राज्य था। थोड़े ही समय में सारे भारत में सैनिक प्रशिक्षण और सामान की व्यवस्था हो सकती है।

शिष्य—समस्या मुसलमानों की है।

श्रीअरविंद—वे भी स्वाधीनता चाहते हैं; पर वे चाहते हैं “मुस्लिम स्वाधीनता।”

शिष्य—यूरोप में स्पेन हिंदुस्तान जैसा मालूम होता है, लेकिन अगर फ्रांस को स्पेन मिल जाये तो इंग्लैंड के लिये मुश्किल होगी।

श्रीअरविंद—यह फ्रांस के लिये और भी बुरा होगा; वसंत ऋतु के आने तक धुरी राष्ट्रों के इरादे स्पष्ट हो जायेंगे।

शिष्य—लेकिन फ्रांस इंग्लैंड पर इतना अधिक निर्भर क्यों रहता है?

श्रीअरविंद—क्योंकि उसके और मित्र नहीं हैं।

शिष्य—मित्र-राष्ट्रों की अदूरदर्शिता ने हिटलर को अवसर दिया है।

श्रीअरविंद—नहीं, इंग्लैंड महाद्वीप में फ्रांस के आरोहण से डर गया और उसने जर्मनी को प्रोत्साहित किया और उसकी शक्ति बढ़ा दी। वह शक्ति का संतुलन बनाये रखना चाहता है, हिटलर का लक्ष्य है फ्रांस।

फ्रांस हमेशा इटली को खुश करना चाहता है; पर बीच में आ गया “दंड-विधान” लिये इंग्लैंड। वे अबीसीनिया को तो न बचा सके पर उन्होंने मुसोलिनी को शत्रु अवश्य बना लिया।

शिष्य—ट्यूनिंस की पुकार स्पेन से ध्यान खींचने के लिये थी।

श्रीअरविंद—मुझे नहीं लगता कि ब्लुम की सोशलिस्ट सरकार अहस्तक्षेप के पक्ष में है। जब फ्रांस के सोशलिस्टों के हाथ में शक्ति थी तो उन्होंने कुछ नहीं किया।

शिष्य—

श्रीअरविंद

है।

शिष्य—

रहा है।

श्रीअरविंद

गोपनीय सम

यह अंत में

हैं जो इस व

१३ जनवरी

माताजी

खटमल, म

माताजी

तो उन्हें योग

श्रीअरविंद

पाप क्या है

क्या यह तु

शिष्य—

श्रीअरविंद

शिष्य—

श्रीअरविंद

शिष्य—

मारते ही

माताजी

शिष्य—

नहीं होता

शिष्य—शायद रूस कुछ सहायता कर सके।

श्रीअरविंद—रूस बहुत दूर है और मुझे नहीं लगता कि वह विश्वसनीय है।

शिष्य—लेकिन अखबारों का कहना है कि अमरीका शस्त्रास्त्र तैयार कर रहा है।

श्रीअरविंद—हां, शायद रूजवेल्ट के पास नाजी इरादों के बारे में कुछ गोपनीय समाचार हैं। यह यूरोपीय राजनीति में गड़बड़ करने का प्रश्न नहीं है, यह अंत में निगले जाने का सवाल है ! (हंसी) अमरीका में शायद कुछ लोग हैं जो इस बात को समझ सकते हैं।

१३ जनवरी १९३९

माताजी उपस्थित थीं और 'क' ने उनसे यह प्रश्न पूछा, "माताजी क्या खटमल, मच्छर, बिच्छू आदि को मारना पाप है?"

माताजी ने मुस्कराते हुए कहा, "श्रीअरविंद से पूछो। जब मैं यहां आयी थी तो उन्हें योग-शक्ति से भगा देती थी पर श्रीअरविंद ने इसे पसंद नहीं किया।"

श्रीअरविंद—क्योंकि यह एक तरह से उनके साथ दोस्ती करना है। इसमें पाप क्या है? अगर तुम उन्हें न मारो तो वे जाकर किसी और को काटेंगे, तो क्या यह तुम्हारा पाप न होगा?

शिष्य—लेकिन उनमें जीवन होता है, भगवन् ?

श्रीअरविंद—हां, होता है।

शिष्य—अगर कोई उन्हें मारे तो ?

श्रीअरविंद—हां, तो क्या होता है ?

शिष्य—तो वह पाप का भागी होगा। मैं यह नहीं कहता कि हम बिल्कुल मारते ही नहीं; उदाहरण के लिये हम जीवाणुओं को सांस में लेते रहते हैं।

माताजी—डॉक्टर नहीं मारते ?

शिष्य—जी माताजी। पर मेरा मतलब यह है कि उनका मारना साभिप्राय नहीं होता।

दूसरा शिष्य—कहते हैं, जैन लोग खटमलों का पेट भरने के लिये आदमों किराये पर लेते हैं।

शिष्य—नहीं, यह केवल कहानी है।

श्रीअरविंद—बहरहाल मैं इतिहास की एक कहानी जानता हूँ। जब महर्षि गजनवी ने पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया तो उसने एक जैन राजा को उसके भाई की मदद से हरा दिया। हारा हुआ राजा अपने भाई की देखभाल में रखा गया, जो अब राजा था। उसकी समझ में न आया कि भाई को लेकर कर क्या; उसने अपने सिंहासन के नीचे एक गढ़ा खुदवाया और भाई को उसमें डालकर बंद करवा दिया और परिणामस्वरूप वह मर गया। लेकिन भाई ने तो उसकी हत्या नहीं की। (हंसी)

माताजी—तब तो सच्चा जैन होने के लिये तुम्हें योगी होना चाहिये। तब योग-शक्ति से तुम इन पशुओं और कीटाणुओं के साथ व्यवहार कर सकते हो।

शिष्य—क्या सांप, बिच्छुओं को मारना उचित है ?

श्रीअरविंद—क्यों नहीं ? तुम्हें आत्म-रक्षा के लिये मारना चाहिये। मैं यह नहीं कहता कि तुम्हें सांप, बिच्छुओं को ढूंढ़-ढूंढ़ कर मारना चाहिये, लेकिन जब तुम देखो कि वे तुम्हारे या अन्यो के जीवन को संकट में डाल रहे हैं तो तुम्हें उन्हें मारने का पूरा अधिकार है।

माताजी—वनस्पतियों में भी जीवन होता है। क्या तुम्हारे कहने का मतलब यह है कि मच्छर गुलाब की अपेक्षा ज्यादा मूल्यवान् है ? शायद तुम जानते नहीं कि पौधों को क्या अनुभव होता है।

शिष्य—कुछ लोग कहते हैं कि कुत्ते, बिल्ली को मारना इतना पाप से भरा काम नहीं है जितना आदमी को मारना।

श्रीअरविंद—जीवन जीवन है—चाहे वह कुत्ते, बिल्ली में हो या मनुष्य में। बिल्ली और मनुष्य में कोई भेद नहीं है। भेद का यह विचार शायद अपने लाभ के लिये स्वयं मनुष्य की कल्पना है।

नवंबर १९९१

१४ जनवरी १९३९

होम्योपैथी के बारे में बात चली। यह कहा गया कि होम्योपैथी में धार्मिक अवसाद और क्रोध का भी उपचार है।

शिष्य—वैज्ञानिक कहते हैं कि क्रोध ग्रंथियों की प्रतिक्रिया है। लेकिन क्या "अहंकार" का भी इस तरह उपचार किया जा सकता है ?

दूसरा शिष्य—अगर यह ठीक किया जा सके तो मैं सबसे पहले उसके लिये प्रार्थना-पत्र दूंगा।

शिष्य—यह तथ्य कि तुम "अहंकार" के बारे में सचेतन हो, यही आधा उपचार है। (श्रीअरविंद से) है न ऐसी बात ?

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है, लेकिन यह पहला कदम तो है ही।

शिष्य—और दूसरा क्या है ?

श्रीअरविंद—इन सब चीजों से अपने-आपको अलग कर लेना; मानों ये सब चीजें अन्य सत्ता या किसी और की हों। जैसे-जैसे तुम यह सब करते जाओगे वैसे-वैसे क्रमशः पुरुष प्रकृति से अपनी स्वीकृति वापिस लेता जायेगा और प्रकृति जड़-प्रकृति पर अपनी पकड़ खोती जायेगी और फिर आध्यात्मिक शासन उसका स्थान ले लेगा। लेकिन अगर तुम प्रकृति के साथ जुड़ते हो तो पुरुष प्रकृति का दास हो जाता है। निश्चय ही त्याग देना प्रभावशाली तरीका है। जब ये चीजें तुम्हारे अंदर घुसने लगें, इससे पहले ही तुम्हें उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिये, जैसा कि मैंने विचारों के साथ किया था। यह तरीका ज्यादा प्रभावशाली है और इसका परिणाम भी जल्दी आता है।

एक मानसिक नियंत्रण भी होता है; लेकिन वहां भी मन की प्रकृति प्राण की प्रकृति पर अधिकार करने की कोशिश करती है। उसका नियंत्रण अस्थायी और आंशिक होता है। बल्कि यूं कहें कि चीज को नीचे दबा दिया जाता है और वह किसी भी अवसर पर ऊपर आ सकती है।

मैंने एक योगी के बारे में सुना था, वह एक बार बनारस के घाट पर स्नान करने गया। पास के घाट पर एक कश्मीरी महिला नहाने आयी। जैसे ही उसने इस स्त्री को देखा, वह उसपर उछल पड़ा और उसपर बलात्कार करने की

कोशिश की। यह मानसिक नियंत्रण की बात है, लेकिन कभी-कभी साधना अथवा यौगिक प्रयास के द्वारा जो चीजें बहुत जमाने से नहीं थीं वे ऊपर उभर आती हैं। मैंने बहुतों से ऐसी बातें सुनी हैं।

अपने मामले में मैंने क्रोध को ऊपर उठते और अपने ऊपर कब्जा करते हुए देखा है। जब वह आया तो उसपर नियंत्रण करना असंभव था। अपने स्वभाव में उसे देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। क्रोध हमेशा मेरे लिये विजातीय रहा है।

एक और समय की बात है जब मैं अलीपुर में विचाराधीन बंदी था, एक महान् विपदा आते-आते रह गयी। अपनी कोठरियों में घुसने से पहले बंदियों को कुछ देर बाहर ठहरना पड़ता था। जब हम प्रतीक्षा कर रहे थे तो एक स्कॉच वार्डर आया और उसने मुझे धक्का दिया। मेरे चारों ओर के युवक बहुत उत्तेजित हो उठे, यूँ तो मैंने कुछ नहीं किया लेकिन उस पर एक ऐसा नजर डाली कि वह एकदम भागा-भागा गया और जेलर को बुला लाया। वह अभिव्यक्तिशील क्रोध था और युवक मेरे चारों ओर घिर आये मानों उसपर आक्रमण करेंगे। जब जेलर आया, जो धार्मिक वृत्ति का आदमी था, तो वार्डर ने उससे कहा कि मैंने उसे "अधीनस्थ दृष्टि" से देखा था। जेलर ने मुझसे पूछा तो मैंने कहा, मुझे कभी ऐसे व्यवहार का अनुभव न था। जेलर ने सभी को ठंडा करते हुए कहा, "हम सब को अपना-अपना सलीब ढोना पड़ता है।"

शिष्य—क्या रुद्रभाव रामकृष्ण की सांप की कहानी के जैसी चीज है जिसमें सचमुच क्रोध किये बिना क्रोध का दिखावा करना पड़ता है।

श्रीअरविंद—हर्गिज नहीं। वह सचमुच किसी बहुत ही गलत चीज के विरुद्ध उग्र कठोरता का भाव है, जैसे शिव का रुद्रभाव। क्रोध को तुम उसके संवेदनों के कारण जान सकते हो, वह नीचे से उठता है। जब कि रुद्रभाव हृदय से उठता है। मैं तुम्हें एक उदाहरण देता हूँ। एक बार 'क' माताजी के विरुद्ध बहुत ही उग्र हो गया और वह चिल्ला-चिल्ला कर धूसे दिखा रहा था। जैसे ही मैंने उसका चीखना-चिल्लाना सुना, एक उग्र कठोरता नीचे उतरी जिसे वश में करना एकदम असंभव था। मैं बाहर निकला और मैंने कहा, "माताजी

के आगे कौन
सुना कि वह

शिष्य—

श्रीअरविंद

के बारे में स

दौर आया व

वह अपने-

असफलता

नहीं आते।

था। वह मु

और विचार

स्वीकार कर

लेकिन वह

स्वीकार कर

है। तुम्हें उ

वह फिर-फ

शिष्य—

वह भी ब

श्रीअर

शायद व

शिष्य—

श्रीअर

था। (हं

शिष्य—

श्रीअर

से पूछा

सकेगा,

कर दे उ

नवंबर १९९१

के आगे कौन चीख रहा है ? कौन चिल्ला रहा है यहां ?" जैसे ही उसने यह सुना कि वह चुप हो गया।

शिष्य—मैंने सुना है कि उसका स्वभाव बहुत ही उग्र था।

श्रीअरविंद—हां, अन्यथा वह एक गंभीर साधक था; वह बहुत-सी चीजों के बारे में सचेतन हुआ और उसने प्रगति की। परंतु समय-समय पर उसे ये दौर आया करते थे और तब कोई आसुरिक शक्ति उसे पकड़ लेती थी और वह अपने-आपको वश में न रख पाता था। ये शक्तियां ही उसके योग में असफलता का कारण बनीं, क्योंकि मैंने सुना है कि अब बाहर उसपर ये दौर नहीं आते। इनकी पकड़ में रहकर वह यह न देख पाता था कि वह गलती पर था। वह मुझे और माताजी को दोष देता था, जब कि हम उसके प्रति बहुत उदार और विचारशील थे। कुछ समय बाद वह अपने दोष पहचानने लगा था, उन्हें स्वीकार करने और यह निश्चय करने लगा था कि वह आगे से ऐसा न करेगा। लेकिन वह फिर से इन शक्तियों में बह जाता था। कभी-कभी तुरंत अपना दोष स्वीकार करने के मार्ग में गर्व और आत्म-सम्मान आ जाते थे। यह एक बड़ी भूल है। तुम्हें अपनी भूल को उचित न ठहराना चाहिये। अगर तुम ऐसा करते हो तो वह फिर-फिर आती है और उससे पिंड छुड़ाना कठिन हो जाता है।

शिष्य—'ख' इनकी तपस्या करने के बाद आश्रम छोड़ने की सोच रहा है, और वह भी बारह वर्ष यहां रहने के बाद।

श्रीअरविंद—कौन-सी तपस्या ? अगर उसे पूरा अधिकार दे दिया जाता तो शायद वह टिक जाता।

शिष्य—वह कहता है कि वह माताजी की सहायता करता है।

श्रीअरविंद—केवल सहायता ? मेरा ख्याल था कि वही आश्रम चला रहा था। (हंसी)

शिष्य—क्या इस तरह के लोग कभी भगवान् को पा सकेंगे ?

श्रीअरविंद—हर एक भगवान् तक पहुंच सकेगा। 'क' ने एक बार माताजी से पूछा था कि क्या वह भगवान् को पा सकेगा। माताजी ने कहा कि वह पा सकेगा, बशर्ते कि वह कोई मूर्खता करके अपने जीवन को काटकर छोटा न कर दे और उसने वही कर डाला।

१५ जनवरी १९३९

श्रीअरविंद ने किसी अमरीकन के पत्र की बात छेड़कर बातचीत शुरू की।

श्रीअरविंद—एक काम है जिसे शायद 'क' करना चाहे। पत्र श्रीअरविंदाश्रम के नाम है। वह सोचता है कि यह कोई आदमी है। इस आदमी को खेल-कूद की चीजें और "भविष्यवाणियां" चाहियें। वह कहता है, "चूंकि तुम योगी हो इसलिये तुम समाधि में जा सकते हो और हम लाभ में साझेदारी कर सकते हैं। अपनी शर्तें लिख भेजो और अगर तुम धन न लेना चाहो तो तुम गरीबों में बांट सकते हो।" ('क' की ओर मुड़कर) तुम समाधि में जा सकते हो और 'ख' को भी उसमें भेज सकते हो; पर मैं ज्यादा कटोर हूँ।

मुझे लाभ में हिस्सा लेने में कोई आपत्ति नहीं है, हम केवल लाभ में हिस्सा बांटाएंगे, हानि में नहीं! और फिर हम अपने-आपको गरीबों में गिनते हैं, इसलिये हमें उन्हें खोजना न पड़ेगा।

सब तरह के अधपगले हमें जगह-जगह से पत्र लिख रहे हैं; जर्मनी से, अमरीका से। मुझे आश्चर्य है, उन्हें हमारा पता कैसे मिल जाता है।

शिष्य—यह उस पत्रिका में से होगा जिसमें 'अ' ने अपना आश्रम का पता दिया था। उसी आधार पर इस आदमी ने समझ लिया कि अरविंदाश्रम कोई आदमी है। तब तो 'अ' को ही यह मामला अपने हाथ में ले लेना चाहिये और इस चिट्ठी का उत्तर देना चाहिये।

दूसरा शिष्य—मुझे भय है कि आधे साझे के आश्वासन के बावजूद हमें कुछ मिलेगा नहीं। गुजरात में नृसिंहाचार्य के शिष्यों का एक छोटा-सा दल था और शायद अब भी है जिसे अमरीका में थोड़ी-सी रकम लगाने पर बहुत लाभ पाने का आश्वासन दिया गया था। सभी शिष्य फंदे में आ गये और लाखों रुपये भेजे गये परंतु परिणाम कुछ भी नहीं।

तीसरा शिष्य—दूसरी ओर भारतीय संन्यासी अमरीका में अच्छा व्यापार कर रहे हैं। उनमें से एक ने आधुनिक योग बनाया है; उसने ध्यान पर भाषणों के सेट और ध्यान का पाठ्यक्रम तैयार करके योग और व्यापार को मिलाया है।

श्रीअरविंद

बहुत सफल

नीमहकीम व

शिष्य—

उत्तर-चढ़ाव

दूसरा शि

प्रभावित हु

तो वे भविष्य

श्रीअरवि

का नहीं बलि

रूप में उ

व्यवस्थापक

में कुछ प्रश

जैसे ही

जो मैंने सो

मन में स्प

लेकिन उस

शिष्य—

रहा है ?

श्रीअर

में रस है

लिखा था

उसे यह व

उस लेख

शिष्य

श्रीअर

नये विचा

जो हाल

नवंबर १९९१

श्रीअरविंद—‘र’ ‘म’ से कह रहा था कि अगर वह अमरीका जाये तो बहुत सफल होगा। मेरा ख्याल है ‘र’ की बात ठीक है। इनमें से कुछ लोग नीमहकीम का चरित्र रखते हैं।

शिष्य—लेकिन उसके प्रश्न को लें : क्या रूई के बाजार और शेयरों के उतार-चढ़ाव के बारे में भविष्यवाणी करना संभव है ?

दूसरा शिष्य—मैं एक ज्योतिषी को जानता था जिससे मेरा एक भाई बहुत प्रभावित हुआ; लेकिन जब उसने उन भविष्यवाणियों के अनुसार काम किया तो वे भविष्यवाणियां कभी सच नहीं निकलीं।

श्रीअरविंद—मुझे बड़ौदा में एक विलक्षण अनुभव हुआ, किसी ज्योतिषी का नहीं बल्कि एक ऐसे आदमी का जो विचार पढ़ना जानता था। ज्योतिषी के रूप में उसकी सारी भविष्यवाणियां गलत होती थीं। मेरे मकान का व्यवस्थापक, छोटालाल, मुझे उसके यहां ले गया और मुझसे कहा, अपने मन में कुछ प्रश्न तैयार कर रखो।

जैसे ही मैंने उसके कमरे में पांव रखा, उसने मुझे वे चारों प्रश्न बतला दिये जो मैंने सोच रखे थे और मजेदार बात तो यह है कि उनमें से तीन प्रश्न तो मेरे मन में स्पष्ट रूप से रूपायित थे, पर चौथा मेरे मन से गायब हो चुका था, लेकिन उसने उस चौथे प्रश्न को भी पकड़ लिया; यह बात अजीब थी।

शिष्य—क्या आपकी पुस्तकें छपाने के लिये अमरीका में कुछ किया जा रहा है ?

श्रीअरविंद—नहीं। और फिर मुझे पता नहीं कि अमरीकानों को गहरे प्रश्नों में रस है या नहीं। मैंने सुना है कि स्वामी निखिलानंद ने मेरे बारे में एक लेख लिखा था जो निष्ठा (मिस विल्सन) के मतानुसार गंभीर था, परंतु संपादक ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि इसमें अमरीकानों को रस न आयेगा और उन्हें उस लेख को बदलना पड़ा।

शिष्य—लेकिन अमरीकी हमेशा नये विचारों के प्रति खुले रहते हैं।

श्रीअरविंद—हां। अगर वे सनसनी और परिवर्तन के लिये मांग न करें तो नये विचारों के लिये खुला रहना बहुत लाभदायक हो सकता है। लेकिन अभी जो हाल है उसमें तो हम इतना ही कह सकते हैं कि यूरोप की अपेक्षा

अमरीका में ऐसे लोग ज्यादा हैं जिन्हें इन चीजों में रस है, लेकिन आजकल यूरोप में भी ऐसी चीजों में रस लेनेवालों की संख्या बढ़ रही है।

शिष्य—टॉमसन नामक आदमी, जो अपने-आपको ऑक्सफोर्ड का स्नातक बताता है, उसके साथ आश्रम के फाटक पर मेरी मजेदार झड़प हुई। वह बड़ा अजीब था।

श्रीअरविंद—शायद यह वही होगा जिसने अभी हाल में मुझे दर्शन के बारे में एक लंबा पत्र लिखा था। मुझे नहीं लगता कि वह जो लिख रहा था उसके बारे में वह स्वयं स्पष्ट था। हां, तो तुम्हारे साथ कैसी झड़प हुई?

शिष्य—मैं आश्रम के बाहर जा रहा था, तो द्वारपाल ने मुझसे कहा कि मैं इस नवागंतुक से निपटने में उसकी सहायता करूं। मैंने उससे कहा, “क्या मैं आपका नाम जान सकता हूँ?” उसने कहा, “नाम! मेरा कोई नाम नहीं है।” मैंने उससे कहा, “नाम की वास्तविकता या अवास्तविकता को एक ओर कर दो फिर भी इस अदार्शनिक जगत् में नाम जानना जरूरी है।” उसने कहा, “आप मुझे जो चाहे कह लें—मेरे लिये इसका महत्त्व कुछ भी नहीं है।” मैंने कहा, “मैं किस नाम से पुकारूं इसका महत्त्व कुछ नहीं है लेकिन दुर्भाग्यवश एक पुलिस-विभाग भी है जो नाम के साथ पासपोर्ट मांगता है और महत्त्व उसका है।”

श्रीअरविंद—तब उसने क्या कहा?

शिष्य—अंत में उसने कहा, “मेरा नाम टॉमसन है।” (हंसी)

दूसरा शिष्य—मुझे एक कठिन प्रश्न याद आता है: “क्या जान का बीमा करवाना योग के साथ मेल खाता है?”

श्रीअरविंद—ठाकुर दयानंद कहेंगे ‘नहीं’। वे हमेशा भगवान् पर आश्रित रहते थे और चीजें जुटाने पर विश्वास न करते थे। उनका कहना था कि अगर तुम्हें कुछ नहीं मिलता तो इसका मतलब है कि भगवान् तुम्हें भूखा रखना चाहते हैं। सारा दल मिलकर नाच-गान करता था, उनमें साधना की उत्तेजित अभिव्यक्ति होती थी, एक तरह का प्राणिक प्रदर्शन होता था।

उसके बाद उन्हें शिकायत होती थी कि उनके शिष्य उनकी प्राणिक शक्तियां खींच लेते थे।

उन्हें श्रद्धा थी कि उन्हें कुछ भी नहीं हो सकता; जब पुलिस उन्हें पकड़ने

आयी तो वे गयी। उन्होंने पकड़ने के मोहिन्द्र दे,

शिष्य— शक्तियों के श्रीअरवि

भागवत के शिष्य—

यह शिका श्रीअरवि

शक्तियों के था।

शिष्य— भी था अ

कहते हो

श्रीअरवि

के बिना

शिष्य— श्रीअरवि

और हल्

कि तीव्र

वह दाहि

थी; लेवि

वह हमे

शिष्य—

श्रीअरवि

नहीं होते

नवंबर १९११

आयी तो वे सब नाच-गा रहे थे। उन्हें इस उल्लास में देखकर पुलिस चली गयी। उन्होंने मान लिया कि वे अपराजेय थे। सरकार ने कुछ सैनिकों को उन्हें पकड़ने के लिये भेजा। तब उनकी श्रद्धा डिग गयी। उनका एक प्रसिद्ध शिष्य मोहिन्द्र दे, जो अपने ही उत्साह का बंदी था, वह भी अपनी श्रद्धा खो बैठा।

शिष्य—जब हम भगवान् के साथ संपर्क में हों तो अपने अंदर की प्राणिक शक्तियों को कैसे बाहर खींचा जा सकता है ?

श्रीअरविंद—जो शक्ति कार्य में सहारा देती है, प्राणिक शक्ति, वह भागवत चेतना से भिन्न है।

शिष्य—क्या आपको एक कुलकर्णी की याद है जो यहां आया था और यह शिकायत किया करता था कि उसकी प्राणिक शक्ति खींची जा रही है ?

श्रीअरविंद—हां, वह विघटन, अस्त-व्यस्तता, विपदा और मृत्यु की शक्तियों से घिरा रहता था और निश्चेतन भाव से वह इन्हें बाहर फेंकता रहता था।

शिष्य—उन दिनों हममें से किसी ने आपसे कहा था कि कुलकर्णी में बल भी था और तीव्रता भी। तब आपने बहुत बड़ी बात कही थी, “तुम्हें इसे बल कहते हो ? यह दुर्बलता की जंगली तीव्रता है, बल नहीं !”

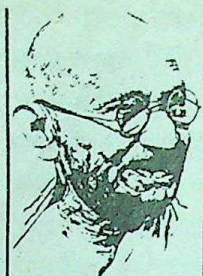
श्रीअरविंद—ठोसपन के साथ तीव्रता लाभ पहुंचाती है; पर नीचे से सहारे के बिना वह कुछ नहीं कर पाती। ‘ब’ ऐसा ही था और ‘ज’ भी।

शिष्य—लेकिन ‘ब’ ने विलक्षण कार्य किया।

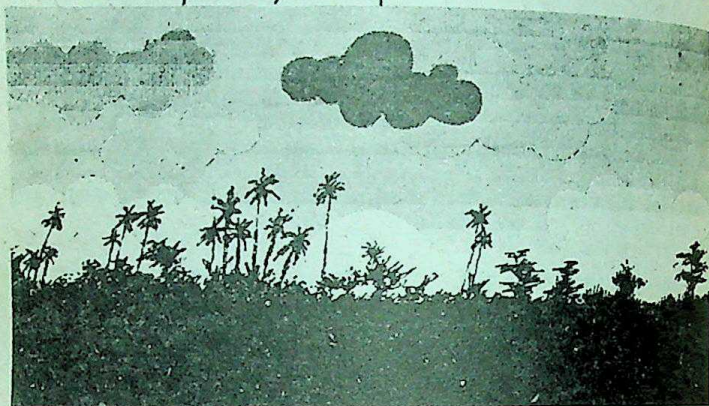
श्रीअरविंद—हां। उसने जो कुछ किया वह विलक्षण था, लेकिन दुर्बल और हल्का था, सहायता देने के लिये नीचे कुछ भी न था, कहा जा सकता है कि तीव्रता का कोई शरीर न था। वह गया तो अपनी महत्वाकांक्षा के कारण। वह दाहिना हाथ बनना चाहता था। माताजी ने उसके अंदर दिव्य सत्ता रखी थी; लेकिन जब उसने यह स्थान छोड़ दिया तो उस सत्ता ने उसे छोड़ दिया। वह हमेशा असफल होता रहा।

शिष्य—लेकिन पुराने जमाने में वह अच्छा सहायक था।

श्रीअरविंद—कुछ लोग अच्छे सहायक हो सकते हैं, पर अपने-आपमें कुछ नहीं होते। ‘ब’ वैसा ही था। मैं उसे सहारा देता था पर वह एक काम छोड़कर दूसरा



कल की दुनिया बापू की दृष्टि में



"कल की दुनिया अहिंसा पर आधारित होगी, होनी भी चाहिए। यह बुनियादी नियम है। बाकी सब कुछ अपने आप होता चला जायेगा।

व्यक्ति, समूह और राष्ट्र सब को अहिंसा और प्रेम का मार्ग ही अपनाना पड़ेगा।

यदि ऐसा हुआ तो आने वाले कल की दुनिया में न गरीबी होगी, न युद्ध होंगे, न उलट-फेर होंगे, न ही रक्तपात होगा।"

प्रगति के पथ पर — शांति के साथ

ले लेता थ
शिष्य-
श्रीअरा
(यानी मैंने
लेकिन
शिष्य-
में उपेन वै
हो?"

श्रीअरा

शिष्य

सकता है

और मैं उ

अन्य महा

बंद हो ज

श्रीअरा

भी थी औ

"आर्य"

संदेह पर

किसी लं

लगातार

करता था

होते थे,

अनुभव

शिष्य

श्रीअरा

था। मुझे

ऊंची राय

योग कर

ले लेता था। उसने अपना सारा जीवन अपने ही दोष से बरबाद कर लिया।

शिष्य—सुना है कि अब वह आश्रम के विरोध में बोलता है।

श्रीअरविंद—हमें पता है, उसने 'म' से कहा, जो यहां आ रहा था, "उन्होंने (यानी मैंने) तुम्हें अपने दर्शन से पकड़ लिया है।"

लेकिन माताजी किसी के कहे बिना ही इन बातों को जान लेती हैं।

शिष्य—हमारा मित्र 'ड', जिसके अंदर "शाश्वत अविश्वासी" रहता है, कलकत्ते में उपेन बैनर्जी से मिला और उनसे पूछा, "क्या तुम भगवान् पर विश्वास करते हो?"

श्रीअरविंद—तो उपेन ने क्या कहा?

शिष्य—उसने कहा, "जब मैं श्रीअरविंद को जानता हूँ तो भला यह कैसे हो सकता है कि मैं भगवान् को नहीं मानता?" मेरे पास मनुष्यों के लिये एक मापदंड है और मैं उन्हें ठीक-ठीक नाप सकता हूँ; लेकिन मैं श्रीअरविंद को नहीं नाप सकता। अन्य महापुरुषों के बारे में, वे एक बिंदु तक जा पहुंचते हैं और उनका वहां विकास बंद हो जाता है, लेकिन ये तो बराबर आगे-आगे ही बढ़ते चले जाते हैं।

श्रीअरविंद—(मुस्कराते हुए) ओह, उपेन में भी तीव्रता थी, उसमें नास्तिकता भी थी और श्रद्धा भी। इसी कारण उसके लेखों में जान होती थी। लेकिन वह कभी "आर्य" नहीं समझ सका। ऋषिकेश (कांजीलाल) भी ऐसा था जिसमें न तो श्रद्धा संदेह पर हावी हो सकती थी न संदेह श्रद्धा पर। (हंसी) वह हमेशा अपने-आपको किसी लंगर से बांधना चाहता था, —वह न तो खोज छोड़ सकता था और न लगातार लगा रह सकता था, और न किसी लंगर को ही पा सकता था। वह कहा करता था, "आंदोलन बढ़ेगा नहीं।" (कुछ देर के बाद) क्रांतिकारी मजेदार लोग होते थे, यद्यपि वे योग के लायक नहीं थे, फिर भी उनके संग में तुम्हें नीरसता का अनुभव न होता था।

शिष्य—'क' साधना के बारे में उत्साही था।

श्रीअरविंद—था तो, पर वह योग की कसौटियों के आगे खड़े होने में असमर्थ था। मुझे नहीं लगता कि उसमें योग करने की क्षमता थी; उसकी अपने बारे में बहुत ऊंची राय थी और वह है अनगढ़। रही बात 'ख' की, मुझे पता नहीं वह कैसे कभी योग कर पाता।

भगवान् का आनन्द गूढ़ और अद्भुत है; यह एक रहस्य की वस्तु है और एक ऐसा परमोल्लास है जिस पर समझदारी उपहास करने के लिये मूर्ख बनाया करती है, परन्तु जिस आत्मा ने उसे एक बार चख लिया है वह कभी उसका त्याग नहीं कर सकती, भले ही उसके कारण संसार में चाहे जितनी बदनामी, पीड़ा और परेशानी उठानी पड़े।

—श्रीअरविन्द

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर—२४७००१



अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

दिसंबर १९९१

विषय-सूची

संदेश	श्रीमां	१
'संपादकीय' : 'स्व' में स्थिर	अनुबेन	२
दैनन्दिनी		४
साप्थ्य-वार्ताएं (गतांक से आगे)		७
मानव स्वभाव	श्रीमातृवाणी	३७
कुछ प्रश्न	श्रीमातृवाणी	३८
सोसायटी समाचार		४०

अग्निशिखा वार्षिक १५.००

आजीवन ३००.००

श्रीअरविंद सोसायटी की मासिक पत्रिका

संपादक : रवींद्र, अनुबेन

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

अग्निशिखा और पुरोधा का चेहरा दिसंबर १९१९ में समाप्त
 है। उपमा अग्निशिखा के १५ और पुरोधा के १० शीर्ष
 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

मन, प्राण
 कि भगवा
 कर सकते
 सिवा कुछ
 आनंद हैं
 अतः
 समझना
 उनका म
 बल्कि उ
 यही
 और शि
 यह
 घमंड के
 दरवाजा



उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

संदेश

नम्रता

मन, प्राण और शरीर के लिये नम्र होने का अर्थ है, यह कभी न भूलना कि भगवान् के बिना वे कुछ नहीं जानते, वे कुछ नहीं हैं और कुछ नहीं कर सकते। भगवान् के बिना वे अज्ञान, अस्तव्यस्तता और क्लीवता के सिवा कुछ नहीं हैं। केवल भगवान् ही सत्य, जीवन, शक्ति, प्रेम और आनंद हैं।

अतः मन, प्राण और शरीर को हमेशा के लिये और पूरी तरह यह समझना और अनुभव करना चाहिये कि वे भगवान् को समझने और उनका मूल्यांकन करने में एकदम अक्षम हैं—केवल सारतत्त्व में ही नहीं बल्कि उनकी क्रिया और अभिव्यक्ति में भी।

यही एकमात्र सच्ची नम्रता है, इसके साथ ही आती है अचंचलता और शक्ति।

यह सभी विरोधी आक्रमणों के विरुद्ध निश्चित ढाल भी है। मनुष्यों में घमंड के दरवाजे पर ही हमेशा “विरोधी” खटखटाता है क्योंकि यही वह दरवाजा है जो खुलकर उसे अंदर आने देता है।

—माताजी

संपादकीय :

‘स्व’ में स्थिर

वर्तमान जगत् को देखकर ऐसा लगता है मानों सारे राष्ट्र एक भंवर में फँस गये हों। जहाँ कहीं दृष्टि पड़ती है केवल संघर्ष, मन-मुटाव और राष्ट्र को तोड़नेवाली शक्तियों का अदम्य साहस दिखायी देता है। इसे हम प्रगति कहेंगे या अवनति ? इस समय संसार में दो विपरीत गतियाँ पूरे वेग से चल रही हैं। अगर एक ओर बिखराव और संघर्ष है तो दूसरी ओर कई नयी दिशाओं में अप्रत्याशित उन्नति भी हो रही है। यह सब देखते हुए भी अपने राष्ट्र के लिये चिंतित होना स्वाभाविक है और भले लोग इस स्थिति को नये समुद्र-मंथन का नाम दे लें फिर भी एक चीज स्पष्ट है, इस समय तो केवल हलाहल ही निकल रहा है।

भारत की जिस दिशा में भी देखो आतंक, अत्याचार और बिखराव का ही बोलबाला है। क्या अपने राष्ट्र की ऐसी स्थिति देखने के लिये हमारे असंख्य देशप्रेमियों ने अपनी और अपने परिवार तथा उज्ज्वल भविष्य की बलि दी थी ?

कई नागरिकों को यह बात बेतुकी लगेगी कि इस मुसीबत की जड़ के लिये हम परिवार की ओर देखें। किसी भी सामान्य भारतीय परिवार को देखें तो हम पायेंगे कि भाई-भाई अपना अलग बसेरा बनाये बैठे हैं और उन्हें माँ-बाप कुछ-कुछ भार से लगते हैं। उन्हें अब अवांछनीय सामान की तरह कभी इस भाई के घर तो कभी उस भाई के घर भेजा जाता है। हमारे ऋषियों की उस विशाल उक्ति का क्या हुआ, “वसुधैव कुटुम्बकम् ?” वह विशाल हृदय कहां अदृश्य हो गया ? कुछ बरसों पहले तक एक वट वृक्ष की तरह सुदृढ़ बड़े-बूढ़ों की छाया में संयुक्त परिवार कल्लोल करता था। जब हम अपने रक्त के जायों, अपने परिवार के सदस्यों के साथ मिल-जुलकर नहीं रह पाते तो गुजरात, बंगाल, बिहार, पंजाब, तमिलनाडु जैसे अपने छोटे-बड़े भाई-बहनों के साथ कैसे मेल रख सकते हैं ? तो क्या हम में समझ की कमी है, प्रेम की

दिसंबर १९

कमी है ?

नामक आर

माला पहन

चाहता था

चिल्लाया,

अंगुलिमाल

खड़ा हूँ

बैठकर बो

उसी पर ख

तुम्हारा ‘स्व

सारा ध्यान

‘मैं भी तु

सारी शक्ति

दे।” इस

बुद्ध की

अंगुलिमाल

चाहिये जे

सके ? कि

इसमें चाण

है एक ऐ

भारत के

वाणी को

भारत औ

साहस के

दिसंबर १९९१

कमी है ? उत्तर में बुद्ध के जीवन की एक घटना याद आती है। अंगुलिमाल नामक आसुरिक चोर जो लोगों को लूटकर उनकी अंगुलियां काटकर उनकी माला पहना करता था, बुद्ध से आ भिड़ा। वह दौड़-दौड़कर उन्हें पकड़ना चाहता था किंतु पूरे प्रयास के बावजूद वह उन्हें नहीं पकड़ पाया; तब वह विल्लाया, “श्रवण रुक जा।” बुद्ध ने उत्तर दिया, “मैं तो खड़ा ही हूं।” अंगुलिमाल ने कहा, “श्रवण तुम चल रहे हो और फिर भी कहते हो, ‘मैं खड़ा हूं’ इसका मतलब क्या है ?” बुद्ध रुक गये और एक वृक्ष के पास बैठकर बोले, “आओ तुम्हें बताऊं—अंगुलिमाल, मैं अपने ‘स्व’ में स्थिर हूं, उसी पर खड़ा हूं और तुम विक्षुब्ध होकर मारे-मारे फिर रहे हो, तुम्हें पता नहीं तुम्हारा ‘स्व’ कहाँ है इसीलिये तुम मुझे पकड़ नहीं पाते।” अंगुलिमाल का सारा ध्यान अब बुद्ध की नयी बात सुनने में लग गया। नम्र होकर वह बोला, “मैं भी तुम्हारी तरह ‘स्व’ में स्थिर रहना चाहता हूं, मैंने देख लिया है कि मेरी सारी शक्ति तुम्हारे ‘स्व’ के आगे हार गयी, मुझे उसी ‘स्व’ से परिचित करा दो।” इसके बाद अंगुलिमाल का जीवन बदल गया। तो हमें इस समय एक बुद्ध की आवश्यकता है, ऐसे निस्पृह नेता की जिसकी अंतर्दृष्टि भारत के अंगुलिमाल को ठीक कर सके या फिर क्या हमें नये चाणक्य को बुलाना चाहिये जो साम, दाम, दंड, भेद द्वारा विरोधी तत्वों को अपने सामने ला सके ? किंतु इस समय जो हवा चल रही है वह एक नये जीवन की हवा है। इसमें चाणक्य के साम, दाम, दंड, भेद निरर्थक सिद्ध होंगे। हमें आवश्यकता है एक ऐसे ऋषि की जो “वसुधैव कुटुम्बकम्” सा विशाल हृदय रखकर भारत के भूले-भटके बच्चों को सच्ची राह पर ला सके और श्रीअरविंद की उस वाणी को चरितार्थ करे जिसमें उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि एक दिन भारत और पाकिस्तान एक हो जायेंगे और तब अखंड भारत अकल्पनीय साहस के साथ विस्मयकारी कार्य करेगा।

—अनुबेन

दैनन्दिनी

दिसंबर

१. माताजी हर एक को वैसा प्रेम देती हैं जिसकी उसे जरूरत है।
२. मैं हमेशा तुम्हारे हृदय में आसीन होती हूँ, सचेतन रूप से तुम्हारे अंदर जीती हूँ।
३. अपने हृदय को खोलो और तुम मुझे पहले से ही वहाँ उपस्थित पाओगे।
४. बेचैन न होओ, स्थिर रूप से अपने हृदय में एकाग्र रहो और तुम मुझे वहाँ पाओगे।
५. मंदिर के अंदर गहरे पैठ जाओ और तुम मुझे वहाँ पाओगे।
६. वे सभी आत्माएं जो अभीप्सा करती हैं हमेशा सीधी मेरी देख-रेख में रहती हैं।
७. माताजी हमेशा उन लोगों के साथ रहती हैं जो दिव्य जीवन के प्रति अभीप्सा में सच्चे होते हैं।
८. मैं हमेशा तुम्हारे अंदर उपस्थित होती हूँ, तुम्हारे निकट, और मैं आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ होते हैं।
९. विश्वास रखो कि मैं हमेशा तुम्हें रास्ता दिखाने के लिये, तुम्हारे काम और तुम्हारी साधना में सहायता करने के लिये तुम्हारे साथ होती हूँ।
१०. हमेशा मेरी स्थिर, प्रेममय उपस्थिति की अभिज्ञता बनाये रखो तो सब कुछ ठीक-ठीक होगा।
११. प्रतिदिन, प्रतिक्षण मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ होते हैं।
१२. मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारी चेतना को विस्तृत करने और शुद्ध करने के लिये तुम्हारे साथ होते हैं ताकि तुम्हारे अंदर हमेशा शांति विराजमान रहे।
१३. मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हें जगाने के लिये तुम्हारे साथ होते हैं, लेकिन तुम्हारे अंदर उनका उपयोग करने की इच्छा होनी चाहिये।
१४. आशीर्वाद भागवत कृपा की किसी व्यक्ति या समूह के प्रति अभिव्यक्ति होते हैं।

दिसंबर १९

१५. यह स
लिये
हों।
१६. मेरे उ
भगव
१७. इसलि
की ऐ
१८. और
है।
१९. अपने
सहाय
आज
पार
२०. मैं ह
हैं।
- ऊपर
२१. जगत
अनुभ
२२. जिस
उसी
२३. मेरा
लिये
२४. उनसे
ज्योति
और
२५. कृपा
सभी
में र

दिसंबर १९९१

५

१५. यह समझ लो कि आशीर्वाद अच्छे-से-अच्छे आध्यात्मिक परिणामों के लिये होते हैं, यह जरूरी नहीं है कि वे मनुष्य की इच्छाओं के अनुसार हों।
१६. मेरे आशीर्वाद बहुत भयंकर होते हैं, वे पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ भगवान् की इच्छा पूरी करने के लिये दिये जाते हैं।
१७. इसलिये यह जरूरी नहीं है कि हमेशा सफलता ही मिले, अगर भगवान् की ऐसी ही इच्छा हो तो असफलता भी मिल सकती है।
१८. और भागवत इच्छा हमेशा प्रगति यानी आंतरिक प्रगति के लिये ही होती है। अतः जो कुछ भी हो अच्छे-से-अच्छे के लिये ही होगा।
१९. अपने काम और अपनी प्रगति में तुम्हारी सहायता करने के लिये मेरी सहायता हमेशा तुम्हारे साथ रहती है।
आज तुम जिन कठिनाइयों को पार नहीं कर पाते उन्हें कल या बाद में पार कर लोगे।
२०. मैं हमेशा ऊपर की ओर देखती हूँ। वहां सुंदरता, शांति, प्रकाश उपस्थित हैं। वे नीचे उतरने के लिये तैयार हैं। अतः हमेशा अभीप्सा करो और ऊपर देखो ताकि उन्हें पृथ्वी पर अभिव्यक्त कर सको।
२१. जगत् की कुरूप चीजों की ओर नीचे न देखो। जब कभी तुम्हें दुःख का अनुभव हो तो मेरे साथ ऊपर की ओर नजर डालो।
२२. जिस मात्रा में मेरे लिये तुम्हारी आवश्यकता सच्ची और निष्कपट होगी उसी मात्रा में उसे पूरा किया जायेगा।
२३. मेरा प्रेम अपनी पूरी तीव्रता के साथ रहता है और इस प्रेम की तीव्रता के लिये मैंने अपने प्रभु से प्रार्थना की है और करती रही हूँ।
२४. उनसे प्रार्थना की है कि अपनी कृपा तुम्हारे ऊपर उंडेलते रहें, तुम्हें दिव्य ज्योति की ओर, तुम्हारे अंदर स्थित अंतरात्मा की ओर सचेतन बनायें और तुम्हें उनकी उपस्थिति की परम सिद्धि प्रदान करें।
२५. कृपा कर कि सब बादल छंट जायें, सभी आसक्तियां लुप्त हो जायें, सभी बाधाएं अदृश्य हो जायें ताकि तुम यहां, मेरे निकट, भगवान् के घर में रहने की शांति और आनंद का पूरा रस ले सको।

२६. मैं इतने मूर्त रूप में तुम्हारे साथ हूँ कि तुम्हें मेरी उपस्थिति का अनुभव प्रतिदिन निश्चय ही कर सकना चाहिये।
२७. आओ हम अपने-आपको पूरी तरह, सचाई के साथ भगवान् को दे सकें, तब हम उनकी सुरक्षा का पूरा रस ले सकेंगे।
२८. हमें उस दिन के लिये प्रार्थना करनी चाहिये जब सत्य का प्रकाश फिर से चेतना में प्रकट होगा। इस बीच मेरा प्रेम और मेरे आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ है।
२९. मैं सदा अपने प्रभु से प्रार्थना करती रहती हूँ कि वे तुम्हें तुम्हारे अंदर अपनी उपस्थिति के बारे में सचेतन बना दें और इस प्रकार मेरे साथ एक बना दें।
३०. एक बढ़ती हुई ज्योति और शांति हमेशा तुम्हारे साथ है।
३१. मैं अपने सभी बच्चों को समान रूप से याद रखती और उनसे प्यार करती हूँ और सभी सच्ची प्रार्थनाओं को हमेशा उत्तर मिलता है।

— — * * — —

सामान्यतः सभी अधिक अंतर्मुखी और सभी असामान्य मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों को चैत्य कहा जाता है। मैं चैत्य शब्द का प्रयोग अंतरात्मा के लिये करता हूँ जो मन और प्राण से भिन्न है। इस अर्थ में अंतरात्मा की समस्त गतियाँ और अनुभूतियाँ चैत्य कहलायेंगी, जो चैत्य सत्ता से उठती या प्रत्यक्ष रूप से उसका स्पर्श करती हैं; जहाँ मन और प्राण का राज्य है वहाँ अनुभूतियों को मनोवैज्ञानिक (सतही या गुह्य) कहा जा सकता है। “आध्यात्मिक” का अनिवार्य रूप से निरपेक्ष के साथ संबंध नहीं है। निस्संदेह निरपेक्ष की अनुभूति आध्यात्मिक है। दूसरी अनुभूतियाँ भी हैं जिनका इस तरह तोखा वर्गीकरण या एक को दूसरी के विरोध में नहीं खड़ा किया जा सकता।

— श्रीअरविंद

१६ जनवरी

एक तार द्वारा
मजाक होता
आशीष की

शिष्य —

श्रीअरवि

से-कम सि

शिष्य —

उसकी राख

दूसरा

ने संस्कृत

शिष्य —

कि भोला

जो मर चु

उपस्थित

पत्नी को

किया ? स

थी। क्या

क्या वह

बारे में ज

अन्य

मुड़कर)

श्रीअ

पामला

है, भौति

मूर्तीकरण

किसी सं

(गतांक से आगे)

१६ जनवरी १९३९

एक तार द्वारा 'ऐशेज' (राख) की मांग की गयी थी। थोड़ी देर इस पर मंजाक होता रहा फिर कुछ देर बाद ठीक समझ में आया कि राख नहीं आशीष की मांग की गयी है।

शिष्य—मेरी समझ में नहीं आता कि वह 'राख' किसलिये मांग रहा है।

श्रीअरविंद—मैं भी नहीं समझ पाया। जब मैं सिगार पीता था तो मैं कम-से-कम सिगार की राख भेज सकता था, लेकिन अब तो मैं सिगार नहीं पीता !

शिष्य—लेकिन हम यहां मच्छर भगाने के लिये धुंआ तो करते ही हैं, तो उसकी राख भेजी जा सकती है। (हंसी)

दूसरा शिष्य—मेरा ख्याल है कि वह आशीष मांग रहा है—डाक-तारवालों ने संस्कृत शब्द आशीष को अंग्रेजी ऐशेज बना दिया। (हंसी)

शिष्य—मैंने प्रो० सोमेश बसु का लेख पढ़ा, वे गणितज्ञ हैं, वे कहते हैं कि भोलागिरि नामक एक साधु अपनी पत्नी के साथ ध्यान किया करता था, जो मर चुकी थी। उसने देखा; उसकी मृत पत्नी रक्त-मांस के शरीर में उपस्थित थी। प्रश्न यह है कि क्या यह संभव है? क्या भोलानाथ ने अपनी पत्नी को भौतिक शरीर दिया था या उस स्त्री ने अपने-आप शरीर धारण किया? सोमेश कहता है कि वह हर रोज प्रार्थना के समय उपस्थित रहा करती थी। क्या वह सारे समय इस तरह भौतिकभावापन्न शरीर में रह सकती है? क्या वह सारे समय भोलागिरि के साथ रहती है या आती-जाती रहती है? इस बारे में जड़वादी क्या कहते हैं?

अन्य शिष्य—वे कहेंगे; यह सब बकवास है। (श्रीअरविंद की ओर मुड़कर) और योग क्या कहता है?

श्रीअरविंद—"बहुत-सी संभावनाएं हैं।" यह एक अस्थायी मूर्तीकरण का मामला मालूम होता है क्योंकि भोलागिरि हमेशा उपस्थित होता है। मेरा ख्याल है, भौतिक शरीर और मूर्तीकृत शरीर में हमेशा फर्क होता है। इस प्रकार का मूर्तीकरण प्रायः मृत्यु के तुरंत बाद हुआ करता है। तब तुम देखते हो कि वह किसी संबंधी या मित्र से मिलने के लिये आता है। अगर उसकी मृत्यु के तथ्य

का पता न हो या यह पता न हो कि वह बहुत दूर रहता है तो लोग उसे वास्तविक उपस्थिति मान लेते हैं।

इस प्रकार की कई प्रामाणिक घटनाएं हैं। मेरे कवि भाई मनमोहन के मित्र स्टीफन फिलिप्स ने कहा था कि उसकी मां मृत्यु के बाद कई बार उससे मिलने आयी थी। मनमोहन ने उसकी कहानी मुझे सुनायी थी और वह इस अनुभूति को दूर-संवेदी-संचार का रूप मानता था, लेकिन मुझे लगता है कि यह केवल रूप का संचार या मन द्वारा गढ़ी हुई चीज नहीं है। उसमें प्राणिक और भौतिक अंश भी होते हैं जो भौतिक रूप धारण करते हैं।

शिष्य—आपने पहले ही लार्ड स्ट्रेथमोर की बात कही थी। लेकिन क्या सचमुच पूरी तरह मूर्तीकरण संभव है ?

श्रीअरविंद—सिद्धांत रूप में संभव होना चाहिये; यद्यपि मैंने ऐसा कोई उदाहरण देखा नहीं है। लेकिन गेस्ट हाउस में पत्थरों की बौछार का हमें जो अनुभव हुआ था उसके बाद मुझे लगता है कि अगर पत्थरों को मूर्त रूप दिया जा सकता है तो मनुष्य को क्यों नहीं ?

शिष्य—मिस्र के लोग मनुष्य के मृत शरीर को इस विश्वास के साथ रखते थे कि कुछ वर्षों के बाद उसमें जान आ जायेगी। पॉल ब्रंटन का दावा है कि उसे पिरामिड के पास की पहाड़ी पर एक बहुत अधिक पुरानी आत्मा मिली थी।

श्रीअरविंद—मिस्रवालों का विश्वास था कि मृत्यु के समय आदमी की प्राणिक सत्ता “का” उसमें से बाहर निकल जाती थी और अगर शरीर को सुरक्षित रखा जाये तो हो सकता है कि हजार वर्षों के बाद वह वापिस आ जाये। ब्रंटन ने, मेरा ख्याल है, उस विश्वास को मूर्त रूप दिया।

शिष्य—क्या मृत व्यक्ति को फिर से जीवित किया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—मैं नहीं कह सकता।

शिष्य—ब्रंटन ने ‘बे’ नामक किसी को देखा था जिसने एक मरी हुई चिड़िया को जिंदा कर दिया था। ब्रंटन का कहना है कि उसने विशुद्धानंद को यही करते हुए देखा था, इन्हें ही “गंधी” स्वामी कहा जाता है। क्या यह संभव है ?

दिसंबर

श्रीअ

उसके अ
अंगों की
कें मरने
कला को

अस
और सच
है। दोन
यह कि

अभी ज
आना ज

शिष्य
श्रीअ

शरीर में

(अ

शिष्य

दूस

शिष्य

श्रीअ

अभी उ

शिष्य

श्रीअ

है जिस

इसलिये

शिष्य

श्री बा

दूस

श्रीअरविंद—हां, यह संभव है। जैसे तुम पानी में डूबे हुए आदमी को, उसके अंग-प्रत्यंग को फिर से जीवन में खींचकर, यानी भौतिक उपायों द्वारा अंगों की क्रिया को वापिस लाकर उसे जीवन दे सकते हो। अगर तुम शरीर के मरने या घायल होने के बाद भी शक्ति को दोबारा वापिस ला सकने की कला को जानो तो तुम मनुष्य को फिर से जीवित कर सकते हो।

असली प्रश्न यह है कि उसी आदमी की सत्ता वापिस आती है या कोई और सत्ता है जो जीना चाहती है और इसके लिये शरीर पर कब्जा कर लेती है। दोनों संभव हैं, क्योंकि दो तरह से पुनरुज्जीवित किया जाता है : एक तो यह कि ऐसी मृत सत्ता की आत्मा को फिर से वापिस बुला लिया जाये जो अभी ज्यादा दूर नहीं गयी है और दूसरा तरीका है किसी और सत्ता को ले आना जो उस शरीर में आने के लिये राजी हो।

शिष्य—क्या प्राणिक सत्ता को शरीर में वापिस बुलाया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—हां, अगर वह बहुत दूर नहीं निकल गयी हो तो उसे वापिस शरीर में खींचा जा सकता है।

(अब विषय बदल गया)

शिष्य—‘च’ के आने की संभावना है।

दूसरा शिष्य—वह तो लंबे समय से आ रहा है।

शिष्य—वह अपनी संपत्ति की व्यवस्था करके आ रहा है।

श्रीअरविंद—क्या वह अभी तक संपत्ति की व्यवस्था ही कर रहा है ? क्या अभी उसके पास बहुत-सी संपत्ति बची है ?

शिष्य—मुझे लगता है कि वह सब कुछ खो चुका है।

श्रीअरविंद—वह भी एक अजीब चीज है ! क्या तुम्हें उस आदमी का नाम याद है जिसने हमसे खुले आम क्षमा मांगी थी ? मुझे तो लगता है कि उसने क्षमा इसलिये मांगी थी क्योंकि वह खुले आम आक्षेप करने में सफल न हो सका।

शिष्य—ऐसा लगता है कि उसने तरह-तरह के लोगों से तरह-तरह की झूठी बातें इकट्ठी की थीं।

दूसरा शिष्य—क्या आपने उसकी किताब पढ़ी है ?

श्रीअरविंद—मैंने उसपर एक नजर डाली थी। मुझे नहीं लगता कि उसने आधे दर्जन से अधिक प्रतियां बेच ली हों। (कुछ देर के बाद) 'म' ने जो कुछ किया था उसके लिये उसने खेद प्रकट किया और कहा कि उसने 'स' और 'ब' के प्रभाव में आकर यह काम किया था।

शिष्य—'र' के आक्षेपों में कोई दोषारोपण नहीं था। उसकी शिकायत है कि आश्रम कोई सार्वजनिक कार्य नहीं कर रहा।

श्रीअरविंद—कैसा कार्य ?

शिष्य—देश का काम, मानवजाति के लिये काम।

श्रीअरविंद—यह एक नयी आपत्ति है। कोई भी आध्यात्मिक संस्था से ऐसे काम की आशा नहीं करता !

शिष्य—रामकृष्ण-मिशन, गांधी-आश्रम तथा कुछ अन्य संस्थाएं कुछ सार्वजनिक काम करती हैं इसलिये लोग आशा करते हैं कि आश्रम मानवजाति के लिये काम करेगा।

श्रीअरविंद—चूंकि मैंने कुछ समय राजनीतिक काम किया था इसलिये कुछ लोग यह आशा करते हैं कि मैं यही करता रहूंगा।

शिष्य—इतना ही नहीं; उन्हें आपत्ति यह है कि आप इतने सारे युवकों को कार्य-क्षेत्र से खींचते जा रहे हैं।

श्रीअरविंद—ओहो, अब बात समझ में आयी।

शिष्य—लेकिन गांधी-आश्रम कोई आध्यात्मिक संस्था नहीं है। वह एक ऐसी संस्था है जिसमें लोग महात्माजी के सिद्धांतों के अनुसार कुछ काम करने का प्रशिक्षण पाने के लिये आ जुटे हैं। हम कह सकते हैं कि सार्वजनिक सेवा भी उनके लक्ष्यों में से एक है।

लेकिन अभी हाल में सुभाष बोस ने आश्रम के विरोध में लिखा था और इसका कारण यह था कि आश्रम देश-सेवा के क्षेत्र से कुछ अच्छे-से-अच्छे लोगों को खींच रहा है।

अन्य शिष्य—लेकिन मुझे याद नहीं कि जो लोग यहां आते हैं उनके लिये उन्होंने 'अच्छे' या 'उत्तम' शब्द का उपयोग किया हो। उन्होंने उदाहरण के लिये 'द' का नाम दिया था।

श्रीअ
शिष्य
कर रहा
पढ़ने के
श्रीउ
शिष्य
भी दें,
नहीं रह
श्रीउ
कहानिय
शिष्य
श्रीउ
पूछा वि
लेते।
है—मैं
राजनीति
शिष्य
बोस उ
श्रीउ
लिख
शिष्य
अ
मैदान
है। उ
उन्हीम
श्री
के स
या ह

श्रीअरविंद—लेकिन 'द' तो कभी राजनीतिक काम नहीं करता था।

शिष्य—सुभाष बोस का विचार था कि अभी भले 'द' राजनीतिक कार्य न कर रहा हो लेकिन जब समय आयेगा तो उसे और सब छोड़कर संघर्ष में कूद पड़ने के लिये तैयार रहना चाहिये।

श्रीअरविंद—हां, तो तुम भगवान् के लिये सब कुछ नहीं छोड़ सकते !

शिष्य—लेकिन मान लें कि हम देश की स्वाधीनता के लिये सब कुछ छोड़ भी दें, लेकिन उसके बाद क्या किया जाये, शायद जेल जाने के बाद और कुछ नहीं रह जाता।

श्रीअरविंद—'द' और जेल में ! शायद वह अपने कष्टों के बारे में कुछ कहानियां लिख लेगा।

शिष्य—यह राजनीति के लिये तो नहीं, साहित्य के लिये लाभकर होता।

श्रीअरविंद—गांधी-आंदोलन के समय किसी ने अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से पूछा कि वे देश के हित के लिये चित्रकला छोड़कर राजनीति क्यों नहीं अपना लेते। उन्होंने कहा, "चित्रकला के द्वारा—जिसके लिये मेरे अंदर कुछ क्षमता है—मैं कुछ देश-सेवा कर सकता हूँ—परंतु राजनीति में तो मैं एक बेकार राजनीतिज्ञ होऊंगा।"

शिष्य—रवीन्द्रनाथ चरखे से बाल-बाल बच गये पर लगता है कि नंदलाल बोस उस ओर मुड़ रहे हैं।

श्रीअरविंद—वे तपस्वी स्वभाव के आदमी हैं। एक उत्साही ने तो यहांतक लिख दिया था कि गीता में कहे गये चक्र का मतलब चरखा ही है !

शिष्य—यह गांधीजी के शिष्य विनोबा की बात है।

अब विषय बड़ौदा की ओर मुड़ गया। डा० 'म' ने कहा कि घुड़दौड़ का मैदान अब सुंदर मकानों से भर गया है जिन्हें कोऑपरेटिव सोसायटी ने बनाया है। डा० बालाभाई लगभग ८५ वर्ष के हो चुके हैं और अभी तक जिंदा हैं, वे उन्हींमें से एक मकान में रह रहे हैं।

श्रीअरविंद—(कुछ देर चुप रहकर) बड़ौदा की बात मेरे मन में गायकवाड़ के साथ संबंध को ले आती है। अब मुझे याद नहीं कि उन्होंने हमें बुलाया था या हम अपने-आप गये थे। मजेदार बात यह है कि चीजें कैसे अपने-आप

व्यवस्थित हो जाती हैं। मैं आई० सी० एस० में अनुत्तीर्ण हो गया था और कुछ काम ढूंढ़ रहा था। एक वयस्क सज्जन, जिनसे हमने सलाह की थी, दो सौ रुपये महीने को अच्छा वेतन मानते थे। यह दस पाउंड के लगभग था। आश्चर्य है कि वे इसे अच्छा वेतन कैसे मान रहे थे !

लेकिन मैंने सारी बातचीत अपने बड़े भाई और जेम्स कॉटन पर छोड़ दी थी। उन दिनों मैं जीवन के बारे में कुछ भी नहीं जानता था।

शिष्य—उन दिनों खर्च कितना होता था ?

श्रीअरविंद—युद्ध से पहले पांच पाउंड में अच्छा जीवन बिताया जा सकता था। हमारी गृह-स्वामिनी फरिश्ता थी। वह समरसेट से आई थी और लंदन में बस गयी थी—शायद विधवा होने के बाद। वह बहुत सहनशील थी। अगर हम महीनों-पर-महीने किराया न देते तो भी वह तकाजा न करती थी, पता नहीं वह अपना काम कैसे चलाती होगी। मैं उसे अपनी आई० सी० एस० की छात्रवृत्ति में से किराया दिया करता था।

यह मेरे पिताजी की जिम्मेदारी थी कि मैं घुड़सवारी में अनुत्तीर्ण हो गया। वे नियमित रूप से पैसा न भेजते थे और केंब्रिज में घुड़सवारी की कक्षाएं काफी महंगी होती थीं। मेरा शिक्षक लापरवाह था; उसे अपना पैसा मिल जाता तो फिर वह मुझे घोड़ों के साथ छोड़ देता था और मुझे भी कोई विशेष परवाह न थी।

मैंने बाद में बड़ौदा में रहते हुए भी माधव राव के साथ घुड़सवारी सीखने की कोशिश की पर कोई सफलता न मिली।

मेरे पिता को मेरी असफलता से बहुत निराशा हुई क्योंकि उन्होंने सर हेनरी कॉटन द्वारा मेरे लिये पूरी व्यवस्था कर ली थी। उन्होंने मेरे लिये आरा में नौकरी भी ठीक करवा ली थी और यह बहुत अच्छा स्थान माना जाता था। लेकिन सारी चीज एक दीवार की तरह ढह गयी। (चुप्पी)

मैं सोचता हूं कि अगर मैं आई० सी० एस० में भरती हो गया होता तो मेरा क्या होता। शायद, मुझे आलसी कहकर और मेरे बचे हुए काम को देखकर वे मुझे निकाल देते ! (हंसी)

शिष्य—क्या आपको बड़ौदा के नाना साहब शिंदे की याद है ?

श्रीअरविंद—हां, माधव राव जाधव, मैं और नाना साहब शिन्दे, उन दिनों हम तीनों ही क्रांतिकारी विचारों के थे।

शिष्य—उन्होंने युवकों को भाषण देते हुए देश की रक्षा के लिये सैनिक-प्रशिक्षण पर जोर दिया। उनका भाषण प्रचलित अहिंसा के विरोध में था।

श्रीअरविंद—यह अच्छी बात है कि कोई इस तरह की आवाज उठाता है जब कि सब तरफ से यही प्रयास किये जा रहे हैं कि सभी समस्याओं का समाधान अहिंसा से किया जाये।

शिष्य—अहिंसा पर आग्रह सीमा-प्रांत के पठानों को निःशस्त्र करने में सफल हुआ है। कहते हैं कि जब गांधीजी सीमा-प्रांत गये थे, उन्होंने अपने ऊपर सशस्त्र चौकसी लगाने की मनाही कर दी थी।

श्रीअरविंद—और यदि उनपर कोई आक्रमण किया जाता तो उनसे क्या आशा की जाती? क्या वे चुपचाप खड़े रहते?

शिष्य—नहीं, प्रतिरोध करते हुए प्राण दे देते।

श्रीअरविंद—मैं इस अहिंसात्मक प्रतिरोध की थाह नहीं ले पाया। मैं अशुभ के प्रति पूरी तरह अप्रतिरोध की वृत्ति समझ सकता हूं, जैसे ईसाई कहते हैं, तुम प्रतिरोध किये बिना जान दे सकते और भगवान् के द्वारा भेजे गये परिणाम को स्वीकार कर सकते हो। लेकिन मुझे इस तरह का निष्क्रिय प्रतिरोध निरर्थक लगता है। इस तरह के निष्क्रिय प्रतिरोध से विरोधी के हृदय-परिवर्तन की बात मेरी समझ में नहीं आती।

शिष्य—और 'मॉडर्न रिव्यू' ने एक और आपत्ति की है जो विचारणीय है। उस लेख में यह स्वीकार किया गया है कि अहिंसा का सिद्धांत किसी महान् संत के लिये अच्छा हो सकता है परंतु किसी साधारण आदमी के लिये अशुभ को इतनी आसानी से विजय पा लेने देना समाज के लिये अच्छा न होगा। हमारे पास यह मानने का कोई कारण नहीं है कि अगर तुम गुंडे को अपनी हत्या कर लेने दो तो उसका हृदय या मन बदल जायेगा।

श्रीअरविंद—मुझे लगता है कि अहिंसा का पूरा उपयोग आध्यात्मिक जीवन में ही होना चाहिये जब कि उसे अन्य क्षेत्रों में अपनाया जा रहा है। अहिंसा एक आध्यात्मिक वृत्ति है और उसका अभ्यास पूरी तरह समझ में आता है और

उसका अपना स्थान है। तुम उसे पूरी तरह से स्वीकार न करो फिर भी 'सद्वस्तु' में उसका एक अपना स्थान है। तुम आध्यात्मिक जीवन में उसे जीवन में उतार सकते हो, लेकिन सारे जीवन उसको अपनाना ज्यादाती है। इस तरह का व्यवहार अधिकार के महान् सिद्धांत की उपेक्षा कर देता है, यूरोपीय लोग भी यही करते हैं। इसमें अलग-अलग स्थितियों में फर्क नहीं किया जाता था।

शिष्य—महात्माजी का कहना है कि दोनों स्थितियों में चाहे सशस्त्र हो या निःशस्त्र, तुम मरने के लिये तैयार हो। तब फिर बिना शस्त्रों के ही काम क्यों न किया जाये क्योंकि सभी देशों में हथियारों के ढेर लग रहे हैं और पता नहीं इनका अंत कहां आयेगा। दूसरी दशा में तुम निष्क्रिय प्रतिरोध को स्थायी बना देते हो जब कि युद्ध हत्या को स्थायी बनाते हैं।

श्रीअरविंद—अगर तुम अहिंसा के लिये व्यय का प्रश्न ले आओ तब हमें मानना पड़ेगा कि अहिंसा के कारण आर्थिक हैं, नैतिक नहीं। (कुछ रुक कर)

यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसका बड़े पैमाने पर हिंदुस्तानियों जैसी निःशस्त्र प्रजा के लिये सफल प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि उनके आगे और कोई विकल्प ही नहीं है। लेकिन अगर वह सफल हो भी जाये तो इसका यह मतलब नहीं है कि तुम शत्रु का हृदय-परिवर्तन करने में सफल हो गये हो, बल्कि यह कि तुमने उसके लिये शासन करना असंभव बना दिया है। आयरलैंड में यही हुआ था। आयरलैंड में सशस्त्र प्रतिरोध भी था लेकिन वह निष्क्रिय प्रतिरोध के पक्ष के बिना सफल न होता। "सभी के लिये निष्क्रिय प्रतिरोध", "सभी के लिये चरखा", "सभी के लिये ब्रह्मचर्य", ऐसे व्यापक सिद्धांत काम नहीं कर पाते।

१७ जनवरी १९३९

पागल हरनाथ और कुसुमदेवी के फोटो श्रीअरविंद को दिखलाये गये और मातुश्री—कुसुम हरनाथ—की यह घोषणा भी सुनायी गयी कि वे परम शक्ति हैं और हरनाथ उनका एक रूप है।

श्रीअरविंद—यह तांत्रिक सिद्धांत है।

शिष्य—परंतु हरनाथ तो वैष्णव थे।

श्रीअरविंद—हां। लेकिन कुसुम ने जिस सिद्धांत की घोषणा की है वह वैष्णव नहीं, तांत्रिक सिद्धांत है।

शिष्य—क्या यह सच है ?

श्रीअरविंद—सिद्धांत रूप में सच है; क्योंकि परम शक्ति दिव्य चेतना है और सभी देवता उसीसे आते हैं। वही शिव आदि देवों को प्रकट करती हैं। कहा जाता है कि स्वयं शिव भी तबतक कार्य नहीं कर सकते जबतक परम शक्ति उन्हें कार्य करने की शक्ति न प्रदान करे।

शिष्य—हरनाथ को अपने निर्णायक आध्यात्मिक अनुभव कश्मीर में हुए थे। कहते हैं कि गौरांग ने वहां जाकर उन्हें अपना “लक्ष्य” दिया था परंतु उनके बाद के शिष्य उन्हें गौरांग के बराबर मानते हैं।

दूसरा शिष्य—लेकिन इसमें कठिनाई क्या है ? अगर चेतना अंततः और तत्त्वतः दिव्य चेतना ही है तो गौरांग और हरनाथ चेतना में एक क्यों नहीं हो सकते ?

शिष्य—वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वे भी चैतन्य जैसे महान् थे।

श्रीअरविंद—ओह, तो दो अवतारों के बीच प्रतियोगिता है ? क्या हरनाथ ने अपने अवतार होने की घोषणा की थी ?

शिष्य—नहीं, परंतु वे अवतार की तरह व्यवहार करते थे। जो लोग उनसे मिलते थे उनका बहुत तेजी से मत-परिवर्तन हो जाया करता था।

श्रीअरविंद—मैंने देखा है कि वैष्णव भक्ति बहुत तेज और प्रबल प्रगति के लिये काम करती है।

शिष्य—गुजरात में साधुओं का एक संप्रदाय है जो निराकार निर्गुण भगवान् की पूजा करता है।

श्रीअरविंद—निर्गुण निराकार की पूजा ?

शिष्य—उनका कोई व्यक्तिगत भगवान् नहीं होता, लेकिन वे उसकी पूजा करते हैं जो हर जगह है, व्यक्तित्व के परे है। कबीर तथा कुछ अन्य संत ऐसा ही मानते थे। जब वे भगवान् का कोई विशेष नाम लेते हैं तो उनका अर्थ उस

नाम से बहुत अधिक से होता है। वे कहेंगे “राम” परंतु विश्वास करेंगे राम के अनेक रूपों पर।

एक राम दशरथ घर जाये; एक राम घट-घट में,
एक राम का सबमें पसारा, एक राम सबन तें न्यारा।

शिष्य—क्या यहां न्यारा का अर्थ परात्पर है ?

श्रीअरविंद—हां, परम पुरुष, निरपेक्ष।

शिष्य—दोहे में कहा गया है : एक राम दशरथ के वंश में जन्मा और इसलिये परिवर्तनशील है; अक्षर नहीं है। दूसरा राम प्रत्येक हृदय में उपस्थित है और एक राम सर्वव्यापी है इसलिये वैश्व है और एक राम इन सबसे परे है।

श्रीअरविंद—यह तो ऐसा ही लगता है जैसे गीता में कहा गया है, “वासुदेवमिदं सर्वम्”, यानी वह वासुदेव जो सबमें व्यापा हुआ है और परम पुरुष निरपेक्ष वासुदेव—दोनों एक ही हैं। मैंने तीव्र ज्ञान और तीव्र भक्ति के उदाहरण देखे हैं। निर्वैयक्तिक भगवान् के लिये भक्ति परिवर्तन के लिये इतनी अधिक सशक्त नहीं होती; वह ज्यादा वायवीय होती है और उसमें जब ज्ञान प्रवेश करता है वह भक्ति को कम तेज या कम तीव्र बना देता है।

शिष्य—हमने सुना है कि आपने अपनी साधना में श्रीकृष्ण से मार्गदर्शन पाया था, तो यह वृन्दावन के कृष्ण से था या कुरुक्षेत्र के कृष्ण से ?

श्रीअरविंद—मेरा ख्याल है कुरुक्षेत्र के कृष्ण से।

शिष्य—मेरा ख्याल है कि कृष्ण के विभिन्न व्यक्तित्वों में भी भेद वैष्णववाद के बाद में हुए विकास से आया है यानी एक वृन्दावन के कृष्ण थे और बाद में अन्य बहुत-से हुए।

श्रीअरविंद—लोग बाल-गोपाल को आनंदमय या आनंद चेतना मानते हैं; लेकिन वैष्णव धर्म के अन्य समुदाय भी हैं जो कृष्ण को विष्णु का अवतार मानते हैं।

शिष्य—मेरा ख्याल है कि कुरुक्षेत्र के कृष्ण ने गीता दी थी।

श्रीअरविंद—जिसने गीता का प्रवचन किया था वह विष्णु रूप था।

शिष्य—अर्जुन उनके तेज को न देख सका और उसे भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ी कि वे फिर से मानव-रूप धारण कर लें।

श्रीअरविंद—विष्णु पुराण में विष्णु के सभी रूपों का सुंदर वर्णन किया गया है। वही एक पुराण है जिसका मैंने विस्तार के साथ ध्यान से अध्ययन किया है। वह एक अद्भुत काव्य है, न जाने वह सामान्य दृष्टि से कैसे बच निकला।

उसमें एक विनोदमय प्रसंग है जिसमें एक शिष्य गुरु से पूछता है कि राजा हाथी पर बैठा है या हाथी राजा पर। (हंसी)

शिष्य—यदि हाथी राजा पर बैठ सकता है तो राजा को राममूर्ति होना चाहिये।

श्रीअरविंद—तब गुरु शिष्य के कंधों पर जा बैठता है और उससे पूछता है कि अब गुरु शिष्य के कंधों पर है या शिष्य गुरु के। (हंसी) उसके बाद जड़ भरत का बहुत अच्छा वर्णन है।

शिष्य—क्या यह सच है? क्या सचमुच जड़ भरत था?

श्रीअरविंद—पता नहीं, परंतु पुराण में जहां इसकी बात आती है वहां यह बहुत वास्तविक मालूम होता है।

साथ ही यह सबसे अधिक बुद्ध-विरोधी पुराण है।

शिष्य—तो शायद यह बाद में लिखा गया होगा।

दूसरा शिष्य—बुद्ध का जन्म ईसा से लगभग ५०० वर्ष पहले हुआ था।

श्रीअरविंद—नहीं, इतनी जल्दी नहीं। सभी पुराण बुद्ध के बाद के हैं। ये ब्राह्मणत्व के पुनरुज्जीवन का भाग हैं जो गुप्त-काल में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में आये थे।

शिष्य—सबसे अधिक पुराने पुराण भी ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी की रचनाएं माने जाते हैं।

श्रीअरविंद—अधिक संभव तो यही है। विष्णु पुराण में बुद्ध को विष्णु के उन अवतार के रूप में माना जाता है जो असुरों को भ्रम में डालने के लिये आये थे। वहां उनका नाम नहीं दिया गया है परंतु उन्हें “माया-मोह” कहा गया है। यह बुद्ध की ओर स्पष्ट इशारा है। वह बार-बार कहता है

“बुद्ध्यस्व । बुद्ध्यस्व ।” बड़ी ही सुंदर रचना है यह ।

शिष्य—कहा जाता है कि तंत्र वेदों से आये हैं ।

दूसरा शिष्य—वेदों में ऐसी कोई चीज नहीं है जो इसका प्रमाण दे सके, केवल एक सूक्त है जिसे वाक् कहते हैं, अंध्राणी एक वालखिल्य है । वहां अंध्राणी अपने-आपको देवों की स्रष्ट्री बताती हैं । तुम चाहो तो तंत्र के मूल रूप में अदिति या अनंत दिव्य चेतना को ले सकते हो ।

श्रीअरविंद—तंत्रों का मूल सिद्धांत वेद हो सकता है लेकिन ज्ञात तंत्र बहुत बाद के हैं ।

शिष्य—भारत में वेदों को सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है, इसलिये यहां हर चीज का मूल वेद में ही दिखाने की कोशिश की जाती है—केवल तंत्र ही नहीं, कला, नृत्य आदि का भी ।

श्रीअरविंद—प्राचीनता के लिये यह आवेश मेरी समझ में नहीं आता । इससे क्या फर्क पड़ता है कि कौन-सी चीज कब हुई थी : सत्य, सत्य है वह चाहे जहां भी पाया जाये ।

शिष्य—परंतु वेदों को शाश्वत माना जाता है ।

श्रीअरविंद—वेद शाश्वत हैं क्योंकि उनकी प्रेरणा का स्रोत शाश्वत है ।

शिष्य—किसी ने कहा है कि शाश्वत वेद हर एक के हृदय में है ।

दूसरा शिष्य—स्वयं श्रीअरविंद ने यह बात ‘योग-समन्वय’ में कही है । तुम उनकी बात को उन्हींके आगे उद्धृत कर रहे हो ! (हंसी)

श्रीअरविंद—उपनिषद् वेदों के बाद आये और उन्होंने वेदों के सत्य को ही जरा ज्यादा स्पष्ट भाषा में रखा है । वेदों की भाषा प्रतीकात्मक है ।

लेकिन उपनिषद् समान रूप से महान् हैं । स्वयं वेदों में भी ऐसे उद्धरण हैं जो स्पष्ट रूप से दिखाते हैं कि वेदों में वैदांतिक सत्य है । लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वेदों के पाठक इन उद्धरणों को लांघ जाते हैं । उदाहरण के लिये वेद का कहना है—“ऋतेन अमृत अपिहितम्” और फिर “वह वही एकमेव है” । यह हुआ मूल । यह स्पष्ट है कि यह एकमेव वैदांतिक सत्य की ओर संकेत है । इसी भांति उपनिषद् वैदिक प्रतीकों के बारे में बोलते हैं ।

ईशोपनिषद् सूर्य, अग्नि आदि वैदिक देवों के बारे में बोलता है, लेकिन तुम देख सकते हो कि इसका अर्थ प्रतीकात्मक है।

वेद, उपनिषद्, गीता सभी समान रूप से महान् हैं।

शिष्य—यूरोपीय लोगों ने सोचा कि यह मानना संभव नहीं है कि इतने प्राचीन काल में वैदिक ऋषि इतने आगे बढ़े हुए थे।

श्रीअरविंद—हां, वे ऐतिहासिक अर्थ पाकर इतने संतुष्ट हो गये कि उन्होंने सष्ट संकेतों को जानने की कोशिश तक नहीं की। लेकिन तुम्हें स्वीकार करना होगा कि वैदिक देवों को गैसों में बदल देनेवाले उनके भाष्य सचमुच अद्भुत रूप से विलक्षण थे।

शिष्य—क्या इस परम विलक्षणता को दिखानेवाला मैसूर का विद्वान् परमशिव एय्यर न था ?

श्रीअरविंद—शायद वही होगा।

शिष्य—वह वेदों के बारे में अपनी पुस्तक में प्रमाणित करना चाहता है कि वेद में हिम युग में पृथ्वी की क्या अवस्था थी और फिर वह भूगर्भ के विकास का वर्णन देने की कोशिश करता है। जब मैंने “परमे व्योमन्” की व्याख्या में, ‘गर्त’ और समुद्री लहरों का ‘शिखर’ अर्थ देखा तो मैंने उसे पढ़ना छोड़ दिया।

बहुत सारे विलक्षण भाष्यों और विलक्षण सिद्धांतों के बावजूद आज भी दीर्घतमस् की बहुत-सी ऋचाओं का अनुवाद नहीं हुआ है।

श्रीअरविंद—जबतक कि तुम्हें उसके प्रतीकवाद की चाबी न मिल जाये तबतक तुम न तो उन्हें समझ सकते हो न उनकी व्याख्या कर सकते हो।

१९ जनवरी १९३९

शिष्य—हक्सले मनुष्य की सभी समस्याओं को हल करने के दो उपाय बताता है, पहला उपाय है वर्तमान शिक्षा, उद्योग-धंधे आदि की संस्थाओं को बदलना बल्कि यूं कहें कि वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं को बदलना। इससे व्यक्ति के अंदर परिवर्तन आ जायेगा।

जहांतक उद्योग-धंधे का संबंध है वह सुझाव देता है कि एक केंद्रीय संस्थान के साथ जुड़े हुए अनेक छोटे-मोटे संस्थानों की रचना की जाये। इससे बड़े-बड़े संस्थान अपने-आप हट जायेंगे, वे ही सारी गड़बड़ की जड़ हैं। वह दूसरा उपाय यह सुझाता है कि व्यक्ति का परिवर्तन किया जाये और उसे "अनासक्त" बना दिया जाये ताकि वह बिना लगाव के अच्छे काम करे। मेरा ख्याल है कि एक फ्रेंच लेखक भी इस प्रकार की नयी औद्योगिक संस्थाएं खोलने की बात कहता है।

श्रीअरविंद—मैंने जब मोतीलाल से आध्यात्मिक समुदाय शुरू करने के लिये कहा था तो मेरा कुछ ऐसा ही विचार था। मैं उसे समुदाय न कहकर संघ कहता था—यह ऐसा समुदाय होता जो आध्यात्मिकता पर आधारित होता और अपना ही आर्थिक जीवन जीता, उसकी अपनी ही कृषि होती। देशभर में ऐसे संघों का जाल बिछा होता और उसकी इकाइयां अपनी बनायी हुई चीजों का आदान-प्रदान करतीं।

शिष्य—आपने ही उन्हें कागज बनाने का विचार दिया था।

श्रीअरविंद—अब मुझे याद नहीं है। लेकिन मैंने उन्हें करघे आदि शुरू करने की राय भी दी थी।

शिष्य—हम लोगों से अलग होकर उन्होंने गांधीजी की योजना अपनाने की कोशिश की; हम स्वदेशी पर जोर दिया करते थे; अब वे उसे खदर कहते हैं।

दूसरा शिष्य—वहां की आर्थिक स्थिति इतनी मजबूत नहीं मालूम होती जैसी दिखलायी जा रही है।

श्रीअरविंद—संभवतः। पता नहीं अब वे लोग क्या कर रहे हैं। मैंने सुना था कि खेती शुरू करने के लिये उन्होंने सुंदरबन में कुछ जमीन खरीदी थी। लेकिन लोगों में मलेरिया फैलने लगा, इसलिये यह योजना छोड़ देनी पड़ी।

शिष्य—यह कुछ दयालबाग जैसी चीज है क्या? मुझे पता नहीं वहां कैसी आध्यात्मिकता है। ऐसा लगता है मानों उनकी सारी शक्ति व्यापार और बाहर के कामों में ही जुटी रहती है।

श्रीअरविंद—शायद यह उनके बड़े पैमाने पर उत्पादन के कारण है। मैंने

सुना है
किया है

शिष्य
श्रीउ
नहीं हैं

शिष्य
आध्यात्मिक
लग स

श्रीउ
लिये प्र
सबको
हो। ले
संघ की

असफल
(व)

में ड्राव
अत्याच
सिद्धांत
और इ
कपड़ा

फि

स्मिथ
ब्रिघम

बात य
'ओल्ड
बिल्कु
मा

सुना है कि अनुकुल ठाकुर ने मेरे उसी विचार के अनुसार काम करना शुरू किया है।

शिष्य—क्या वे भी दयालबाग के नहीं हैं ?

श्रीअरविंद—नहीं। वे राधास्वामी मत के हो सकते हैं, वे दयालबाग के नहीं हैं।

शिष्य—लेकिन ऐसा आध्यात्मिक संघ शुरू करने के लिये व्यक्ति में आध्यात्मिक उपलब्धि होनी चाहिये। और इसे शुरू करने में काफी समय भी लग सकता है।

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। सामान्यतः यदि तुम्हें आध्यात्मिक सिद्धि के लिये प्रतीक्षा करनी हो तो उसमें समय लगता है। लेकिन जरूरी नहीं है कि सबको आध्यात्मिक या उच्चतम अतिमानसिक अनुभूति की उपलब्धि प्राप्त हो। लोगों के लिये आध्यात्मिक अनुभूति काफी है। मैंने 'म' से कहा था कि संघ की नींव आध्यात्मिकता होनी चाहिये अन्यथा तुम्हारी सफलता ही तुम्हारी असफलता होगी। लेकिन लगता है मेरी बात पर उसने कान नहीं दिया।

(कुछ देर रुककर) पहले भी इस तरह की कुछ धार्मिक जातियां थीं। रूस में ड्राकोबोर जाति बहुत सशक्त, संगठित और श्रद्धावान् थी। वे लोग अत्याचारों के बावजूद मिलकर रहे पर अंत में उन्हें कैनेडा जाना पड़ा। उनके सिद्धांतों में से एक था नग्नवाद जिसे कैनेडा की सरकार ने पसंद नहीं किया और इस कारण उन्हें तकलीफें उठानी पड़ीं (मुस्कान के साथ) वे कम-से-कम कपड़ा बुनने की समस्या से छुटकारा पा गये। (हंसी)

फिर अमरीका में मोरमोन प्रसिद्ध थे। उनके संस्थापक का नाम जोसेफ स्मिथ था। किसी संस्थापक के लिये यह बड़ा सूखा-सा नाम है। लेकिन ब्रिघम यंग एक विलक्षण आदमी था जिसने सचमुच एक संघ बनाया। मजेदार बात यह है कि उनके सिद्धांतों में एक था बहुविवाह। उनके धर्म की जड़ थी 'ओल्ड टेस्टामेंट'। जब उनसे उनका अपना धर्म छुड़वा दिया गया तो वे बिल्कुल साधारण आदमियों जैसे बन गये।

मार्क ट्वेन ने कहा था कि जब इनके मुखिया से उसके चेलों के सामने

पूछ-ताछ की गयी तो उसने कहा वह अपने बच्चों को उनकी संख्या से जानता है, नाम से नहीं—इतने नाम याद रखने में असुविधा होती है।

अमरीका में एक और जाति थी जो अपने सदस्यों को ब्याह करने की स्वीकृति न देती थी।

शिष्य—क्या आपको पता है कि भारत में भी ऐसी जातियां हैं या नहीं?

श्रीअरविंद—यहां सिर्फ सिख जाति ही धर्म पर आधारित है। ठाकुर दयानंद ने विवाहित संन्यासियों का संप्रदाय शुरू किया था या करने की कोशिश की थी।

शिष्य—मैंने सुना है कि अनुकुल ठाकुर ने भी अपने शिष्यों के लिये ऐसा ही कुछ शुरू किया था।

श्रीअरविंद—शिष्यों की बात अलग है, उन्हें विवाह करने की स्वीकृति मिल जाती है।

शिष्य—मेरा ख्याल है, उन्होंने संन्यासियों को शादी करने की स्वीकृति दी थी।

श्रीअरविंद—नित्यानंद संप्रदाय के वैष्णवों ने भी इसी सिद्धांत का अनुकरण किया था। वे वैष्णवी को स्वीकार करते हैं।

शिष्य—सामूहिक जीवन के लिये सब प्रकार के प्रयास किये जा चुके हैं और उन्हें देखकर वैसी ही निराशा होती है जैसी उस गंजे आदमी को हुई थी जो गंजेपन को दूर करने के लिये सब तरह के इलाज कर रहा था। जब उसने सप्तम एडवर्ड के चमकते हुए गंजे सिर का चित्र देखा तो बोला, “मैं कोशिश छोड़े देता हूँ।” (हंसी) क्या आपको अंदाज है कि अतिमानस कैसे बढ़ेगा?

श्रीअरविंद—कोई ख्याल नहीं। अगर तुम्हें कोई ख्याल हो तो परिणाम वही होगा जो भूतकाल में हुआ था। हमें उसे अतिमानस पर ही छोड़ देना चाहिये कि वही कार्यान्वित करे।

शिष्य—लेकिन इस तरह का काम प्रेम पर आश्रित होना चाहिये। हमारे अंदर सबके लिये प्रेम होना चाहिये।

श्रीअरविंद—प्रेम पर्याप्त नहीं है। प्रेम से बढ़कर किसी चीज की जरूरत है। प्रेम की अपेक्षा चेतना का ऐक्य ज्यादा जरूरी है।

शिष्य—लेकिन मुश्किल यह है कि जैसे ही हम कुछ करना शुरू करते हैं कि हम अहं-केंद्रित हो जाते हैं और लड़ाई-झगड़े होम्योपैथी इलाज के लक्षणों की तरह बढ़ने लगते हैं। (हंसी)

श्रीअरविंद—लेकिन प्रेम से भी लड़ाई-झगड़ा होता है। प्रेमियों से ज्यादा और कोई नहीं लड़ता (हंसी, 'क' की ओर देखते हुए) तुम्हें वह लातीनी कहावत मालूम है कि हर लड़ाई प्रेम का नवीनीकरण है। प्रेम एक सुंदर फूल है, लेकिन चेतना की एकता उसकी जड़ है।

मुश्किल यह है कि जो उच्चतर शक्ति से कुछ पाते हैं वे अहं-केंद्रित बन जाते हैं, फिर उसे प्राण में इकट्ठा कर लेते हैं और उसे अपने निम्नतर प्राण की ओर मोड़ देते हैं। वे उसे अपनी निजी शक्ति समझते हैं। जब 'क' चंदननगर से यहां आया था तो उसने कहा, "चंदननगर में हर एक एक भेड़ है जो गड़रियों के पीछे-पीछे भागती है, लेकिन यहां हर एक रॉयल बंगाल टाइगर है।" (हंसी)

शिष्य—किसी ने यह भी कहा है यह एक चिड़ियाघर है जहां हर एक अपनी मांद में गरजता हुआ सिंह है।

श्रीअरविंद—जब हम थोड़े-से लोग थे और आश्रम अभी बड़ा नहीं हुआ था तब 'ब' और 'स' सब तरह के लोगों को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ा करते थे। वे बहुत बड़े थे। एक बार 'ब' ने एक युवा तमिल को पकड़ लिया जो डरपोक-सा था। 'ब' उससे मिलता था। तीन चार महीनों के संपर्क के बाद पता लगा कि वह युवक बिल्कुल झगड़ालू, अभद्र, निष्क्रिय बन गया—उसमें बड़ा रूपांतर आ गया था। (हंसी) 'स' ने 'द' को सार्वजनिक नेता बना दिया। कम-से-कम उसने एक चीज तो कर ही दी कि उसने 'द' को धर्मभीरुता और नैतिकता से मुक्त कर दिया। वह कहा करता था, "मेरे लिये सही और गलत का मूल्य नहीं है, अच्छा और बुरा कुछ है ही नहीं।"

शिष्य—और अब 'द' उसके अनुसार जीने की कोशिश कर रहा है।

श्रीअरविंद—'द' डॉक्टर मोगनैक से कहा करता था, "मेरे लिये असफल होना असंभव है क्योंकि मैं एक देव पुरुष हूँ।" वह कई लोगों से कहा करता था कि वह किसी से नहीं डरता क्योंकि वह श्रीअरविंद का शिष्य है। वह

माताजी से शक्ति पाता था और सब इस बात से सहमत थे कि वह एक ऐसा आदमी था जो चाहने पर कुछ भी कर सकता था। श्रीमती 'र' लिखा करती थीं, " 'न' को पांडिचेरी में क्या हो गया है ? वह हमें लिखता है, 'यह करो, वह करो' और हमारे सभी कामों में दोष निकालता है।" जब वे जापान में थे तो वहां भी लड़ा करते थे। काम के बारे में उनकी अलग-अलग दृष्टियां थीं।

'ब' सीधा 'क' के द्वारा आया। 'क' एक और बड़ा प्रचारक था। वह जिसे चाहता पकड़ लेता था और उसे योग करने के लिये बाधित करता था—हां, वह होता था उसका अपना योग। वह यह भी मानता था कि 'अधिकार' के जैसी किसी चीज की जरूरत नहीं है।

शिष्य—हमारी महात्माजी के अनुयायियों के साथ बड़ी रसाकशी हुई। प्रश्न था आध्यात्मिक सिद्धि पाये हुए आदमी का नैतिकता और अनैतिकता के परे जाना और परिणामस्वरूप उसका आचरण। वे हमेशा यह मानते हैं कि नैतिकता से परे जाने का अर्थ है अनैतिकता में डूब जाना; और जो कुछ उनके व्यवहार-शास्त्र के साथ मेल न खाता हो वह अनैतिक है।

श्रीअरविंद—निश्चय ही, सब लोग नैतिकता के परे नहीं जा सकते। अतः उनका सिद्धांत अपने क्षेत्र के लिये सत्य है। यह एक मानसिक नियम है और जबतक तुम अपने अंदर क्रिया के दिव्य स्रोत के संपर्क में न आ जाओ तबतक तुम्हें किसी-न-किसी तरह के आचरण के नियम की जरूरत रहती है अन्यथा तुम्हें यह सिद्धांत अपनाना होता है कि पाप-पुण्य जैसी कोई चीज नहीं है, चलो मौज से पाप करें।

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "सर्वधर्मान् परित्यज्य"—यह उन्होंने गीता के शुरू में नहीं अंत में कहा है और फिर बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। वे आगे कहते हैं, "मामेकं शरणं ब्रज" लेकिन इससे पंहले कि तुम अपने अंदर क्रियाशील भगवान् का पथ-प्रदर्शन पा सको तुम्हारे पास कुछ ऐसे नियम होने चाहियें जो तुम्हें राह दिखा सकें। अधिकतर लोगों को सत्त्व के स्तर में से निकलना पड़ता है। ऐसे बहुत कम हैं जो इसके ऊपर से आरंभ कर सकें और जहांतक अधिकतर लोगों का संबंध है उनके लिये नैतिक नियम सच्चा है।

शिष्य—क्या हम कह सकते हैं कि चैत्य सत्ता हमेशा रूपांतर की चाह

करती है
जरूर
अंदर
सकती

श्रीउ
नहीं। उ
और त
सत्ता के
कि अंत

हुकुम न
के लिये

शि

श्री

पा लेते

होते, ह

शि

श्री

आध्या

कार्य व

में—उ

है।

शि

श्री

पुरुष

अपने-

"दार्श

जरूरी

ऋषि

करती है ? कुछ लोग हैं जो यह मानते हैं कि विकासशील चैत्य-सत्ता को जरूर रूपांतर की चाह होगी और होनी चाहिये। केवल आत्मा ही अनंत के अंदर लीन हो सकती है। क्या विकसित चैत्य सत्ता अनंत में लीन नहीं हो सकती ?

श्रीअरविंद—हां, हो सकती है, यह इस पर निर्भर है कि वह सामने है या नहीं। अगर वह आगे है तो जैसा मैंने कहा, वह प्रकृति का दायित्व ले लेती है और तब वह रूपांतर के लिये अभीप्सा करेगी। लेकिन विकसनशील चैत्य सत्ता कोई और आध्यात्मिक मार्ग भी अपना सकती है। यह इस पर निर्भर है कि अंतःस्थित भगवान् कौन-सी दिशा अपनाना चाहते हैं। हम अंतरात्मा को हुकुम नहीं दे सकते कि वह क्या चुने; सभी अपनी प्रकृति को रूपांतरित करने के लिये बाधित नहीं हैं।

शिष्य—किस प्रकार का रूपांतर होता है ?

श्रीअरविंद—पहला है चैत्य रूपांतर। बहुत-से योगी इस चैत्य रूपांतर को पा लेते हैं : यह शुद्ध भक्त-स्वभाव है। लेकिन सभी आध्यात्मिक संत नहीं होते, हां, दोनों चीजें कभी-कभी साथ-साथ चल सकती हैं।

शिष्य—क्या संतों और आध्यात्मिक लोगों में कोई अंतर है ?

श्रीअरविंद—निश्चय ही है। संत अपने चैत्य स्वभाव से सीमित होते हैं परंतु आध्यात्मिक पुरुष इस तरह सीमित नहीं होते। संत साधारणतः हृदय-चक्र से कार्य करते हैं और उसीमें निवास करते हैं। आध्यात्मिक मनुष्य उच्चतर केंद्र में—उदाहरण के लिये, सिर के ऊपर आध्यात्मिक चेतना में निवास कर सकता है।

शिष्य—मेरे लिये यह अंतर पूरी तरह स्पष्ट नहीं है।

श्रीअरविंद—संत लोग चैत्य सत्ता में निवास करते हैं, यानी, हृदय में स्थित पुरुष में रहते हैं जब कि आध्यात्मिक व्यक्ति सिर से ऊपर रह सकता है। मुझे अपने-आप यह कभी नहीं लगा कि मैं संत हूँ—पर मौरिस माग्र मुझे “दार्शनिक और संत” कहता है। कह सकते हैं कि कृष्ण संत नहीं थे। यह जरूरी नहीं है कि एक आध्यात्मिक पुरुष हमेशा संत जैसा व्यवहार करे, उसमें ऋषि दुर्वासा की तरह और भी बहुत-सी चीजें हो सकती हैं।

शिष्य—लेकिन संत मानवजाति के अधिक नजदीक होते हैं, वे ईश्वर-कोटि के लोगों जैसे नहीं होते जिन पर कोई कानून लागू नहीं होता।

दूसरा शिष्य—इस योग में हमें कुरुक्षेत्र में अर्जुन की तरह लड़ना होता है, क्योंकि यह संघर्ष और युद्ध का योग है।

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है। यह सत्ता की प्रकृति पर निर्भर है। उदाहरण के लिये कुछ लोग हैं जो जब विरोधी शक्तियों से मिलते हैं, चाहे प्राण में हो या स्वप्न में, तो लड़ने लगते हैं, जब कि अन्य ऐसे होते हैं जो सुरक्षा के लिये पुकार करते हैं। अगर तुम्हारे अंदर चैत्य वृत्ति हो तो लड़ने की जरूरत नहीं होती। लड़ना मानसिक और प्राणिक मन के लिये होता है। मानसिक लोगों के लिये लड़ाई विचारों के साथ होती है।

शिष्य—कुछ लोग भगवान् के साथ लड़ने को ही चैत्य-मार्ग मान लेते हैं।

श्रीअरविंद—अगर ऐसी बात है तब तो आश्रम में चैत्य व्यक्ति बहुत हैं।

शिष्य—मुझे 'क' के उस पत्र की याद है जिसमें रामप्रसाद के उस गान का उल्लेख है जिसमें वह यह दावा करता है कि मैंने सब कुछ भगवान् के लिये उत्सर्ग कर दिया है, भगवान् को मेरी मांगों को पूरा करना चाहिये।

दूसरा शिष्य—'दावा' लेकिन किस बात पर आधारित? यह तो ऐसी ही युक्ति मालूम होती है जैसे "तुम्हें यह चीज मुझे देनी चाहिये क्योंकि मुझे इसकी सख्त जरूरत है" लेकिन आपने उसको क्या जवाब दिया?

श्रीअरविंद—यह मांग मुझसे नहीं कृष्ण से की गयी थी।

शिष्य—तब तो मैं उससे कहूंगा कि वह आपको लिखे।

श्रीअरविंद—नहीं, नहीं, ऐसा न करना (हंसी) अन्यथा मुझे भी कृष्ण की तरह कठोर होना पड़ेगा।

शिष्य—लोग कहते हैं कि देवों में शिव सबसे उदार और कृपालु हैं।

श्रीअरविंद—मुझे पता नहीं कि वे राक्षसों के साथ भी बहुत उदार हैं। वे बहुत कष्टप्रद वरदान दे देते हैं और उनमें से निकल आने में बहुत कठिनाई का अनुभव करते हैं। वे ऐसे देव हैं जो परिणामों की परवाह नहीं करते। बाद में स्थिति को संभालने के लिये विष्णु या किसी और देवता को आना पड़ता है। लोग कहते हैं कि कृष्ण कठोर हृदय हैं।

(विषय बदलता है)

शिष्य—मुझे साधक 'क' की याद हो आयी जिसकी साधना अच्छी चल रही थी . . . जो अब बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हो गया है। पता नहीं वह किसी नारी की ओर आकर्षित हुआ था या नहीं, ऐसा कुछ संकेत तो था।

श्रीअरविंद—अगर यह बात सच्ची है तो दुःखद है। उसने 'ख' के नाम एक पत्र में लिखा था कि काम-वासना पर अधिकार करने के लिये यह जरूरी नहीं है कि आदमी हिजड़ा बन जाये। आदमी को अपनी उपलब्धि की रक्षा करनी चाहिये।

उपलब्धि बहुमूल्य वस्तु है और तुम्हें उसकी रक्षा करनी चाहिये और उसमें दुर्ग की तरह रहना चाहिये। तुम जितना भी ज्ञान चाहो या जितना भी पाओ उसे जुटाते जा सकते हो, परंतु सदा अपनी उपलब्धि की रक्षा करते हुए। उदाहरण के लिये ज्ञान पाने के लिये भक्ति को छोड़ना जरूरी नहीं है।

बहरहाल यह दुःखद बात है कि वह एक मामूली-सी नारी के लिये कृष्ण के प्रेम को छोड़ दे। मुझे उसके गीता के भाष्य को समझने में कठिनाई हुई। वह अधिक बौद्धिक है। उसमें प्राण और हृदय का अभाव है, अन्यथा पहले उसके लेख पढ़ने में हमेशा मजा आता था। ऐसा लगता है कि उसने मानसिक दृष्टि की तीव्रता खो दी है। उसमें जो देखनेवाला मन था वह चला गया है, मैंने समझा कि इसका कारण उसका ज्ञान की ओर मुड़ना होगा।

उसका बौद्ध धर्म की ओर आकर्षण समझ में आता है क्योंकि उसके यूरोपीय बुद्धिवादी मन को उस धर्म का तर्कणावाद आकर्षित करता है। बौद्ध धर्म द्वारा ही यूरोप भारत की ओर आकर्षित हुआ और उसे जान पाया। मादाम ब्लावात्स्की ने बौद्ध धर्म के आधार पर ही थियोसोफी की नींव रखी थी। उसके बाद यूरोपवालों ने शंकर को समझा और बहुत वर्षों तक यूरोप के लोग यही समझते रहे कि भारत में शंकर के अद्वैतवाद के सिवा कुछ है ही नहीं। लेकिन अगर 'क' काम-वासना की ओर गिरा है तो बौद्ध-धर्म की ओर उसका आकर्षण न्याय-संगत नहीं है। बौद्ध-धर्म सबसे अधिक कठोर मार्ग है, वह बहुत कठोर, शुष्क और कृपाहीन मार्ग है। वह तपस्या का रास्ता है।

शिष्य—शायद उसमें बहुत मानसिक घमंड था ।

श्रीअरविंद—और शायद अत्यधिक प्राणिक आत्मविश्वास भी ।

शिष्य—उसने 'ख' से कहा था, काम-वासना उसके लिये समस्या नहीं है ।

श्रीअरविंद—यह अत्यधिक आत्म-विश्वास है । शायद साधना करते हुए उसके प्राण में कुछ उद्घाटन हुआ होगा ।

शिष्य—परंतु उसे जैसी उपलब्धियां हुई हैं उनके बाद किसी साधक का इस तरह पतन हो सकता है ?

श्रीअरविंद—उपलब्धियों से तुम्हारा क्या मतलब है ? योग-भ्रष्ट होने की संभावना तो हमेशा रहती है ।

२० जनवरी १९३९

स्थानीय विषयों पर बातचीत के बाद

श्रीअरविंद—मैं 'ख' को लिखे गये 'क' के पत्र में उसकी सामान्य स्रष्टृ दृष्टि देखता हूं । वह 'ख' को सलाह देता है कि ऐसे व्यक्ति के साथ हाथ न मिलाये जिसने उसके गुरु को हानि पहुंचायी है; इस उचित निर्णय के साथ अपनी व्यक्तिगत हानि के भावों को न मिलाये । 'अ' के बारे में वह कहता है कि जब ऐसे लोग योग-मार्ग लेते हैं तो उनका योग और कुछ होने की जगह अधिक आलंकारिक होता है । "आलंकारिक योग" बड़ा अच्छा प्रयोग है ।

शिष्य—(बातचीत की दिशा बदलकर) ऐसा लगता है कि मसोलिनी और चैम्बरलेन की बातचीत से कुछ हुआ नहीं । दोनों दलों का कहना है कि वे परिणाम से संतुष्ट हैं ।

श्रीअरविंद—इंग्लैंड की नीति मेरी समझ में नहीं आती । पता नहीं वह चाहता क्या है । फ्रांस को इंग्लैंड रास्ता दिखा रहा है; वह उसकी दुम है । कहते हैं कि मसोलिनी फ्रांस-विजय की प्रतीक्षा में है, फिर वह अपनी शर्तें फ्रांस के सामने रखेगा । लेकिन इसमें यह पता नहीं चलता कि इससे इंग्लैंड को क्या

लाभ होगा क्योंकि जैसे ही इटली और जर्मनी फ्रांस को कुचल देंगे, इंग्लैंड उनका अगला शिकार होगा। इंग्लैंड को भली-भाँति मालूम है कि मसोलिनी की महत्वाकांक्षा इतालवी साम्राज्य बनाने की है। इसका मतलब यह है कि वह फिर से उस सबको हथियाना चाहेगा जो एक बार इटली का था। इंग्लैंड समझ-बूझ कर हिटलर और मसोलिनी को फ्रांस के विरुद्ध खड़ा कर रहा है और फिर उसे मंझधार में छोड़ देना चाहता है। पता नहीं ऐसा क्यों है। हो सकता है कि तीनों मिलकर फ्रांस के साम्राज्य को बांट लेना चाहते हैं और फिर इंग्लैंड हिटलर और मसोलिनी दोनों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करे। यह उसकी स्वार्थभरी परंपरागत नीति हो, पर यह है बहुत संकटपूर्ण खेल।

शिष्य—लेकिन क्या यह संभव है? जब फ्रांस अन्य शक्तियों से नाता तोड़ ले तो क्या इंग्लैंड अलग रह सकता है?

श्रीअरविंद—क्यों नहीं? चेम्बरलेन ने कहा है कि वह तबतक लड़ने के लिये बाधित न होगा जबतक स्वयं इंग्लैंड के हित उसमें न उलझे हों। इंग्लैंड कह देगा कि इटली की मांगें पूरी नहीं की गयीं इसलिये वह लड़ने के लिये बाधित है और जर्मनी ने उसका साथ दिया है। उसने कोई आक्रमण तो नहीं किया; इसलिये इंग्लैंड फ्रांस की सहायता करने के लिये बाधित नहीं है; बहुत सारे बहाने दिये जा सकते हैं। ब्लुम ने एक ऐसे मित्र से कहा जो दालादिये का भी मित्र है कि उसे चेकोस्लोवाकिया को दगा देना पड़ा क्योंकि चेम्बरलेन ने उससे कहा था कि जहाँतक हो सके वह राजनैतिक दृष्टि से उसकी सहायता करेगा, लेकिन अगर लड़ाई हुई तो फ्रांस को इंग्लैंड से आशा न रखनी चाहिये।

शिष्य—पता नहीं फ्लेंदिन फ्रांस की सहायता क्यों करना चाहता है जब ब्लुम उसके विरोध में है। क्या आपको मालूम है कि फ्लेंदिन ने मसोलिनी को बर्धाई का तार दिया था? हिटलर फ्लेंदिन को अपना मित्र मानता है, वह रोम-बर्लिन अक्ष में मिलना और इस तरह इंग्लैंड को बाहर रखना चाहता है!

श्रीअरविंद—इटली स्पेनिश मामला सुलझ जाने के बाद अपनी मांगें पेश करेगा। यह लगभग निश्चित ही है कि वह ट्यूनिस्, नाइस, जीबूती पर दावा करेगा। क्या फ्लेंदिन ये देने के लिये तैयार है? इटली अपना साम्राज्य

अफ्रीका में भी चाहता है। भूमध्यसागर पर अपना अधिकार करने के लिये ट्यूनीस और जीबूती उसके लिये जरूरी हैं। ब्लुम अक्षम है; उसीने स्पेन के बारे में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी थी।

अभी तो ऐसा लगता है कि दो व्यक्ति सबके विरुद्ध हथियार घुमाने में और बाकी सब अपनी खाल बचाने में लगे हैं। एकमात्र व्यक्ति जिसने सारी चीज को भली-भांति देख लिया है वह है रुज़वेल्ट, लेकिन वह बहुत दूर है और उसे अमरीकन जनता के सहयोग के बारे में विश्वास नहीं है।

शिष्य—और रूस ?

श्रीअरविंद—रूस अविश्वसनीय है। हमें पता नहीं कि उसकी सैनिक शक्ति कितनी है। एक समय उसकी हवाई सैनिक शक्ति सबसे बढ़कर थी। लेकिन हिडेनबर्ग के अनुसार अब बात ऐसी नहीं है।

शिष्य—जवाहरलाल का कहना है कि हिटलर और उसके जनरलों ने ऑस्ट्रिया में उस अप्रतिरोध की आशा न की थी जिसका उन्हें सामना करना पड़ा। वे बहुत आश्चर्य में पड़ गये थे।

श्रीअरविंद—हां, जनरल हिटलर के विरुद्ध थे क्योंकि वे लड़ने के लिये तैयार न थे। अब हिटलर कहेगा : “तुमने देख लिया न कि मेरी बात ठीक थी ? चीजों ने वही रूप लिया जैसा कि मैंने कहा था।”

शिष्य—जवाहरलाल का कहना है कि चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध आक्रमण की धमकी केवल बंदर-घुड़की थी।

श्रीअरविंद—यह कोई विश्वसनीय समाचार नहीं हो सकता। जर्मन ऐसी बातों के लिये बहुत अधिक अनुशासित होते हैं।

शिष्य—हॉलैंड में कुछ गड़बड़ है, और जर्मनी धमकी दे रहा है कि वह उसके साथ सारा व्यापार खतम कर देगा और एम्स्टरडम नहीं एंटवर्प से होकर व्यापार-मार्ग स्थापित करेगा।

श्रीअरविंद—अगर ऐसा हुआ तो अपने सभी वचनों के बावजूद चेम्बरलेन को लड़ना पड़ेगा,—इंग्लैंड नहीं चाहता कि उत्तरीय सागर में जर्मनी छा जाये। लेकिन जर्मनी जबतक इंग्लैंड के साथ लड़ना नहीं चाहता तबतक ऐसा न करेगा।

(वि

शिष्य

और उस

“मैं नहीं

“अच्छा

दो आगे

श्रीउ

दिलाता

अच्छी

हूगो के

(हंसी)

एक

थी—जि

“क्या

“सभी

बारे में

शिष्य

आया

दिशा में

और मैं

२१ ज

आ

डा

श्री

(विषय बदल गया)

शिष्य—जब 'क' यहां काम कर रहा था तो एक नया साधक उसे मिला और उससे पूछा, "यहां आगे बढ़े हुए साधक कौन हैं?" उसने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता"। लेकिन जब पूछनेवाले ने आग्रह किया तो उसने कहा, "अच्छा, मैं तुम्हें बताये देता हूं, पर तुम और किसीसे न कहना। यहां केवल दो आगे बढ़े हुए साधक हैं, एक मैं और एक तुम" (हंसी)।

श्रीअरविंद—'दो' का यह उदाहरण मुझे ह्यूगो के एक मजाक की याद दिलाता है। बालज़ाक ने किसी मित्र से कहा "केवल दो ही आदमी हैं जो अच्छी फ्रेंच जानते और लिखते हैं : एक मैं और दूसरा ह्यूगो।" जब यह बात ह्यूगो को सुनायी गयी तो उसने कहा, "हां, ठीक तो है पर बालज़ाक क्यों?" (हंसी)

एक ऐसी महिला की कहानी है जो स्वर्ग और नरक पर विश्वास करती थी—जिसके अनुसार लोग या तो स्वर्ग जायेंगे या नरक। किसी ने उससे पूछा, "क्या आप जानती हैं कि लोग मरकर कहां जायेंगे?" उसने उत्तर दिया, "सभी नरक जायेंगे, सिर्फ मुझे और पादरी को छोड़कर, परंतु मुझे पादरी के बारे में कुछ शक है।" (हंसी)

शिष्य—डा० 'र' की बात भी कुछ ऐसी ही है; जब वह पहले-पहल यहां आया तो मैंने उससे होम्यपैथी के बारे में पूछा था। उसने उत्तर दिया, "इस दिशा में चार आदमी मूर्धन्य हैं, अमुक कलकत्ते में है, अन्य दो भी वहीं हैं और मैं यहां चला आया।" (हंसी)

२१ जनवरी १९३९

आज डा० 'र' श्रीअरविंद को देखने आये।

डा० 'र'—क्या अभी तक आपके घुटने में दर्द होता है ?

श्रीअरविंद—हां।

डा० 'र'—क्योंकि आप बहुत दिनों बाद पांव हिला रहे हैं, आदत हो जाने पर यह भी ठीक हो जायेगा।

श्रीअरविंद—क्या दर्द की आदत ! (हंसी)

अब विश्व-युद्ध और कांग्रेस के बारे में बात चली। पट्टाभि सीतारामैया कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिये गये। सरदार पटेल राजकोट में बस जाना या पूर्व अफ्रीका चले जाना चाहते थे।

शिष्य—मेरा ख्याल है कि अगर पटेल पूर्व या दक्षिण अफ्रीका चले जायें तो वहां के भारतीयों पर गोली चलेगी।

श्रीअरविंद—पटेल के अफ्रीका जाने की जगह गांधी का हिटलर के पास जाना ज्यादा अच्छा होगा। हिटलर महात्मा से कहेगा, “गांधीजी, आप अपनी आंतरिक आवाज का अनुकरण कीजिये और मैं अपनी आंतरिक आवाज का।” यह कहने का कोई कारण नहीं कि उसकी बात गलत होगी, क्योंकि मेरी आंतरिक आवाज मेरे लिये अच्छी और आवश्यक हो सकती है, और किसी के लिये इससे उल्टी। इससे ठीक उल्टी ही किसी और के लिये अच्छी और आवश्यक हो सकती है। विश्वात्मा हिटलर के लिये एक चीज ठीक करती है और हो सकता है कि उसे उस मार्ग पर ले जाती है जिस पर वह चला जा रहा है, जब कि किसी और के लिये वह कोई और ही बात हो।

शिष्य—इसमें दोनों में टक्कर हो सकती है और यंत्र टूट सकते हैं।

दूसरा शिष्य—तो इससे क्या हुआ ? उससे भी कुछ अच्छा परिणाम आ सकता है।

शिष्य—यह चीज नियतिवाद की ओर ले जा सकती है।

श्रीअरविंद—हो सकता है। ऐसे लोग हुए हैं जिन्हें भाग्य या नियति, तुम उसे जो चाहो कह लो, पर विश्वास था। तृतीय नेपोलियन कहा करता था, “अगर मेरे द्वारा किसी चीज का किया जाना जरूरी है तो वह हर हालत में की जायेगी; जब वह आवश्यकता न रहेगी तो मुझे घिसे हुए बरतन की तरह रास्ते से हटाकर फेंक दिया जायेगा।” और उसके बारे में ठीक यही हुआ।

प्रथम नेपोलियन भी भाग्य पर विश्वास करता था।

शिष्य—किसी ने उससे पूछा कि जब तुम नियति पर विश्वास करते हो तो

योजनाएं क्यों बनाते हो तो उसने कहा, 'योजनाएं बनाना भी मेरी नियति है।' श्रीअरविंद—वे सभी लोग जो महान् या शक्तिशाली हुए हैं अपने से बड़ी शक्ति पर विश्वास करते थे जो उन्हें चलाती थी। सुकरात उसे डीमन—मनुष्य की दिव्य सत्ता—कहता था। यह अजीब बात है कि कई बार बहुत छोटे मामलों में भी लोग इस आवाज पर निर्भर रहते हैं। एक बार सुकरात अपने किसी शिष्य के साथ कहीं जा रहे थे। जब वे रास्ते के एक मोड़ पर आये, तो शिष्य ने कहा, "चलो इस मोड़ से चलें।" सुकरात ने कहा, "मेरी प्रेरक आत्मा दूसरा मोड़ लेने के लिये कहती है।" शिष्य सहमत न हुआ और अपने ही रास्ते चलता गया। थोड़ी दूर जाने के बाद उसपर सूअरों ने आक्रमण किया और उन्होंने उसे रास्ते पर पटक दिया।

कुछ लोग हैं जो आंतरिक आवाज नहीं, आंतरिक प्रकाश का अनुसरण करते हैं। क्वेकर्स इसपर विश्वास करते थे।

शिष्य—क्या वे प्रकाश देखते हैं ?

श्रीअरविंद—मुझे पता नहीं। लेकिन किसी ने कहा है, "ख्याल रखो कि तुम्हारा प्रकाश अंधकार न हो।" अजीब बात यह है कि यह आंतरिक आवाज कोई कारण नहीं देती; बस इतना ही कहती है, "ऐसा करो; अगर ऐसा न किया तो बुरे परिणाम आयेंगे।" और मजेदार बात यह है कि कभी-कभी तुम उसके अनुसार न चलो तो बुरे परिणाम आते भी हैं। लेले कहा करते थे कि जब कभी उन्होंने आंतरिक आवाज की बात नहीं मानी उन्हें दर्द और कष्ट हुआ।

शिष्य—लेकिन शक्तियों के अनुसार अलग-अलग स्तरों पर बहुत प्रकार की आवाजें होती हैं। मेरा ख्याल है कि सच्ची और झूठी आंतरिक आवाजों के बीच भेद करना बहुत कठिन है। आवाजें मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म भौतिक स्तरों से आ सकती हैं। एक ही व्यक्ति में अलग-अलग आवाजें हो सकती हैं।

श्रीअरविंद—बिल्कुल ठीक। हिटलर के मित्र ने कहा था कि हिटलर आज जो कहता है, कल उसका खंडन कर देता है। मैंने भी एक आवाज सुनी थी

जिसने मुझे पांडिचेरी आने के लिये कहा; लेकिन वास्तव में वह आंतरिक आवाज थी।

शिष्य—क्या इसमें भूल नहीं हो सकती ?

श्रीअरविंद—उस आवाज के बारे में भूल करना या उसकी अवज्ञा करना असंभव था। कुछ ऐसी आवाजें होती हैं जिनके बारे में भूल करना या संदेह करना असंभव होता है। चारुचंद्र राय चाहता था कि मैं फ्रांस चला जाऊँ ताकि आगे कोई तकलीफ न हो। जब मैं चंदननगर पहुंचा तो उसने मेरा स्वागत करने से इंकार कर दिया और मुझे मोतीलाल राय के यहां खिसका दिया।

शिष्य—लेकिन वह आपका स्वागत करता ही क्यों ?

श्रीअरविंद—क्योंकि क्रांतिकारी होने के नाते उसे यह करना चाहिये था।

शिष्य—क्या वह क्रांतिकारी था ?

श्रीअरविंद—हे भगवान्, हम जेल में एक साथ थे और शायद जेल की अनुभूति ने उसे डरा दिया। शुरू में तो वह उग्र क्रांतिकारी था।

शिष्य—नलिनी का कहना है कि वह जेल में रोया करता था। जेल-अधिकारियों ने सोचा कि वह क्रांतिकारी नहीं हो सकता, इसलिये उसे छोड़ दिया। (हंसी)

श्रीअरविंद—नहीं, यह कारण न था। मेरा ख्याल है कि फ्रेंच सरकार के हस्तक्षेप के कारण वह जेल से छूटा था। एक दिन बारीन उसके घर में जा पहुंचा, क्रांति के बारे में उसे एक लंबा भाषण दिया और वह एक दिन में क्रांतिकारी बन गया।

शिष्य—मैंने सुना है कि निवेदिता भी क्रांतिकारी थीं, क्या यह सच है ?

श्रीअरविंद—तुम्हारा मतलब क्या है ? वह तो क्रांतिकारी नेताओं में से एक थी। वह सारे भारत में लोगों के साथ नाता जोड़ने के लिये घूमती-फिरती थी। वह बहुत ज्यादा खुली हुई और स्पष्टवादी थी और अपनी क्रांतिकारी योजना के बारे में हरएक से बातचीत करती थी। जब वह क्रांति के बारे में बोलती थी तो मानों स्वयं उसकी आत्मा बोलती थी, उसका सच्चा व्यक्तित्व बाहर आ जाता था। योग तो था ही, पर ऐसा लगता था कि वह इसी काम के लिये आयी थी; तुम कह सकते हो कि उसमें यह आग थी। उसकी पुस्तक 'काली द

दिसंबर १९९१

तरिक

करना

संदेह

ताकि

स्वागत

था।

था।

ल की

जेल-

छोड़

कार के

में जा

दिन में

है ?

से एक

नी थी।

जना के

थी तो

जा जाता

आयी

नली द

मर' बहुत प्रेरणादायक है लेकिन वह क्रांतिकारी है, अहिंसक नहीं। वह राजस्थान के ठाकुरों में क्रांति का प्रचार करती हुई फिरी। उन दिनों हर एक किसी-न-किसी तरह की क्रांति चाहता था। मैं ऐसे बहुत-से ठाकुरों से मिला था जिनमें क्रांतिकारी विचार थे लेकिन जिन पर सरकार को संदेह न था। बाद में एक ठाकुर रामसिंह को हमारे आंदोलन में पकड़ लिया गया और उसे जेल दे दी गयी। वह कुछ समय के बाद वहीं मर गया। मोरोपंत का कहना है कि वह डर के मारे मर गया लेकिन वह डरनेवाला आदमी न था। शायद उसे जहर दे दिया गया हो। तुम जानते ही हो कि बाद में मोरोपंत नरमदल में चला गया। भारतीय सेना में कई लोग हमारी सहायता करने के लिये तैयार थे। मैं अलीपुर में एक पंजाबी संतरी को जानता था जो क्रांति की बातें मुझसे किया करता था।

एक बार निवेदिता गायकवाड़ से मिलने बड़ौदा आयी और उनसे कहा कि क्रांति में भाग लेना आपका कर्तव्य है। उन्होंने राजा से कहा, "अगर आप कुछ जानना चाहते हैं तो मिस्टर घोष से बातचीत कीजिये।" लेकिन गायकवाड़ ने कभी मेरे साथ राजनीति की बातचीत नहीं की। लेकिन निवेदिता को गोखले के लिये जो अहोभाव था उसे मैं कभी न समझ पाया। मुझे आश्चर्य होता था कि कोई क्रांतिकारी उनका प्रशंसक कैसे हो सकता है। जब एक बार उनकी जान खतरे में पड़ी थी, वह इतनी परेशान हो गयी कि मेरे पास आकर बोली, "मैं आशा करती हूँ इसे करने में आपका कोई आदमी नहीं है।" जब मैंने कहा कि 'नहीं' तो उसे बहुत राहत मिली और उसने कहा कि यह कोई स्वच्छंद व्यक्ति होगा।

पहली बार जब वह मुझसे मिलने आयी तो उसने मुझसे पूछा, "मिस्टर घोष, मैंने सुना है आप शक्ति के पुजारी हैं ?" उसमें अहिंसा का कोई तत्व न था। उसमें सौंदर्य की भावना भी थी। जब खासी राव और मैं बड़ौदा स्टेशन पर उसका स्वागत करने गये, स्टेशन के पास की धर्मशाला देखकर उसने कहा, "कितनी सुंदर है !" लेकिन कॉलेज की नयी इमारत देखकर कहा, "कैसी भद्दी है !" यह सुनकर खासी राव ने कहा, "कुछ-कुछ पागल लगती है।"

शिष्य—माना तो यह जाता है कि कॉलेज की इमारत ईटन की नकल में है।

श्रीअरविंद—लेकिन ईटन में कोई गुम्बद नहीं है।

शिष्य—यह प्राचीन और नवीन स्थापत्य का मेल है।

श्रीअरविंद—बहरहाल है एक भद्दा गुम्बद। रामकृष्ण मिशन निवेदिता की राजनीति से डरता था और उनसे कहा गया कि वह अपनी राजनीति को मिशन से दूर रखे।

शिष्य—और उसकी योग-साधना के बारे में ?

श्रीअरविंद—मुझे पता नहीं; हम जब कभी मिलते थे तो राजनीति और क्रांति की ही बातचीत होती थी। लेकिन उसकी आंखें एकाग्रता की शक्ति और समाधि में जाने की क्षमता दिखाती थीं। उसने अपने आध्यात्मिक जीवन में कुछ प्राप्ति अवश्य की थी।

शिष्य—वह भारत में योग करने ही आयी थी।

श्रीअरविंद—हां, लेकिन उसने राजनीति को विवेकानंद के कार्य का अंश मानकर उसमें भाग लिया। उसकी किताब विवेकानंद के बारे में लिखी गयी सबसे अच्छी किताबों में से एक है। स्वयं विवेकानंद में राजनीतिक विचार थे। उन्होंने एक बार एक अंतर्दर्शन देखा था जो माणिकतल्ला बगीचे के जैसा था। यह अजीब बात है कि उन दिनों बहुत-से संन्यासी भारत की स्वतंत्रता के बारे में सोचते थे। महर्षि के युवा शिष्य क्रांतिकारी थे। योगानंद के गुरु के भी कुछ ऐसे ही विचार थे, ठाकुर दयानंद भी ऐसे ही थे (एक शिष्य की ओर मुड़कर) क्या तुम मंडल नामक सज्जन को जानते हो ?

शिष्य—वह चश्मेवाला ?

श्रीअरविंद—हां, उसीने किसीके द्वारा गुप्त सभा से मेरा परिचय करवाया था जहां तिलक आदि के साथ मेरा परिचय हुआ था।

(क्रमशः)

मानव स्वभाव

१९ अप्रैल १९५१

“इस योग को केवल वे ही लोग अंत तक कर सकते हैं जो इसे करने के लिये संपूर्णतः उद्यत हैं तथा अपने-आपको भगवान् के अंदर ले जाने के लिये अपने तुच्छ मानवीय अहं और उसकी मांगों को निश्चिह्न करने के लिये तैयार हैं। यह हल्केपन या ढीलेपन के भाव के साथ नहीं किया जा सकता; यह कार्य अत्यंत ऊंचा और कठिन है। फिर निम्नतर प्रकृति की विरोधी शक्तियां बस जरा-सी अनुमति या छोटे-से-छोटे उद्घाटन का लाभ उठाने के लिये अत्यधिक तत्पर रहती हैं। इसके लिये अत्यंत सतत और तीव्र अभीप्सा तथा तपस्या की आवश्यकता है। यदि मानव-मन के विचार धृष्टतापूर्वक अपने-आपको प्रस्थापित करने की चेष्टा करें या सत्ता के निम्नतम भाग अपनी मांगों, सहजप्रवृत्तियों और स्वत्वों की स्वेच्छापूर्वक तुष्टि करना चाहें जिनका लोग मानव-स्वभाव के नाम से सामान्यतया समर्थन किया करते हैं तो फिर यह योग नहीं किया जा सकता।”

[श्रीअरविंद के पत्र, तृतीय भाग (शताब्दी संस्करण), पृष्ठ २५१]

प्रत्येक व्यक्ति इसे जानता है; जो लोग काम करने के अपने तरीके को या रहने के अपने ढंग को बदलना नहीं चाहते वे सर्वदा कहते हैं, “ओह ! तुम भला क्या आशा करते हो, यह मनुष्य-स्वभाव है।” यही चीज है जिसे “स्वेच्छापूर्वक तुष्टि करना” कहते हैं। अर्थात्, यह सचेतन होने के स्थान पर कि ये कमजोरियां और मार्ग की कठिनाइयां हैं, लोग इन चीजों का समर्थन करते हैं, कहते हैं, “ओह ! इसका कोई चारा नहीं, यह मानव-स्वभाव है।” मनुष्य जो कुछ कर रहा होता है, बस, उसे ही, बिना बदले, करते रहना चाहता है, वह अपने मांगों को स्वेच्छापूर्वक तुष्टि करने में तल्लीन रहता है। क्योंकि मनुष्य की निम्नतर प्रकृति वस्तुएं मांगती रहती है; वह कहती है, “ये आवश्यकताएं हैं, ये जरूरी चीजें हैं, इनके बिना मेरा काम नहीं चल सकता।” फिर, सहज-प्रवृत्तियां होती हैं—अपनी निजी संतुष्टि के लिये एक प्रकार की

सहज-प्रवृत्तियां होती हैं—और होते हैं झूठे दावे : निम्नतर सत्ता दावा करती है कि उसका अपना बहुत बड़ा महत्त्व है और जो कुछ उसके लिये आवश्यक है वह उसे अवश्य दिया जाना चाहिये, अन्यथा उसके लिये जीना संभव नहीं होगा; वह बलपूर्वक घोषणा करती है कि एकमात्र वही सबसे प्रमुख है आदि-आदि। यही सब चीजें हैं जो बाधाएं उत्पन्न करती हैं, ये ही सब अंध, अज्ञ गतियां, सत्ता के पुराने तरीकों का समर्थन : वे लोग जो क्रोध से आग-बबूला हो उठते हैं और कहते हैं, “तुम भला क्या आशा करते हो, इसका कोई उपाय नहीं,” और प्रत्येक चीज जिसे मनुष्य यह कहते हुए कहता है कि, “ओह ! यह मानव-स्वभाव है,” प्रत्येक चीज जिसका समर्थन मनुष्य यह कहते हुए करता है कि “क्या किया जा सकता है, लोग ऐसे ही हैं, इस विषय में कुछ भी नहीं किया जा सकता।” यह पुराना विचार है कि हम एक विशेष स्वभाव लेकर पैदा हुए हैं और हमें उसके साथ मेल बैठाना होगा, क्योंकि हम उसे बदल नहीं सकते।

अतएव श्रीअरविंद हमसे कहते हैं कि यदि हम स्वभाव को नहीं बदल सकते तो फिर योग करने का कष्ट उठाने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि योग यथार्थतः स्वभाव को बदलने के लिये ही किया जाता है, अन्यथा इसका कोई अर्थ नहीं।

—श्रीमातृवाणी खण्ड ४ से

कुछ प्रश्न

(तपस्या, अभीप्सा इत्यादि)

तपस्या का सच्चा अर्थ क्या है ?

तपस्या वह अनुशासन है जिसे मनुष्य भगवान् को खोज निकालने के लिये स्वयं अपने ऊपर लागू करता है।

क्या तपस्या और अभीप्सा एक ही चीज है ?

ना, तुम अभीप्सा के बिना तपस्या नहीं कर सकते। अभीप्सा है कोई वस्तु प्राप्त करने का सर्वप्रथम संकल्प। तपस्या है उसकी पद्धति—निश्चय ही उसकी एक प्रक्रिया, एक पद्धति है।

क्या अपने अंदर चलनेवाले कार्य के विषय में निम्नतर प्राण सज्जन नहीं होता ?

तब तो, यदि वह विचारशील और सदाशय हो, उसे भगवान् की उपस्थिति को स्वीकार करना चाहिये। समझते हो न, यह एक प्रकार का दुर्वृत है, यह नहीं चाहता कि भगवान् यहां हों और यह उन्हें अस्वीकार करता है, क्योंकि यह इस बात से बहुत परेशान रहता है कि यहां यह अनुशासन है जो इसे परिवर्तित होने के लिये, इसे संयमित करने के लिये, इसकी कामनाओं को रोकने के लिये, और निरंतर विरोध करने के बजाय इसे सिर झुकाने के लिये बाध्य करेगा, अतएव यह चिल्लाकर कहता है, “यहां कोई भगवान् नहीं हैं।” परंतु यह, साथ-ही-साथ भली प्रकार जान सकता है कि कार्य आरंभ हो गया है और, फलतः, इसे इस बात का सबूत मिल सकता है कि यहां भगवान् हैं। परंतु फिर भी यह उन्हें अस्वीकार करेगा, यह बदनीयत है, यह प्रयास करने से बचने के लिये जान-बूझकर इस तर्क का उपयोग करता है।

श्रीअरविंद “पुरानी आदतों” और “पुरानी रचनाओं” की चर्चा करते हैं, इन दोनों में क्या भेद है ?

ये दोनों लगभग एक ही चीज हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हारे शरीर में शीतलता, ऊष्णता, भूख के प्रति विशेष प्रतिक्रियाएं होती हैं, और तुम्हें इन प्रतिक्रियाओं की आदत पड़ गयी है, और इस आदत ने तुम्हारी भौतिक प्रकृति में एक प्रकार की रचना कर डाली है, अर्थात्, तुम्हारे शरीर में एक प्रकार की सिकुड़न, पक्की सिकुड़न बन गयी है और यह “इस तरह” की चीज है। रचनाएं आदतों का स्वभाव की “रचनाएं” भी हैं;

जैसे, यदि तुम्हें उस समय क्रोधित हो जाने का अभ्यास पड़ गया है जब चीजें तुम्हें पसंद नहीं आतीं, तो इस आदत के कारण तुम्हारी प्रकृति में एक प्रकार की आंतरिक शिकन बन जाती है, और हर बार जब कोई बात तुम्हें पसंद नहीं होती, अपने-आप, बिना किसी संयम के, तुम क्रोधित हो उठते हो। बस, यही चीज है जिसे 'रचना' कहा जाता है, ये वे अभ्यास हैं जो तुम्हारे स्वभाव के एक अंग के जैसे बन गये हैं।

—श्रीमातृवाणी खण्ड ४ से

सोसायटी समाचार

माउंटेन पैरेडाइस श्रीअरविंद आश्रम की हिमालय में एक वाटिका है। वहां का वातावरण अत्यंत सुरम्य और शांत है। इसमें सेव, आड़ू, अलूचा, नाशपाती, परसिमन, टमाटर आदि उत्तम फल पैदा होते हैं। यहांपर निःस्वार्थ सेवा करनेवाले की विशेष आवश्यकता है। जिन लोगों को इस प्रकार के काम में रस हो वे सुश्री तारा जौहर, श्रीअरविंदाश्रम दिल्ली शाखा, श्रीअरविंद मार्ग, नयी दिल्ली—११००१६ से पत्र-व्यवहार करें।

श्रीमती श्यामकुमारी की पुस्तक 'मोर विग्रेट्स' उन्हींके यहां से श्रीअरविंदाश्रम पांडिचेरी से प्राप्त हो सकती है। दाम है ४८ रुपये।

समाचार : पांडिचेरी विश्वविद्यालय ने श्रीअरविंद इंस्टीट्यूट ऑफ रिसर्च को पी. एच. डी. विद्यार्थियों द्वारा अमुक शर्तों पर शोधकार्य करने की स्वीकृति दी है।

इनकम टैक्स के डाइरेक्टर जनरल ने स्वीकृति दे दी है कि इस संस्था को दिये गये अनुदान पर आयकर से छूट मिल सकेगी।

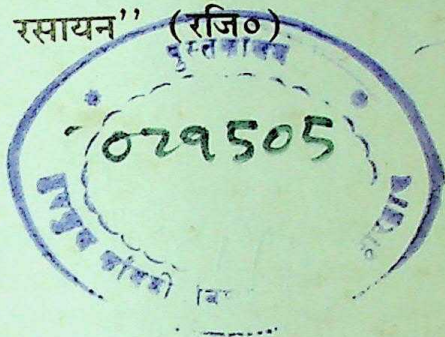
विशेष जानकारी के लिये कृपया मेम्बर-सेक्रेटरी, गवर्निंग काउंसिल, श्रीअरविंद इंस्टीट्यूट ऑफ रिसर्च इन सोशल साइंसेज, न० १ रंगापिलाइ स्ट्रीट, पांडिचेरी—६०५००१ को लिखें।

कर्णाटक में सोसायटी के दस नये केंद्र तथा संबलपुर (उड़ीसा) में एक नया केंद्र खला है।

क्या 'एक ही चीज' है?

मानसिक तनाव व शारीरिक शक्ति, स्फूर्ति के लिये
सारे परिवार की सुरक्षा का प्राकृतिक साधन

“योगी रसायन” (रजि०)



निर्माता

योगी फार्मैसी प्रा० लि०

लक्खर रोड, हरिद्वार—२४१४०४

(आयुर्वेदिक अनुसंधान एवं निर्माण में अग्रणीय)

भगवान् का आनन्द गूढ़ और अद्भुत है; यह एक रहस्य की वस्तु है और एक ऐसा परमोल्लास है जिस पर समझदारी उपहास करने के लिये मुंह बनाया करती है, परन्तु जिस आत्मा ने उसे एक बार चख लिया है वह कभी उसका त्याग नहीं कर सकती, भले ही उसके कारण संसार में चाहे जितनी बदनामी, पीड़ा और परेशानी उठानी पड़े।

—श्रीअरविन्द

079505

सहारनपुर सर्विस स्टेशन

पेट्रोल पम्प, देहरादून रोड

सहारनपुर—२४७००१

ndia

l. 8731

वस्तु है

लिये मुंह

वह कभी

ह जितना

अरविन्द



